

शब्द
संगत

कृष्ण बिहारी
अतिथि संपादक

इन्दु श्रीवास्तव
कार्यकारी संपादक

अनिल शाही
सहायक सम्पादक



सलाहकार संपादक

यह अंक
जयनारायण गुप्ता
अबूधाबी, यू.ए.ई.
के सौजन्य से

हरि भटनागर
दिनेश कुशवाह
स्वाति तिवारी

क्रम

संपादकीय/3

मैत्रेयी पुष्पा का लेख/8

राजेन्द्र राव

आत्म तर्पण

एक दिलजले का परलोक गमन/13

कहानियाँ

नौसिखिया/21

असत्य के प्रयोग

शिफ्ट

चलो, मैं आता हूँ

छोटा अफसर

कीर्तन

चोखेर बाली

रिपार्ताज

हाटे बाजारे/99

स्मृति

शरशय्या पर लेटे कवि से साक्षात्कार/113

धारा के विरुद्ध

विमोचन एक बला/117

काँधे पर सलीब

लेनिन विलास

दो मुल्लाओं में मुर्गी हराम

पुनर्मूल्यांकन

चंद्रकांता संतति: एक पुराना दीपस्तंभ/125

बातचीत

राजेन्द्र राव से अमरीक सिंह दीप और गोविन्द उपाध्याय/133



रचनाकार राजेन्द्र राव का क्रद

कुछ फ़ैसले अचानक हो जाते हैं। कुछ फ़ैसले अचानक उपजी स्थिति के बाद लेने पड़ते हैं। रचनाकार राजेन्द्र राव पर अंक निकालने का मेरा और हरि का यह फ़ैसला उसी की परिणति है। इस बार की हिन्दुस्तान-यात्रा में मैंने हरि से कहा कि मैं एक अंक राजेन्द्र राव पर निकालना चाहता हूँ। मैं नहीं जानता कि हरि और मेरे बीच यह कैसी ट्यूनिंग है कि जो मैं कहता हूँ वह तुरन्त मान जाता है और दूने उत्साह से मेरा उत्साह बढ़ाता है। हो सकता है कि इसके साथ यह भी हो कि हरि की हर योजना मुझे अपना भी एक अगला क्रदम लगती है। मैंने हरि को एक प्रसंग बताया कि किस तरह लखनऊ में अनायास और अप्रत्याशित ढंग से हुई संक्षिप्त मुलाक़ात में एक चर्चा के दौरान दो-तीन साहित्यकारों ने राजेन्द्र राव के बारे में बड़ी सहजता से कह दिया कि वे मुख्यधारा के लेखक नहीं हैं तो मुझे स्तब्ध हो जाना पड़ा। इस अंक को निकालने और सम्पादकीय को लिखने का प्रसंग यही है... बिना प्रसंग के रचना नहीं होती और झूठ बोलना या लिखना मेरा स्वभाव नहीं है... जिन्होंने राजेन्द्र राव को मुख्यधारा का लेखक नहीं माना, वे सभी मेरे परिचित हैं। मित्र हैं ऐसा नहीं कह सकता। हो सकता है कि उन्होंने सहजता में

कहा हो और उनके कहने में कोई दुर्भावना भी न हो। मैं राजेन्द्र राव का प्रवक्ता भी नहीं हूँ अगर होता तो मैंने तुरन्त जवाब दिया होता। मुझे सोचना पड़ा कि साहित्य की मुख्यधारा कौन-सी है? मैं यह भी सोचने पर विवश हुआ कि साहित्यकारों की यह कौन-सी जमात है जो अपने अलावा किसी अन्य को मुख्यधारा का रचनाकार मानने को तैयार नहीं या शायद गोलबंद होकर उनमें अपनी टीम के अलावा किसी अन्य साहित्यकार को देखने और सहने की भी शक्ति नहीं है। इस मामले पर हरि का कहना था कि ऐसा कुछ समय से अभियान के रूप में शुरू हुआ है। पहले भी ऐसा होता था लेकिन आज पहले से कुछ अधिक है। मुझे आश्चर्य इस बात पर हुआ कि जिन लोगों ने मेरे सामने राजेन्द्र राव को मुख्यधारा से बाहर का लेखक बताया, क्या वे जानते हैं कि स्वयं किस धारा में हैं? बीस साल बाद किस धारा में रहेंगे? क्या अपनी हकीकत उन्हें पता है? क्या वे जानते हैं कि उनके पाँवों के नीचे जो ज़मीन है वह कितनी ठोस है? क्या उनका यह एकालाप उन्हें ज़िन्दा रख सकता है? मेरा सवाल है कि क्या उद्योगपति साहित्यकार मुख्यधारा का है? क्या प्रशासनिक पदों पर बैठे सुविधाभोगी साहित्यकार मुख्यधारा के हैं? क्या साल में एक

कार्यक्रम कराने वाले आयोजक साहित्यकार मुख्यधारा के हैं? या किसी को निर्मंत्रित करके उसकी स्वीकृति पाने के बाद उसका नाम सूची में से काटकर अपनी मर्जी से उसके सार्वजनिक अपमान की इच्छा को हृदय में बसाकर परपीड़ा में सुख पाने वाले तथाकथित साहित्यकार मुख्यधारा के हैं? या किसी पत्रिका के प्रोपराइटर उर्फ संपादक बने वे लोग जो अपने को ही इस दुनिया का मुख्य कुम्हार मानकर संतुष्ट हैं वे ही मुख्यधारा के हैं? कौन हैं वे लोग जो किसी का क्रद तय करते हैं? पेशेवर आलोचक या कि अनवरत घूमने वाला काल का पहिया-समय।

यदि समय को इन नव कुम्हारों के आगे बौना समझा जाए तो प्रेमचंद, जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, सुदर्शन, विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक', अज्ञेय, धर्मवीर भारती, मोहन राकेश, शैलेश मटियानी, मनोहर श्याम जोशी, कमलेश्वर और निर्मल वर्मा जैसे नामों की कोई हैसियत नहीं। ज़्यादा दिन नहीं हुए जब दिल्ली में मेरे समकालीन एक साहित्यकार जिनका आज कोई पता-ठिकाना ढूँढ़ने से भी कहीं नहीं मिलता, कहा था- हिन्दी साहित्य का मैं दूसरा कमलेश्वर हूँ। मुझे खुशी हुई थी यह सुनकर कि उन्होंने खुद को दूसरा कमलेश्वर कहा था, पहला नहीं।

इधर कुछ वर्षों से राजेन्द्र राव ने लगभग न के बराबर लिखा है। यह सही है। मगर इधर कुछ वर्षों में अनेक रचनाकारों ने न के बराबर लिखा है। क्या किसी के रचनाकर्म की चलती प्रक्रिया में ऐसा वक्त कभी नहीं आता कि वह ठहरकर अपने किए गए काम और जिए गए जीवन पर सोचने के लिए एक अल्प विराम ले? क्या यही मानक है किसी को मुख्यधारा से काटकर फेंकने का कि उसकी कोई रचना इधर दिखाई नहीं दी? कहना चाहूँगा कि गत् वर्ष 'हंस' में राजेन्द्र राव की कहानी 'चोखेर बाली' प्रकाशित हुई है। 'हंस' पढ़ा जाता है। उसकी विशेषता ही यही है कि उसे गरियाने वाले भी पढ़ते हैं। दोमुँहा चेहरा क्या इससे उजागर नहीं होता? छद्म वामपंथी भी इन बयानबाजों से कुछ अंशों में बेहतर हैं। राजेन्द्र राव को द्विखण्डित करने की कोशिश करने वाले 'हंस' में छपने के

लिए कितने लालायित रहते हैं क्या इसे बताने की ज़रूरत है। और यदि आज दूसरे को हाशिए पर डालना ही अपने होने की पुष्टि है तो पहले स्वयं को उसी स्थिति में ये क्यों नहीं रखते? आज जो लोग अपने गले में नगाड़ा और टिमकी गरमाकर पीट रहे हैं और अपने ताल को ही सुमधुर बता रहे हैं उन्हें वे नाम गिना रहा हूँ जो उस दौर में बड़े नाम थे जिन दिनों राजेन्द्र राव से सर्वश्री धर्मवीर भारती, मनोहर श्याम जोशी, श्रीपत राय, सुरेन्द्र प्रताप सिंह और विनोद शुक्ल ही नहीं बल्कि कई अन्य पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक आग्रह और निवेदन के साथ लगातार लिखवा रहे थे। उन दिनों उनके पूर्ववर्तियों में शेखर जोशी, द्विजेन्द्र नाथ मिश्र 'निर्गुण', रमेश बक्षी, मार्कण्डेय, ज्ञानरंजन, निर्मल वर्मा, कृष्णा सोबती, से.रा. यात्री, हिमांशु जोशी, हृदयेश, कृष्णा अग्निहोत्री, बादशाह हुसैन रिज़वी, गिरिराज किशोर, दूधनाथ सिंह, मंजुल भगत, रवीन्द्र कालिया, ममता कालिया, मन्ू भण्डारी, मृदुला गर्ग, मालती जोशी, मृणाल पाण्डे, दीप्ति खण्डेलवाल, मेहरुन्सिसा परवेज़ के अलावा और भी कई नाम थे जो लगातार चर्चा में थे। यह भी हो सकता है कि जो नाम मैंने गिनाए हैं इनमें से कई राजेन्द्र राव के समकालीन भी रहे हों। उन दिनों राजेन्द्र राव का नाम हिन्दी कथा-जगत् के एक सशक्त हस्ताक्षर के अलावा पत्रकारिता के बदलते चेहरे को रेखांकित करने में अपने दौर के अन्य कथाकारों से न केवल बहुत आगे रहा बल्कि उसने 'हाटे बाज़ारे' जैसी साहसिक सीरीज़ से पत्रकारिता में भी अपना एक नया मुकाम बनाया। वेश्यावृत्ति से जुड़े बाज़ार के कई अनछुए पहलुओं को जब साप्ताहिक हिन्दुस्तान ने धारावाहिक शृंखला के रूप में सन् 1973 में प्रकाशित किया तो पत्रकारिता जगत् में एक सन्नाटा उभरा था। एक सन्नाटा टूटा था। उन्हीं दिनों उनकी कहानियाँ 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' और 'धर्मयुग' के अलावा 'कहानी' में लगातार प्रकाशित होकर उन्हें एक सशक्त कथाकार के रूप में स्थापित कर रही थीं। राजेन्द्र राव एक सशक्त और स्थापित लेखक थे जब कमलेश्वर ने 'समांतर कहानी' के प्रवर्तक के रूप में झण्डा उठा लिया। आन्दोलन का तो पता नहीं क्या हुआ लेकिन उस समय ने कई रचनाकार जन्माए। सूर्यबाला, सुधा

अरोड़ा, मिथिलेश्वर, प्रियंवद, दिनेश पालीवाल, इब्राहिम शरीफ, शिवमूर्ति, अरुण प्रकाश, आलम शाह खान, अकुलेश परिहार, रूप सिंह चंदेल, अमरीक सिंह दीप, उदयप्रकाश, सुमति अय्यर, बलराम, संतोष तिवारी, पुन्नी सिंह, गम्भीर सिंह पालनी, महेश कटारे, स्वयंप्रकाश, महेश दर्पण जैसे नाम उस आन्दोलन से जन्में हों या न हों लेकिन उन दिनों ये नाम प्रमुख थे। और नाम भी होंगे जिन्हें उद्धृत करने में चूक रहा हूँ लेकिन ये सभी नाम मैंने अपनी स्मृति के आधार पर लिखे हैं इसलिए यदि कई नाम मैं नहीं ले पाया तो मुझे बख्शा जाए। मैं कोई रिसर्च वर्क नहीं कर रहा हूँ कि इन-सायक्लोपीडिया लेकर बैठूँ और एक-एक नाम का उल्लेख करूँ। मेरा अपना पर्सेप्शन है। बहुत से नाम तो आज उल्लेख किए जाने लायक भी नहीं हैं फिर भी एक समय विशेष में इनका योगदान स्मरणीय रहा है और मैं इतना कृतघ्न नहीं हूँ कि अपने समय में जिनका सक्रिय योगदान रहा है उनको आज के समय में यह कहते हुए खारिज कर दूँ कि वे मुख्यधारा के नहीं हैं। जब इनमें से बहुत से नाम गुमनामी के अंधेरे में 'आलोचकों' की कृपा से तब भी खोए हुए थे, उन दिनों राजेन्द्र राव की कहानियाँ जाला, कीर्तन, यशोधरा ही ठीक है, नौसिखिया, छोटा अफसर, बोनास, असत्य के प्रयोग, आई। जिन दिनों लोग मध्यवर्गीय घरों की कहानियाँ लिख रहे थे, राजेन्द्र राव इससे आगे निकलकर कारखानों की ज़िन्दगी को बाहर ला रहे थे। यह वही समय था जब पत्रकारिता के क्षेत्र में उनके 'जिन्दगी, शहर और क़लम', 'शहर मेरा शहर' जैसे दो कॉलम देश के दो सर्वाधिक चर्चित अख़बारों 'दैनिक जागरण' और 'आज' दैनिक में कई वर्षों तक आए।

कथा-शृंखलाओं में 'सूली ऊपर सेज पिया की', 'कोयला भई न राख', 'हम विषपायी जनम के' ने तो अपनी उपस्थिति से उस वक़्त जो धूम मचाई थी उसे 'आलाचकों' ने पढ़ा भी नहीं होगा।

मैं बताना चाहता हूँ कि हिन्दी साहित्य में राजेन्द्र राव ऐसे पहले कथाकार-पत्रकार हैं जिनसे विनोद शुक्ल ने कानपुर में होने वाले क्रिकेट टेस्ट मैच की पहली बार ऐसी रिपोर्टिंग

करवाई जो न केवल मैच के बारे में अद्भुत थी बल्कि उसने ग्राउण्ड में होने वाली उन गतिविधियों को भी दिखाया जिन्हें आज का मीडिया झलकियाँ कहता है...

पाँच साल पहले विनोद शुक्ल ने मुझसे यह भी कहा था कि उनकी इच्छा है कि बहुत पहले की ज्ञानोदय जैसी पत्रिका जागरण प्रतिष्ठान से भी निकले। मैंने उनसे कहा था कि यदि जागरण ऐसी पत्रिका निकालना चाहे और सम्पादक के पद पर किसी कायदे के आदमी को नियुक्त करने में रुचि दिखाए तो मेरी दृष्टि में केवल एक आदमी है- राजेन्द्र राव। मुझे खुशी है कि जागरण प्रतिष्ठान ने तीन वर्ष पहले राजेन्द्र राव को अपने अख़बार के साप्ताहिक साहित्यिक पृष्ठ 'पुनर्नवा' का संपादक बनाया और फिर अपनी साहित्यिक पत्रिका 'पुनर्नवा' का भार भी सौंपा। ताज़ा अंक सितम्बर 2008 से राजेन्द्र राव को संपादक नियुक्त किया गया है। यह उस समय में हिन्दी साहित्य के लिए एक औद्योगिक घराने द्वारा की गई साहसिक पहल है जब मीडिया से जुड़े कई बड़े घराने साहित्यिक सामग्री को हाशिए पर डाल चुके हैं।

बहरहाल, ना काहू से दोस्ती ना काहू से वैर, हम यह अंक राजेन्द्र राव पर निकाल रहे हैं क्योंकि यह उनका ड्यू है। इस उम्मीद के साथ कि हिन्दी-जगत् में सौमनस्य पैदा हो। लोग एक-दूसरे के अवदान को सिर-माथे लें। कोई ज़रूरी नहीं है कि हर रचनाकार जुगाडू हो। कोई ज़रूरी नहीं है कि हर रचनाकार किसी गुट में चवन्नी की सदस्यता ले। यह कतई आवश्यक नहीं है कि रचनाकार कोर्निश बजाए। खुद्दारी का भी अपना वजूद होता है। सेल्फ रिस्पेक्ट को भी चिह्नित किया जाना चाहिए। राजेन्द्र राव स्पष्टवादी हैं। किसी दल विशेष से कभी नहीं जुड़े। किसी दल से जुड़ना रचनाकार होने की कोई शर्त नहीं है। यह अलग बात है कि राजेन्द्र राव अगर किसी साहित्यिक कुनबे से जुड़ गए होते, कोई ग्रुप बना लिया होता, साफ-साफ बोलने की जगह कूटनीतिक भाषा को अपनी बोलचाल का मुहावरा बनाया होता तो वे आज तथाकथित मुख्यधारा के श्रेष्ठ लेखकों में शुमार किए जाते। राजेन्द्र राव ने यह सब नहीं किया जिसे अपनी भाषा में

में छल-छद्म कहता हूँ। वे यह सब कर भी नहीं सकते। यह उनके मिजाज़ के प्रतिकूल है। तब के नये और आज के बहुत से स्थापित कथाकार गवाह होंगे जो उन दिनों राजेन्द्र राव से मिलकर रचनाकार होने की नई सीख पाते थे। उनकी स्पष्टवादिता और उनके ऊष्म व्यवहार की तुलना कानपुर के तत्कालीन किसी साहित्यकार से नहीं की जा सकती। इसका यह अर्थ नहीं है कि अन्य साहित्यकार असंवेदनशील हैं। सबकी अपनी सीमाएँ होती हैं। उनकी सीमाओं को सम्मान दिया जाए... इस बार भारत में कई मौके ऐसे आए जब ट्रेन और बस में नौजवान लड़कों ने कहा कि अंकल आप बैठिए। वे मुझे नहीं जानते थे लेकिन मेरी उम्र को पहचानते थे। उम्र और अनुभव को पहचानना ही सांस्कृतिक विरासत है। क्या यह साहित्य में नहीं होना चाहिए? राजेन्द्र राव तैयार नहीं हो

रहे थे कि हम उनपर अंक निकालें। यह मेरे मन का खलल था जो मुझे चैन से सोने नहीं दे रहा था। इस सवाल के साथ कि क्या भविष्य इतना विकृत होने जा रहा है कि साहित्यकार अपने उन पूर्ववर्तियों के साथ जिन्होंने परम्परा में एक विस्फोट किया है उन्हें बड़ी सहजता से दरकिनार कर दे? राजेन्द्र राव ने सौ से ऊपर कहानियाँ लिखी हैं और उनकी कहानियाँ चौपतिया पत्रिकाओं ने नहीं बल्कि अपने समय की बहुचर्चित और प्रतिष्ठित पत्रिकाओं ने प्रकाशित की हैं। हम राजेन्द्र राव की रचनाएँ आप तक पहुँचा रहे हैं। ये रचनाएँ खुद बोलेंगी। इनसे बात निकलेगी और मेरा यक़ीन है कि बात दूर तक जाएगी। इन रचनाओं का पुनर्पाठ ही बताएगा कि अपने समय को रेखांकित करना किस धारा में होना है। अपनी प्रतिक्रिया देंगे तो खुशी होगी और हमारे प्रयास की सार्थकता भी इसी में निहित है...

यह अंक

‘शब्द संगत’ का यह अंक रचनाकार राजेन्द्र राव पर केन्द्रित है।

रचनाकार राजेन्द्र राव सातवें दशक के महत्त्वपूर्ण कथाकार हैं। कल-कारखानों के श्रमिकों और तलघर में जी रहे जीवन पर जिन रचनाकारों का नाम प्रमुखता से लिया जाता है, उनमें आप महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। अमरकांत, शेखर जोशी, कामतानाथ और इसराइल की तरह नहीं बल्कि उनके समानांतर राजेन्द्र राव ने फैक्ट्री में दिन-रात खट रहे मजदूर और निम्न-मध्यमवर्गीय जीवन की काली छाया को उद्घाटित किया। अभावग्रस्तता से उपजी हताशा और टूटन के बाद भी आपके पात्र परास्त नहीं होते, जीवन से निराश नहीं होते, वरन् उससे रू-ब-रू होते हुए अपने संघर्ष का शोकगीत गाते हैं। राजेन्द्र राव ने बहुत ही खूबसूरती से इस जीवन को अभिव्यक्ति दी है। कह सकते हैं कि नेहरू युग के क्रूर सच को यदि देखना है तो राजेन्द्र राव की कहानियाँ इसका सर्वश्रेष्ठ नमूना हैं। सिर्फ कहानियों के माफ़त ही नहीं, वरन् रेखाचित्रों, कॉलम लेखन, स्तंभों में भी आपने अपनी रचनात्मकता को नए आयाम दिए और जीवन-ऊष्मा को बरकरार रखा। साप्ताहिक हिन्दुस्तान में ‘हाटे-बाज़ारे’ शीर्षक से प्रकाशित धारावाहिक वेश्या-जीवन की त्रासदी के बहाने आपने समकालीन व्यवस्था को बेनकाब किया जिसमें इंसान नारकीय जीवन जीने को बाध्य है। अपनी रचनात्मकता को जीवित रखते हुए राजेन्द्र राव आज भी रचनारत और समादृत हैं।

‘शब्द संगत’ का यह अंक उनके रचनात्मक श्रम के सौन्दर्य को समर्पित है।

-हरि भटनागर

मैत्रेयी पुष्पा

वह प्रेम सफल था या असफल ?

असफल प्रेम की छः कहानियाँ 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में तब छपी थीं, जब घूँघट में रहा करते थे। हमारा नाम था फलां की दुल्हन, फलां की बहू। मगर बहुओं की पर्देदारी देखिए कि हम कहानीकार राजेन्द्र राव की एक कहानी पढ़ते और अगली क्रिस्त का बेताबी से इंतज़ार करते। सप्ताह ऐसे बीतता जैसे चन्द्रमा निकल आने की प्रतीक्षा में करवाचौथ का दिन बीतता है। अलबत्ता हम भूख से निढाल होने वाली औरतों की तरह कमज़ोरी महसूस न करके आवेगमयी ऊष्मा के साथ मुस्तैद रहते। उत्तेजना का मंजर क्या था, शानदार उद्वेलन साथ ही हम आतंकित भी रहते। सोचा करते कि क्या प्रेम करने वाली पत्नियाँ बच गयी होंगी ? वे गोपिकायें तो हैं नहीं जो कृष्ण से प्रेम कर रही हों और लोग कृष्ण को पर पुरुष नहीं, भगवान मानते रहें। तभी हमारा ध्यान भगवान राम की ओर चला जाता, जिन्होंने पत्नी को अग्निपरीक्षा में उतारा था। एकदम से सजा-ए-मौत !

प्रेम कहानियाँ 'पाप पुण्य से परे' और 'सूली ऊपर सेज पिया की' पढ़ते हुये हम थरा जाते क्योंकि परिवार में किसी को पता नहीं था कि शर्मोहया का पर्दा तारतार हुआ जाता है। अगर पता चल गया कि हम कुल्टा मानी जाने वाली औरतों के क्रिस्से पढ़ते हैं तो सात फेरे सात वचनों का क्या होगा ? हमारे पतिव्रत का लौह-कवच तोड़ने वाला भी एक युवा लेखक... हो सकता है उसके यहाँ हमारे पति और जेठ पुलिस ले जायें। पत्रिका पर भी औरतें बिगाड़ने का दावा ठोकें। जब तक कोयला भई न राख' आई, तब तक तो हमें अपना चेहरा एकदम अपवित्र सा लगने लगा था। और हम ऐसे डाँवाडोल हुये कि पत्थर की तरह वहीं नहीं रह पा रहे थे जहाँ रहने की हमें हिदायत मिली थी।

‘यह तुम्हारा पति है, इसलिये इसी से प्रेम करो’ कितना भारी आदेश है यह! इसके दबाव के कारण हम छटपटाने लगे हैं और कहानियाँ हैं कि बेआवाज़ हमारी कसावटें तोड़ने में लगी हैं। बेशक हम कभी कोयला हो जाते हैं और कभी राख। मगर राख में से उठता अग्निपक्षी गृहलक्ष्मी रूप को त्यागता हुआ प्रेमिका होने के अधिकार पर काबिज हो जाता है। उड़ने की स्वतंत्रता भी कैसी दिलकश आज़ादी है! नहीं चाहिये पत्नीपद, सर्वमान्य पुरुष-संबंध, सिर पर चढ़ा सुहाग, शरीर पर दूसरे की जबरदस्ती का हक, आत्मा पर पवित्र दाम्पत्य की जकड़न...

मन का मतवालापन सिर उठाने लगा। भूल गये कि कुँवारी इच्छाएँ अपनी बदगुमानियों में सुहागिनों के लिये अभिशाप होती हैं। घर की तबाही का हीला हो गयी थीं वे प्रेम कथायें, जिनको राजेन्द्र राव ने बेखटके हम तक भेज दिया था। ‘मुक्ति का संदेश’ हाँ, हमने उन कहानियों में यही पाया जबकि दादी नानियों ने हमें समझाया था कि प्यार मोहब्बत और मन की मुरादें औरत को ले डूबती हैं, इन्हें मुर्दों की तरह सुला देना। चेतना तुम्हारी दुश्मन है। पतिव्रत धर्म निभाना तप के बराबर होगा। पतिसेवा सत्कर्म है। यही है स्वर्ग तक जाने का रास्ता। तन के साथ मन का भी समर्पण करना होगा, तपस्या पूरण होगी।

हमने तन दिया, मन बगावत पर उतर आया। करने को तो पतिसेवा, समर्पण, गर्भ, प्रसव और वंशबेल चलाने के लिये शरीर को क्षत-विक्षत कर ही रहे थे तो हमसे कौन कह सकता है कि हम पत्नी-पद से तनिक भी डिगे? तभी किसी ने सुना दिया कि बदनामी भी तो कोई चीज़ है, जिसके तहत पति के सिवा किसी से आँखें उठाकर बात करना गुनाह है। कान कुछ मनचाहा सुनें। सोचने के स्तर पर दिल में तरंगें उठें। तो क्या हम रोटी कपड़ा और सिर पर छत पाने की एवज में अपना प्यार संवेदनापूर्ण व्यवहार और इच्छाओं का जखीरा बेच चुके हैं? शायद नहीं। ऐसा ही होता तो रागानुरागियों ने तख़्तोताज क्यों टुकरा दिये? हम परिवार की जड़ता भरी घुटन में रहने को बाध्य तो थे। मगर झरोखे खोलने से बाज न आते थे। प्रमाण के रूप में सामने वाली छत पर चक्कर काटने वाला युवक हमारे मन में बस गया था। कारण कि वह सेवा और वफ़ादारी की उम्मीद हमसे नहीं करता था,

‘साप्ताहिक हिन्दुस्तान’ में छपी कहानियाँ और कविताओं को हमारे लिये सहेज कर रखता। जब हम कहानियाँ पढ़ चुके थे, तब उसने सुझाव दिया कि हम ‘श्री राजेन्द्र राव’ को खूब लिखें। क़लम कागज़ उसी ने दिये थे, आटा पिसाकर लाने वाले डिब्बे में छिपाकर। सच मानिये, फिर हमारा हौसला हमारे बस में नहीं रहा। अच्छा खासा घर पिंजड़े का रूप लगने लगा। अंत में तय पाया कि प्रेम हमारे भीतर मरा नहीं।

प्रेम शाश्वत है, नहीं तो आज भी वे कहानियाँ मुझे याद क्यों आतीं, जो राजेन्द्र राव ने लिखी थीं- तथाकथित अनैतिक जुनून की शोक गाथायें। स्त्री-पुरुष संबंध के आदिम दस्तावेज़। हाँ, मैंने इस लेखक को इसी रूप में पहचाना है कि नैतिकता पाप और अपराध, चाहत और सपनों की टकराहट से गुजरती है तो जिन्दगियाँ खूनमखून हो जाती हैं। क्या हमने अपनी तरुणाई में उन प्रेमकथाओं को पढ़कर गृहणियों के जीवन का रौंदा हुआ नक्शा देख लिया था? इसलिये ही गृहस्थी में पराजित औरत की तरह मन लगा लिया, जैसे हम ‘पाप-पुण्य से परे’ की नायिका ‘श्री’ के लिये प्रायश्चित्त कर रहे हों। हाँ, इन कहानियों का जिक्र करना ही कुफ़्र था। और यह भी सच था कि कम्बख़्त ‘श्री’ हमारे भीतर छिपी बैठी थी, वहीं जहाँ स्त्री की आत्मा रहती है। अब तक हम इस जगह को चेतना का निवास मानने लगे थे।

यों तो राजेन्द्र राव ने ‘श्री’ को सौन्दर्य की स्वामिनी बनाकर पेश किया है और हमें बार बार एतराज हुआ है क्यों कि प्रेम के मामले में स्त्री के रूप का सहारा लेना उसके प्रति सरासर अन्याय है। श्री अगर मामूली सूरत की होती तो क्या प्रेम न करती? रीतिकालीन कवियों ने ही नहीं आदिकाल के साहित्य में भी ‘सुमुखि पीन पयोधरा’ ही अभीष्ट रही हैं। पुरुष लेखक अपनी कथा नायिका को सफ़ेद कपोत जैसे पाँवों पर उतारें, केहरीकटि की लचक से चलायें, कदली जंघाओं का वर्णन करें, हमें इससे क्या लेना, हम तो खुद स्त्री थे। और कहानी के हिसाब से ‘श्री’ बदचलन औरत है।

बदचलन कैसे हुई श्री? इसका ब्यौरा भी लेखक ही देता है कि जब साथ में उसका पति था। जो कि पहले प्रेमी ही था, फिर वह किसी युवक से प्रेम क्यों करने लगी? काश हम तब कहानी लिख पाते तो बताते कि यदि प्रेम में भी जड़ता हो तो उसकी चाहत कौन करे? साथ ही यह भी कि पति को ही

औरत के लिये भरोसेमंद माना जाता है, इस पर औरतों की राय ली जाये। कहना यही है कि प्रेमी पुरुष पति बनकर ज़्यादा ताकतवर हो जाता है, वह फिर बराबरी के रिश्ते में विश्वास करना छोड़ देता है। कारण कि वैवाहिक विधानों की पूरी फेहरिश्त पति के पक्ष में आती है। और कर्तव्यों की नैतिकता पत्नी के कंधों पर लाद दी जाती है। हमने माना कि औरत प्रेम प्रेम के लिए करती है, विवाह जैसे बंधन के लिये नहीं। और होता यह है कि प्रेम पर विवाह का ठप्पा लगाकर इतिश्री कर दी जाती है। यही बात प्रेमी की ओर भी लागू होती है, मगर यह कैसा मनोविज्ञान है कि प्रेम का विवाह में स्थानान्तरण होना ही सफल प्रेम माना जाता है।

‘पाप पुण्य से परे’ ने ही खुलासा किया कि शादी हो जाने पर गृहस्थ धर्म की नैतिकता ऐसी बेरहमी अखिल्यार करती है कि ‘श्री’ भी सिवा पत्नी के कुछ नहीं रह गयी। माँ बनी, मान्यता पाई। बिना पति के माँ बनना सर्वथा अवैध और अस्वीकार्य है। यह सब जानते हुये भी श्री ने ऐसा क्यों किया कि पाप-पुण्य का भेद भूल गयी? स्त्री होने के नाते हम महसूस कर रहे थे कि निश्चित ही उसका दम घुट रहा होगा। यदि मैं अब राजेन्द्र राव के लेखन को देखूँ तो लगता है वे पर्दे की आड़ में चल रहे अंतरंग मानवीय संबंधों के लेखक हैं। ‘कीर्तन’ कहानी पढ़कर यह आसानी से समझा जा सकता है कि प्रेम के समान्तर निरंतर उत्कट होती जा रही यौनेच्छा को अंडरकॉर्ट की तरह निर्बाध पाकर पाठक भी उसमें शामिल हो सकता है। वे मानते हैं यह खालिस प्रेम-राग नहीं, देहराग भी है। शायद इससे भी कुछ अधिक... भारतीय मध्यवर्ग पर गुज़रती नैतिकता, जिसका दूसरा नाम पाखंड है।

क्या औरतें इसी पाखंड के क्रिले में अपनी चेतना को नहीं मारती रहती? मर्यादा की पथरीली दीवारों में आकांक्षाओं को नहीं चिनवा देती? जिसे आत्मा का पवित्र जल कहते हैं, वह संस्कारों के रूढ़ सड़े गले सूत्रों की सड़ांध से नहीं बजबजा रहा? मेंढकों जैसा सुरक्षित जीवन, जिन्दा रहने का झूठा सच्चा अहसास... श्री इस अहसास को ही जाँचने परखने लगी थी। वह स्त्री से मेंढक होने की प्रक्रिया में खुद को पा रही थी। पति बच्चे और घर, इस व्यवस्था के नियम कैसे लगते हैं, किसी चेतना-सम्पन्न स्त्री से पूछा जाये।

वह औरत ऐसी जिन्दगी को उस कहानी के रूप में याद करेगी, जिसकी नायिका के चेहरे पर उल्लू का चेहरा पहना दिया जाता है और उसका मालिक उसे इसी रूप में ज़्यादा से ज़्यादा प्यार करता है। अपने पुरुष के प्यार में सब कुछ सहना ही तो प्यार की निशानी है। पतियों के लिये पत्नियाँ हृद से गुज़र जाती हैं, सती हो जाती हैं, बशर्ते वे अपनी यौन शुचिता भंग न करें। श्री ऐसा कुछ न कर सकी। अपने से दस साल छोटे युवक से प्रेम करने लगी। श्री के पति सज्जन थे (पति तो सज्जन ही रहते, भले किसी स्त्री से प्रेम करते) पुरुष अपने से चौबीस साल छोटी लड़की से प्रेम करे, कोई फ़र्क नहीं पड़ता। मगर श्री से उसका लेखक भी जवाब माँगता है क्योंकि श्री को प्रेम करना चाहिये? कि क्यों सतीश नाम का लड़का उसे भाने लगा, कि क्यों उससे मिलने के लिये आतुर रहती थी? कौन सा पति इस व्यभिचार को बर्दाश्त करेगा? श्री को पति के सहन करने न करने की भी परवाह नहीं, जैसे यह मोहब्बत उसका अपना अधिकार हो।

हमने जो समझा इस कहानी को पढ़कर, वह इतना ही था कि श्री को किसी पुरुष से प्यार की लालसा जितनी भी रही हो, सतीश को वह उस पुरुष के रूप में अवश्य देख रही थी, जिसने उस बंद कमरे का द्वार खुलवा दिया, जिसमें संगीत की अप्रतिम साधिका, प्रवीणा और मर्मज्ञा श्री के वाद्ययंत्र बंद थे, जिन पर जाले चढ़े थे, अंधेरे कोनों में चमगादड़ें ही उन पर सिर पटकती थीं। श्री की सुरीली आवाज़ उजड़ गयी थी। उसका तन मन पति और बच्चों को समर्पित था। भूल गयी थी श्री कि संगीत की इसी मर्मज्ञता पर किसी ज़माने में पति रूपी पुरुष रीझा था, उसकी वह प्रतिभा अब मृतप्राय पड़ी है। और सतीश उसी प्रतिभा की मान्यता में उससे संगीत सीखने आया है। बहुत दिनों बाद उस अंधकार में सतीश की आँखों के दीप जले। बहुत दिनों बाद उन आँखों के साये में श्री अपनी प्रतिभा के आमने सामने हुई।

मगर ‘श्री’ कुल्टा! वह अपनी प्रतिभा को ज़्यादा दिन नज़रअंदाज़ नहीं कर पाई। क्या वह शुरू से ही ‘अच्छी’ नहीं थी? जब पिता अपनी बड़ी हैसियत के अनुसार वर लाने की तैयारी कर रहे थे तब वह अपना प्रेमी चुन रही थी। केवल इसलिये कि यह पुरुष उसकी संगीतकला को निखरने का मौक़ा जरूर देगा। मगर चैतन्य हृदय में बजते तार जल्दी ही

मौन हो गये और राग प्रसव वेदना में तब्दील हो गया। चूल्हे चौके के खटरागों ने समय घेर लिया। पति जैसा कहते गये, वह करती गयी, इसी वाक्य में तमाम आग्रह, प्रार्थनाएँ और अस्वीकृतियाँ गुथी हैं।

राजेन्द्र राव ने निश्चित ही 'सतीश' नाम के युवक को अनैतिक प्रेमी, धोखेबाज पुरुष और डरपोक व्यक्ति माना है। होगा भी। लेकिन तमाम स्त्रियों के दाम्पत्य में उस समय श्री ऐसी औरत के रूप में उभरी, जिसने बागी होकर तथाकथित सुखी गृहस्थ की बिसात पलट दी। सतीश प्रेमी नहीं, उसकी पहचान का दर्पण बना। उसे वह किसी हालत में छोड़ना नहीं चाहती। पति और बच्चों को छोड़कर आने वाली और समाज की नज़र में बदचलन भी है और न्यायघातिनी भी। उसे पायदान के अलावा क्या समझा जाये? ऐसी औरतों से वेश्यामंडियाँ बनती हैं, जिनके शरीर के जरिये पुरुष वर्ग अपनी गंदगी गुज़ारना नहीं भूलता।

हम लाख कहें कि अगर सतीश को श्री की संगीत कला से प्यार न होता तो श्री को सतीश पर इतना भरोसा कभी न होता कि वह उसको लेकर कहीं भी चली जाये। जिस पति पर भरोसा करके बैठी थी, उसी ने उसकी कला को मार डाला और सतीश से मिलते हुये पत्नी की जासूसी करनी शुरू कर दी। क्यों होता है ऐसा? श्री यह सवाल किससे पूछती? ईश्वर के नियम जैसे आदेशों पर 'क्यों' नहीं लगाया जाता। बहस नहीं की जाती।

लेखक अपनी इस तर्जु की कहानियों के बहाने चाहे कुछ भी कहना चाहता हो, पाठक उस कथा को जिस रूप में पढ़े, वही सत्य होता है। और हमने माना श्री असहमति और

अस्वीकार का वह पर्याय है, जो कमल की पंखुड़ी नहीं, गूलर का फूल मानी जायेगी। खतरनाक, भयानक, डरावनी। नैतिकता का यही ढंग उन सतीशों को रास आता है, जो प्रतिभा की कद्र करना जानते हैं, यह अलग बात है कि समाज का नुमाइंदा लेखक सतीश को भी तरह-तरह से घेरे और फिर उसके लिये वही राह बना दे जो सदियों से प्रचलित है, यानी स्त्री को अकेली छोड़कर पलायन। औरत के विकास के रास्तों पर सजे चिराग इसी तरह गुल किये जाते हैं।

बाद में जो बाक़ी बचता है, उसे इस तरह जड़ दिया जाता है कि औरत ही गुनाहों की पोटली हो जाती है। श्री के साथ भी यही हुआ कि पति ने जो किया पत्नी और गृहस्थी को व्यवस्थित करने के लिये किया। प्रेमी के रूप में सतीश ने श्री को त्यागकर अपने प्रेम में बलिदान दिया। दोनों के दोनों महान हैं।

'श्री' नाम की स्त्री ऐसी नैतिकता की धज्जियाँ उड़ा गयी, जिसे सदियों से स्थापित माना जा रहा था। उस पर किसका फतवा असर करता? मांस के लोंदे की तरह जीवित रहते हुये उस औरत की कहानी गुमनाम नहीं हुई तो लेखक भी कैसे गुमनाम हो सकता है? अपनी रचनात्मकता में राजेन्द्र राव ने ऐसे चरित्र दिये हैं, जिन्हें भूला नहीं जा सकता और उनके मूल्यांकन की ज़रूरत समय के आईने में पड़ती ही रहेगी।

तिरुपति आई सेक्टर

सी-8, सेक्टर-19, नोएडा . 201301

फोन : 91. 2444349, 4266642



राजेन्द्र राव

आत्म तर्पण

राजेन्द्र राव

एक दिलजले का परलोक गमन

बहुत देर की मेहरबां जाते-जाते। पहली बार मरने वाले कुछ ठसके से मरते हैं। पूरे नखरे के साथ उनकी भव्य शव यात्राओं को देख मरने को दिल करने लगे तो क्या ताज्जुब। हम तो जाने कितनी बार मरे, दफनाये गये, फिर उठ खड़े हुए। कुछ इस अदा (बेशर्मी) से जैसे कुछ हुआ ही न हो। इस बार भी यही आसार हैं, नहीं तो अपना फातेहा खुद क्यों लिख रहे होते। सच्ची बात तो ये है कि अपने राम ने मरने-वरने को कभी सीरियसली लिया ही नहीं।

“मेरा मिजाज लड़कपन से आशिकाना था।” फिल्म देवदास जाने कितनी बार देखी होगी। उसमें वह अविस्मरणीय दृश्य याद है आपको जब दिलीप कुमार (यानी देवदास) नशे में धुत्त होकर नाबदान के पास पड़ा है। लगभग तुरीयावस्था में, होश भी है बेहोश भी है। धीरे-धीरे, अटक-अटककर गुनगुना रहा है-

दुनिया में बरबाद दिलों का, जीना क्या और मरना क्या आज तेरी महफिल से उठे, कल दुनिया से उठ जायेंगे।

तलत की आवाज़ में यह बरबाद दिलों का गीत भल्ला साहब की दुकान में 78 आर.पी.एम. बाले सेलुलाइट के काले तवे में क़ैद था। अब तो वो कुत्ते की फ़ोटू वाले रिकार्ड देखने को भी नहीं मिलते, उसको खरीदने की बड़ी तमन्ना थी, उन दिनों कीमत भी छह-सात रुपये से अधिक नहीं थी मगर ग्रामोफ़ोन किस भकुए के पास था, जो खरीदता। भल्ला साहब समझते थे। जाने पर एक बार बजवा देते, खुद भी माथा धुनते, कहते, “भाई जी, जब यह गीत रिकार्ड हुआ तो मैं बंबई में था। अब तलत तीन बार मरे और इस तरह फिर से जनम ले तब भी नहीं गा सकता। हमने तो जाने कब से गाँठ बाँध ली थी, बरबाद दिलों का जीना क्या और मरना क्या!

मरने के ठीक पहले घोर पराजय बोध हुआ। निरंतर बाजी हारते जाने की जन्मजात आदत के बावजूद पूरी पीढ़ी को हारते, हार मानकर बैठते देखने की हताशा असह्य थी। एक-एक करके चिर संचित आस्थाओं, मूल्यों और आकाँक्षाओं को ध्वस्त होते हुए देखने की स्थाई रूप से नपुंसक भूमिका से जी भर जाये तो सिवा मर जाने के किया भी क्या जा सकता है।

जी नहीं, मुझे रत्तीभर भी मुगलता नहीं है कि लोगों को, 'मेरी याद आई मेरे जाने के बाद।' दिल्ली की भाषा में कहें कि किसी को कोई फ़र्क नहीं पड़ता है। कौन से कार बंद हैं गालिबे खस्ता के बगैर! तो उस किस्म की लमतरानियाँ नहीं हाँकूँगी कि मेरी (यानी किसी लेखक की) शोक सभा में कौन-कौन भकुए आलोचक, संपादक, लेखक और लेखिकाएँ आयी थीं और उन्होंने अपने वाचिक डायरिया का कैसा प्रदर्शन वहाँ किया। असली बात तो यह है कि मेरे जैसे नामुराद इंसान की सोगवारी करने कुछ मुझ जैसे, और कुछ मुझसे बेहतर टटपूँजिये ही आयेंगे। इसलिए लेखक वाली हैसियत का कोई मुजायका नहीं, हाँ, जहाँ रोज़ आठ घंटे मजूरी करता हूँ वहाँ से बहुत से लोग रस्मी तौर पर आयेंगे। वही बाँस लायेंगे, काटेंगे, छीलेंगे, कलश और कफन को तरजीब देंगे। घर के लोगों को शायद ध्यान आ जाये, मुझे अगरू धूम और सुगंध प्रिय रही है परंतु अफरातफरी में मेरी पसंद की महँगी अगरबत्तियाँ लाने का होश किसे होगा।

थोड़ी रूमानियत से काम लूँ तो कहूँ- मेरी शव-यात्रा में कोई हेमंत कुमार का वह गाना बजवाये- तेरी दुनिया में जीने से तो बेहतर है कि मर जायें। वही आँसू वही आहें... लेकिन मित्रो, इस खूसट जेहन में कितनी भी रूमानियत घुसेड़कर, यह नहीं कह सकूँगी कि मरते-मरते भी आँखें किसी के दीदार को तरसती रहीं। किसका दीदार! कैसा दीदार! किसी का इंतजार होता तो भैय्ये मरते ही क्यों! यानी ऐसी स्थिति आ चुकी है कि अब न तो कोई है, न किसी का खयाल है, न किसी की याद कसक की तरह उभरती है। धत्त है रे ऐसी नामाकूल ज़िंदगी को! न तो गजनवी में तड़प रही, न वो खम है जुल्फ़े अयाज में। ऐसा एकदम से नहीं हुआ है धीरे-धीरे, टुकड़ों में, बूंद-बूंद करके मरते गये हैं हम! अब कुछ भी नहीं बचा, रोम-रोम मर चुका है। इससे आगे जीना भी क्या जीना होता।

मृत्यु और पराजय-बोध की जड़ खोजनी हो तो बचपन की ओर चलें। ग्राइपवाटर और जन्मघुट्टी के बाद जो पहली खुराक मिलती है उसके तन मन पर दूरगामी असर होते हैं। अकेला बालक होने और दोपहर को साँय-साँय करते कस्बे के गली-मोहल्लों में भटकने वाला अपनी बेचैन रूह के लक्षण प्रगट करने लगता है। दोपहर को नहीं सोना, पेड़-पौधे, नहर-नाले, फायर हाइड्रेंट, मेन होल देखते फिरना किसी तलाश का हिस्सा था।

पचास के दशक में यहाँ इतने अंगूर नहीं पैदा होते थे और सचमुच चमन के अंगूर आया करते थे जो स्वाद में ही नहीं रूप-रंग में भी बड़े ललचाऊ होते थे। दर्जा चार में अच्छी-खासी हरी भरी कटनी छोड़कर कस्बे में आना पड़ा। स्कूल घर से कोई तीन किलोमीटर दूर। सुबह बस्ते में जो खाने का डिब्बा जाता था, उसमें पराठे और करमकल्ले की सब्जी होती थी जो डिब्बे में बंद रहकर अच्छी तरह सीझ जाती थी। लेकिन भूख तो भूख, दोपहर को आधी छुट्टी होने पर डिब्बा साफ। शाम चार बजे लौटते में, रास्ते में पड़ने वाली एक छोटी-सी हाट में चमन के अंगूर वाले के पास थोड़ी देर ज़रूर रुकते थे। उस ज़माने में भी अंगूर कीमती थे और उन्हें खामखाँ खरीदने की बात सोची भी नहीं जा सकती थी। यूँ भी आम धारणा यह थी कि फल सिर्फ बीमारी में खाये जाते हैं, वह भी डॉक्टर की सलाह पर। उन ज़ालिम अंगूरों पर ततैय्ये मँडराया करते थे। बच्चों की ललचाई निगाहों का अनुभव करता होगा वह लम्तडंग फलवाला इसलिए सबको सुनाकर कहता, "इन ततैय्यों ने नाक में दम कर दिया है। इन्हें हटाने के लिए कल से थोड़े से अंगूर वहाँ झाड़ी में रख दूँगा, एकदम पके-पके।" यह सुनकर मन अंगूरी हो उठता। रोज़ आते-जाते उस झाड़ी को खंगाल डालते।

पश्चिमी उत्तर प्रदेश के किसी जाट-त्यागी बहुल कस्बे में बीता बचपन हमेशा याद करने लायक नहीं होता। आर्य समाज मंदिर की बजती तूती और गंवई किस्म की सादगी का ऐसा घाल-मेल था कि कोई लड़का ठीक से कंधी करके (फुगगे निकालकर) स्कूल जाता तो उसे सारे दिन ओये जुल्फ़ी, हाय जुल्फ़ी सुनना पड़ता। चकाचक कपड़े पहनकर तो बहुत ही शर्मसार होना पड़ता था। देश नया-नया आज़ाद हुआ था और ज़्यादातर अध्यापकों सहित ज़्यादातर लोग गाढ़े का कुरता पाज़ामा और टोपी पहनते थे। पैंट बुशर्ट

भी थे मगर ड़िल और दसूती जैसे कपड़ों से बने! जाटों के लट्ट और आरिया समाज की दंबग उपदेशियत के प्रताप से कोई पुरुष महिलाओं की ओर देखने की हिम्मत भी नहीं कर सकता था मगर आकर्षक छोरों को सराहने पर कोई प्रतिबंध नहीं था। सरकारी स्कूल था, सहशिक्षा थी मगर तमाम मास्टर आकर्षक लड़कों पर फिदा रहते थे, कुछ लंबे-तडंगे अधिक उम्र वाले लड़के भी। यह चरित्र रक्षा का एक अजीबो-गरीब फार्मूला था। अपने राम सूरत-शक्ल में मार खाये हुए थे ही, दुबले-पतले अलग थे। सो न तो गजनबियों में थे, न अयाजों में। पराजय-बोध का पहला पाठ। पंचवर्षीय योजना की चपेट में वह कस्बा भी आया और स्कूल में तीन-चार सूट-बूटधारी जुल्फी, छैल चिकनिये से शहराती मास्टर भी आ गये। बस हो गया कल्चरल रेवोल्यूशन। कहाँ तो “होये चिकने” वाले लड़कों की पूछ थी, उन पर मास्टर, मानीटर और मुस्टंडे कट कटकर गिरने को तैयार रहते थे और कहाँ चंदा, सविता, पुष्पा, राजरानी और प्रभुजीत कौर का ज़माना आ गया। नये शहराती मास्टर्स में एक संघी थे, उन्होंने लाइब्रेरी में पूरा गुरुदत्त साहित्य मंगवाकर भर दिया और छात्रों को प्रोत्साहित किया कि ‘पथिक’ ‘देश की हत्या’, ‘जमाना बदल गया’ जैसे उपन्यासों को पढ़ें। एक दूसरे आधुनिक मास्टर ने हेडमास्टर के कान भरे और लाइब्रेरी का चार्ज उनसे छिनवाकर, उसमें संपूर्ण यशपाल साहित्य मँगवा दिया। अपने राम ने देश की हत्या के बाद गाँधीवाद की शव परीक्षा पढ़ी तो पहला मानसिक झटका लगा। प्यारे बापू को गुरुदत्त भी कोसते थे और यशपाल भी। और गाना चलता था, देश का प्यारा, सबका सहारा, कौन बनेगा गाँधीजी!

अंतर्विद्यालय प्रतियोगिताओं में स्कूल की वाद-विवाद टीम में अपना चयन जाने कैसे हो गया। एकांकी प्रतियोगिता में स्कूल की सबसे सीनियर और गुलबदन छात्रा सुमन को नायिका बनाकर एक नये वाले मास्टर जी खुद नायक बने हुए थे। ईर्ष्यालु मास्टर्स ने हेडमास्टर के कान भरे और हुक्मनामा जारी हुआ कि तत्काल नायक बदला जाये, निरापद नायक की खोज में किसी नाबालिग प्रतिभा की तलाश की गयी जो अपने राम पर आकर समाप्त हो गयी। अब हाल यह कि नायिका नायक से कम से कम एक फुट लंबी और तीन जमात आगे। गोदी में उठाकर चूम ले तो ज्यादा स्वाभाविक लगे। हेडमास्टर की तानाशाही के आगे किसी की नहीं चली

भले ही हँसी टिठोली होती रही। सुमन अफसर पुत्री थी, रिहर्सल के लिए अकसर अपने घर बुला लेती थी, उसकी नज़र में भले ही वात्सल्य भाव रहा हो मगर छोटे मियाँ जी जान से उस पर न्यौछावर। नीम पर करेला यूँ चढ़ा कि उन्हीं दिनों लाइब्रेरी में थोक के भाव में आये यशपाल साहित्य में से कथा-संग्रह ‘फूलो का कुर्ता’ पढ़ने को मिला। उसमें ‘धर्म रक्षा’ कहानी पढ़कर नन्हे बालमा एकदम काठ के घोड़े पर सवार हो गये। चल मेरे घोड़े टिक टिक!

पढ़ोगे लिखोगे बनोगे नवाब, खेलोगे कूदोगे होगे खराब। सो अपन तो खेले ही नहीं। पढ़े खूब, मगर किस्से कहानियाँ। किस्सा तोता-मैना, साढ़े चार यार, अकबर बीरबल विनोद, अलादीन का चिराग, साहसी और वीर बालक, भक्त बालक से लेकर लंदन रहस्य, भयंकर भेदिया आदि-आदि। चंदामामा, बालक, बालभारती, मनमोहन, बालसखा से लेकर धर्मयुग और कल्याण तक जो भी जहाँ भी जिस तरह मिले। कुछ खानदानी लोगों के घरों में चाँद, सुधा और सरस्वती की फ़ाइलें थीं, चंद्रकांता संतति, भूतनाथ, रोहिताश्व मठ, सुफेद शैतान, रामायण, महाभारत, भागवत के संस्करणों की तो भरमार थी। इस पर भी पढ़ने लिखने में ठीक रहे। कई बार जोश में आकर चोटी छत के कुंडे से बाँधकर घोटा लगाया मगर कभी भी अब्बल नहीं हो सके। हमेशा नं. दो पर आकर कुशती छूटी। यह कमबख्त नं. दो ऐसा पीछे लगा कि लेखक की दुम लग जाने पर जब कभी भी कहानी प्रतियोगिताओं में भाग लिया हमेशा द्वितीय पुरस्कार ही मिला। एक बार की खेल-कूद प्रतियोगिता में चम्मच में नींबू रखकर दौड़े, बहुत रियाज के बाद, नतीजा वही, सेकेंड। वाद-विवाद प्रतियोगिताओं में हमेशा खूब तालियाँ बटोरी, मगर स्थान हमेशा द्वितीय ही रहा। यहाँ तक कि स्कूल में मास्टर्स की राजनीति के चक्कर में अपने से एक हाथ लंबी नायिका के साथ जोड़ी बनी तो नाट्य प्रतियोगिता में अभिनय के लिए सेकेंड प्राइज़ मिला। यशपाल और गुरुदत्त की मार्फत जो जीवन-दृष्टि प्राप्त हो रही थी उसके अंतर्गत देह राग कुछ-कुछ जागने लगा था। जैसे हिरन कस्तूरी गंध से मारा-मारा फिरता है वैसे गर्मी की भरी दोपहर को क्वार्टरों और ब्लाकों में घूमते फिरना। उन दिनों पंखे-वंखे कहाँ होते थे। लोग-बाग लंच में खाना खाकर काम पर चले जाते तो बहुत-सी आंटियाँ या बहनजियाँ बरामदे में चारपाई डालकर

अस्त-व्यस्त सी सोया करतीं। उन्हें गर्मी की सुनसान दोपहर में निहारते रहने का सुख दरअसल फ़िजियालोजी-एनाटमी में पाठमाला की तरह था।

कम उम्र में कई तरह की छूटें होती हैं। किसी आँगन में अचानक जा निकले और देखा कि चाची जी, ताई जी या मौसी जी नहा रही हैं तो दोनों में किसी को भी झिझक नहीं होती थी। इस बीच संस्कृत नाटकों के हिन्दी अनुवाद हाथ लगे तो समझ में आया कि हमारे पुरखे क्यों महान थे। देह दर्शन टुकड़ों और किस्तों में चलते-चलते एक बार जब विराट रूप दिखाई दे गया तो छक्के छूट गये, स्त्री देह इतनी वितृष्णाजनक होती है, यह सपने में भी नहीं सोचा होगा। किताबों में पढ़-पढ़कर एक जो खाका दिमाग में था वह इस बेडौल तरबूजियत से कहीं मेल नहीं खाता था। यह तो बरसों बाद द विंसी, पिकासो, आरा के न्यूड्स या मुगलकालीन मिनियेचर पेंटिंग्स देखकर महसूस हुआ कि यही है जन्त की तथाकथित हूँ का तथाकथित सौंदर्य। खैर उस समय तो ऐसी विरक्ति हुई कि खेल-खेल में भी उन्हें देखने की इच्छा नहीं होती थी। धर्म, भूगोल और विज्ञान में रुचि बढ़ने लगी। महज एक पोस्टकार्ड डालने पर अमेरिकन रिपोर्टर, सोवियत लैंड और जर्मन न्यूज प्रकाशन डाक से मुफ्त मिलने लगे तो लगा कि सितारों के आगे जहाँ और भी है। बुलगानिन और खुश्चेव भारत यात्रा पर आये तो जोश में आकर स्टालिन, लेनिन और मार्क्स की जीवनियाँ पढ़ डालीं और पक्का साम्यवादी हो गया। सोवियत लैंड में वहाँ के मनभावन नजारे, पुष्ट नागरिक, गदबदे बच्चे और लहलहाते खेत देखकर तबीयत बाग-बाग हो जाती थी।

बचपन में नई नवेली आँखों के लिए इस रंग बदलती दुनिया का नजारा किसी केलिडास्कोप की तरह होता है। धीरे-धीरे नलकी को घुमाते रहिये दृश्य बदलता रहेगा। नारी देह के प्रति विरक्ति और कथाओं, उपन्यासों के जरिये हृदय में प्रबल प्लेटोनिक प्रेम में ज्वार उठना लगभग एक ही समय में होता रहा। एक दफे रिहर्सल के लिए एक हाथ लंबी नायिका के घर गया तो वह बाल सुखाने बैठी थी। घनी केशराशि चाँद से चेहरे के गिर्द जिस तरह छितराई थी और संपूर्ण देह से एक अजीब-सी गंध उठ रही थी, जो न तो सुगंध थी, न दुर्गंध। तब से इस मारक गंध को बार-बार, समय-समय पर अनेक मायाओं से उठते देखता रहा हूँ। यह

कस्तूरी गंध है या भोपाल वाली गैस, भगवान जाने परंतु मेरी बालसुलभ भटकाव भरी धारणाओं को महिलाओं ने सहजता से नहीं लिया और इसके लिए समय-समय पर क्रमशः यथोचित दंड देने का सिलसिला अभी तक बनाये रखा, लेकिन इस मुद्दे पर यह नीतिगत स्पष्टीकरण देना है कि यकायक परलोकगमन का यह कोई कारण नहीं है। हालाँकि हो सकता था।

‘कोई माने या न माने लिखने-पढ़ने में डूबे रहने वाले व्यक्ति स्त्रियों के बारे में कुछ ज़रूरत से ज़्यादा ही सोचते हैं। यह उनकी विवशता है, क्योंकि ये लोग ठलुए और निकम्मे होते हैं। इन्हें गर्भस्थ शिशु की तरह आराम से पड़े रहने, सपने देखने और मुस्कुराने में मजा आता है। गर्भनाल से जुड़े रहकर ही आराम से खाना-पीना हो सकता है। बाद में तो लगभग हर चीज़ के लिए खटना पड़ता है। तो मैं कह रहा था कि स्त्रियों ने मुझे कभी माफ नहीं किया। बात सिर्फ बदसूरती, चेहरे से बरसती फटकार और टटपुंजियेपन तक ही सीमित होती तो भी माफ़ी की गुंजाइश थी लेकिन एक जिद थी, मैंच्या मैं तो चाँद खिलौना लैहों! जिद पर तो उनका एकाधिकार है, पुरुषों में इसे देखकर उन्हें रूहानी तकलीफ होती है। स्त्री की विराट सत्ता है- किसी जार, नीरो या निरंकुश तानाशाह की सी, यह बात और है कि क्षेत्र अंदर का होता है। वहाँ जरा भी ना नुकूर, असहमति या बगावत बर्दाश्त नहीं है। पहली सजा होती है पानी बंद, हुक्का बाद में बंद होता है। पानी वाला मामला यूँ है कि आप यकीन करें हर स्त्री के अंदर दो कुँए होते हैं, एक मीठे पानी का, एक खारे जल का। जरा भी बदगुमानी या बगावत की बू आते ही पहली सजा यह मिलती है कि मीठे कुँए का पानी मिलना बंद हो जाता है। मुझे तो यूँ लगता है कि दो-तिहाई आबादी खारे पानी को पी-पीकर ही दिन काट रही है। खारा भी शुरू में कुछ दिन लगता है, बाद में आदत हो जाती है। यह भी अनुभूति बराबर बनी रहती है कि खारा जल भी नियामत है। यह भी बंद कर दिया गया तो क्या होगा।

अपने को बहुत तुर्रमखाँ समझने वाले कई दिग्गजों को मैंने अपनी आँखों मीठे पानी के लिए अंदर ही अंदर तड़फड़ाते हुए देखा है। हुक्का बंद होना उतना कष्टप्रद नहीं होता क्योंकि उसके पहले मिल चुकी सजायें उस समय तक कोमल बिरवों को तबाह कर चुकी होती हैं। यहाँ यह मात्र

इसलिए प्रासंगिक है कि खारा जल पीकर पले लेखकों ने कहीं बेहतर लिखा है। उनकी कलम के तेजाब ने पाठकों की भावनाओं को धुआँ-धुआँ होने के लिए विवश किया है और यह भी कि एक समर्थ सर्जक भी स्त्री की तरह ही दो कुएँ वाला खेत होता है। वह अपनी रचनाओं की फसल को कभी मीठे तो कभी खारे जल से सींचता है। उससे हमेशा मीठे या खारे जल की माँग करते रहना अनुचित है। लेखक होना न तो कामदी है न त्रासदी। बीच की स्थिति है।

उन्नीस सौ इकसठ। उन दिनों राजकमल वालों ने पाकेट बुकों का प्रकाशन शुरू किया था। पाँच लंबी कहानियाँ, सारा आकाश, मैला आंचल ऐसी पुस्तकें रुपये दो रुपये में। गुनाहों का देवता, सजिल्द पाँच रुपये से भी कम में उपलब्ध था लेकिन किताबें तब भी नहीं बिकती थीं। हाँ, शरत साहित्य की भरमार थी। मध्यवर्गीय पाठकों की रुचि में बदलाव आ रहा था। कुशवाहा कांत, प्यारेलाल आवारा, दत्त भारती और आदिल रशीद के बजाय वे धर्मवीर भारती, रेणु, मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव और कृष्णचंद्र को पसंद करने लगे थे।

तो हो गया प्लेटोनिक लव।

बचपन में जो पाठ पढ़ा वह कभी भूल सकता है कि दो तरह के बालक जन्मते हैं- एक तो सुंदर, स्वस्थ, प्यारे-प्यारे यानी चिकने और दूसरे फूटी आँख न सुहानेवाले, बदसूरत, बेजार खुरदुरे। ये चिकने या चिकन जल्दी ही समझ लेते हैं कि दुनिया 'उन्हीं को चाहती है, माँ से लेकर दुनिया की आखिरी औरत तक का सारा प्यार दुलार, चुम्मा चाटी इनके खाते में लिखी होती है। होने को यूँ तो बदसूरत और भद्दे धन पशुओं को भी बहुत सी सुंदरियाँ चाटने को बेताब रहती हैं, मगर वह नाटक होता है, सच्चा प्रेम नहीं। चिकनों को स्त्रियाँ ही क्यों पुरुष भी चाहते हैं। चिकन यथाशक्ति जीवनपर्यंत उन सबका शोषण करता है जो उसे चाहते हैं जबकि खुरदुरों को उनसे जमकर शोषण करवाना पड़ता है।

किताबों के आगे-पीछे और बीच में रहते-रहते, पुस्तक-कीट या संक्षेप में पुस्तकीट की उपाधि से विभूषित होते-होते जब ज्ञानघट कुछ भरा तो यह बात दिल में जड़ जमा बैठी कि इस दुनिया में तो दुनियाएँ हैं, एक अमीरों की और एक गरीबों की। हाल यह है कि आदिकाल से ही घटिया से घटिया लेखक, टटपूजियाँ से टटपूजियाँ कलाकार भी गरीबों

की फिक्र में दुबला होता आया है। अब चूँकि तीसरी दुनिया का अनुसंधान मैंने नहीं किया था इसलिए यह मानना पड़ा कि अपनी तो गरीबों वाली दुनिया है हालाँकि मंगतों, बोझा ढोनेवाले कुलियों, रिक्शा ठेला खींचने वालों या इमारतें बनाने में जुटे मजूरों को देखकर उनसे अपनी पहचान इस बिना पर करते नहीं बनती थी कि हम हर महीने राशन की चीनी और मिट्टी का तेल लेते हैं। खैर, यह रूमान इसलिए भी सिर चढ़ा कि इसमें चिकने और खुरदुरे जैसा वाहियात वर्गीकरण नहीं था।

सोवियत लैंड और चाइना रिकंस्ट्रक्ट के साथ-साथ 'पापी' अमेरिका रिपोर्टर भी पढ़ना पड़ता था क्योंकि वह निःशुल्क मात्र एक पोस्टकार्ड डाल देने भर से आने लगा था। यूँ तो अपनी नज़र गरीबों के बहिश्त पर लगी थी मगर 'दुश्मन' की चालबाजियों को भी समझना ज़रूरी था। उधर वयःसंधि काल गुज़र जाने के कारण ओटो इरोटिसिज्म का उफान भी उठने लगा था। ये पत्रिकाएँ उस दृष्टि से भी उपयोगी थीं। इन्हें देखकर लगता था कि इस दुनिया में सिर्फ चिकन ही चिकन हैं, खुरदुरा कोई है ही नहीं। तभी यह शेर खूब मन भाया-

इन हसीनों को बनाया है खुदा ने अपने हाथों से,
एक हम ही हैं जो टेके पे बनवाये गये।

'उन्हीं दिनों ठठ्ठर के ठठ्ठर ठठरीनुमा गरीबों की इस पावनभूमि पर पवित्र देवदूतों की तरह खुश्चेव और बुलगानिन आकाश मार्ग से आकर उतरे। उन्हें देखकर लंगोटीवाले मसीहा के देश की जनता की आँखें खुली की खुली रह गयीं। कहाँ के बढ़ई, लोहार वे तो हमारे जवाहर से भी ज़्यादा अभिजात, कमनीय और लकदक थे। उनका सुनहरा रंग, गालों की लाली और हृष्ट-पुष्ट देह उन्हें इस देश के गरीबों की सूखी सड़ी दुनिया से जोड़ने में असमर्थ थी। खूब पलक-पांवड़े बिछे, हर ओर भाई-भाई होने लगी। उन दिनों समाजवाद के सपने देखने का राष्ट्रीय शगल शुरू हुआ ही था। क्राँतिनायकों की इस बारात में चिकन ही चिकन देखकर धक्का-सा लगा और घबराकर लोहिया की शरण ली।

लोहिया को पहली बार देखा और सुना देहरादून में, फिर कोटा में-उस अचिकन, दो टूक, चिरकुमार नायक का दीवाना हो जाने में भी क्या मजा था! लोकसभा में लोहिया-

उन दिनों अंग्रेज़ी के अख़बार में लोकसभा की कार्यवाही का सांगोपांग विवरण देते थे। नाटक की स्क्रिप्ट की तरह। हमेशा हिन्दी में बोलने वाले उस अद्भुत वक्ता के भाषण और वाक्चातुर्य की ख़बर अंग्रेज़ी में पढ़नी पड़ती थी। लोहिया के भाषण नयी कहानी की तर्ज पर और लगभग वैसे ही भाषा में होते थे। लोहियावादियों में अपने तमाम खुरदुरेपन के बावजूद एक विशेष किस्म का सौंदर्य-बोध था। कॉफ़ी हाऊस में लोहिया हिन्दी के लेखकों से अंतरंग वार्तालाप करते, ठहाके लगाते। उनके भाषणों की पुस्तिकाएँ छपने और हाथों हाथ बिकने लगी थीं। नयी कहानियाँ, कहानी, लहर, वातायन, कल्पना और लोकसभा में लोहिया। क्या मुग्धकारी क्षण थे।

लोहिया जनजीवन, विशेषतः मध्यवर्ग की जीवन-शैली पर आरोपित ढोंग की काट थे। उन्होंने बाबुओं के सर से अंग्रेज़ियत का भूत उतारने का जो ऐतिहासिक अभियान छेड़ा था, अफसोस उनके बाद जारी नहीं रह सका। संयुक्त समाजवादी दल को विरासत में भले ही लोहिया की मेधा मिली हो परंतु राजनारायण सरीखे शिष्यों का विदूषकत्व ही हावी हुआ। लोहियावादी लेखकों, कवियों और पत्रकारों ने अलबत्ता काफ़ी धूम मचाये रखी। 'दिनमान' जैसा प्रखर साप्ताहिक लोहिया और अज्ञेय के वर्णसंकर के रूप में ही जन्म सकता था। जाने कहाँ गये वो दिन धीरे-धीरे लोहिया स्मृति विलोप होने लगी। आज के इस घटाटोप कुर्सीवाद में लोहिया की आवाज़ कहीं किसी कोने से नहीं सुनायी देती। ले देकर एक मुलायम सिंह हैं जो कभी-कभार लोहिया को याद कर लेते हैं, संभवतः रस्म अदायगी के लिए। हाँ, एक बार उन्होंने मुख्यमंत्री रहते हुए जिस तरह से सार्वजनिक मंच पर, उसी दिन से प्रदेश का सारा कामकाज हिन्दी में किये जाने की घोषणा की उससे लगा कि उन्होंने लोहिया का तर्पण कर दिया। उस दिन समाचार पढ़कर मैं भावुक हो उठा। मन में आया कि एक निश्चल आदर्श औसत भारतीय की तरह मुलायम को गले लगाकर रोऊँ। यह होता है लोहियावादी पर शरच्चंद्रियन प्रभाव, बहरहाल ब्लैक कैट कमांडों से घिरे मुलायम से भला कौन गले मिल सकता है!

रेणु मन भाया तो फिर से सौंदर्य-बोध जागा। लोहिया और नई कहानी ने विराट स्वरूप दर्शन से लगे मानसिक आघात से उबरने में बड़ी मदद की। अज्ञेय ने मन में बिठा दिया कि पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ भी सुंदर होती हैं और उनके पाँव

चांदनी, कबूतर और खरगोश की तरह, उजले और जिंदगी भर सहलाने योग्य होते हैं। सौभाग्य से एक बार अज्ञेय जी को पास से देखने का सुअवसर मिला। गिरिराज किशोर जी के यहाँ नाश्ते की टेबल पर। मुझे वे हाव-भाव और नख-शिख विन्यास से बिल्कुल हेमा मालिनी की तरह लगे। मन में कहा ये हैं- सुपर चिकन! उनके आगे-पीछे लोग बिछ-बिछ जाते थे। भले ही उन्होंने अपने विकासकाल में मैथिलीशरण गुप्त और जैनेन्द्र जी की चिलम भरी हो मगर मजाल है कि कहीं छाया भी पड़ी हो उन पर। खैर, वह देवलोक के प्राणी थे, ठेके पर बनवाये गये बुतों से उनको क्या लेना-देना था!

जब अपनी सामाजिकता को टटोला तो पाया कि मध्यवर्गीय ढोल जबरन गले में डाल दिया गया है। बजाओ, साले खूब बजाओ- जिंदगी भर बजाते रहो। उस ढोंग से, उस ढोल से पीछा छुड़ाने के लिए लेखन की ठानी। गुजिश्ता जिंदगी से कुछ तिलमिलाते टुकड़े लिये और कहानियाँ लिख डालीं। मान न मान, मैं तेरा मेहमान की तर्ज पर कुछ इस बेतकल्लुफ़ी से साहित्य के दरवाज़े पर जा धमके कि प्रवेश मिल ही गया। श्रीपत राय, मनोहर श्याम जोशी, कमलेश्वर, भारती जैसे संपादकों ने पहली कहानी से ही जिस तरह हौसला अफजाई की, उससे गद्गद् होते हुए मैंने कहा, "होनी, जैसे राजेन्द्र राव के दिन फिर वैसे ही सबके फेरना!" तब कहाँ मालूम था कि सबसे ज़्यादा कटैय्या लेखन में ही होगी।

खूब लिखा, खूब छपा। पत्रकारिता भी की। रिपोर्ताज लिखे, पुस्तक समीक्षाएँ लिखीं और एक के बाद एक कई कालम लिखे। कहानियों की हमेशा माँग रही। कुछ संकलन छपे, पैसा मिलता रहा। पाठकों के पत्र, एक पहचान हुई लेखक के रूप में। बस इसके आगे कुछ नहीं। किसी भी गुट, गुप या रेवड़ में शामिल न होने, राजनीतिक प्रतिबद्धता का पट्टा गले में न डालने और सबसे बड़ी बात कि तमाम साहित्य के ठेकेदारों को टेंगे पर रखने का खामियाजा भुगतना पड़ा। अपनी साफ़गोई और कालमों में दो टूक लिखने की धृष्टताओं के चलते कोई 25-26 लोगों का एक खारू-पिऊ क्रिस्म का माफ़िया इस समय के निर्जीव, पाठकहीन कथा-साहित्य का मूल्यांकन समीक्षा करने का ठेका लिये बैठा है, उसे न तो मेरे जैसे लोग फूटी आँख सुहाते हैं न मुझे उनके जैसे लोग। हिन्दी कहानी में इस समय एक दर्जन चिकन हैं, आधे पुराने, आधे नये। इसके अतिरिक्त कोई

आधा दर्जन ऐसे नाम हैं जो चिकन तो नहीं हैं मगर गाँठ के पूरे या प्रभावशाली पदों पर आरूढ़ हैं। बाकी सब अनाथ अपाहिज और सुदामा हैं जिन्हें लिखते रहने की बेहयाई को त्यागकर चिकनों का रास्ता छोड़ देना चाहिए और चुल्लू भर पानी में डूब मरना चाहिए। अर्थात् मौका मिलते ही मर जाना चाहिए।

साहित्य के नखलिस्तान में शुरू में बहुत मौज आती है। हरा ही हरा दिखाई देता है। शोकेस में सजी किताबें, पत्रिकाओं में मनभावन रंगोलियों के साथ छपी रचनाएँ, लेखिकाओं के तिलिस्मी फोटो, पाठक-पाठिकाओं के पत्र, इक्की-दुक्की कुछ खास सराहनाएँ, ललचाऊँ पुरस्कार, रंगीन गोष्ठियाँ, छपे हुए कागज की गंध, पोस्टमैन की घंटी, बांकी कम्प्यूटरी अदाओं वाले किसिम किसिम के चेक- एक सम्मोहन-सा छा जाता है। आँखें बंद कीं और विचित्र लोक में पहुँच गये। दाद में खुजली की तरह आकाशवाणी और दूरदर्शन के अनुबंध टपकने लगते हैं। लेकिन धीरे-धीरे असलियत खुलती है।

प्रकाशक, संपादक, समकालीन लेखक, समीक्षक, आलोचक ये सब मिलकर और अलग-अलग फूले हुए लेखक की खाल उतारते हैं। जो इस अमानवीय यंत्रणा को सह जाता है, उसकी खाल को छँह में सुखाकर उसमें वैचारिक भूसा भर दिया जाता है और लो, हो गया एक और नयी सम्भावना का जन्म। जहाँ तक कथा-साहित्य का संदर्भ है कहिये तो ऐसे कम से कम एक दर्जन चर्चित कथाकारों के नाम गिनवा दूँ जिनके साथ यह हुआ है। उनके खाल उतारे शरीर अपनी आत्माओं सहित उसी नाबदान के पास पड़े हैं जहाँ कोई नशे में धुत पड़ा धीमे स्वर में, अटक-अटककर गा रहा है-

“इस दुनिया में बरबाद दिलों का/ जीना क्या और मरना क्या/ आज तेरी महफिल से उठे/ कल दुनिया से उठ जायेंगे।”

मानता हूँ कि मर जाने के बावजूद मेरे फ्रस्ट्रेशंस बोल रहे हैं। फ्रस्टेटेड हुए बगैर भी भला कोई कागज कारे करने को उतारू होता है? क्या ये तथाकथित चर्चित कथाकार फ्रस्टेटेड नहीं हैं जिनके खाल में भूसा भरा हुआ है, जो बंबुओं की तरह अलग-अलग हुकों में लटक रहे हैं। क्या वे फ्रस्टेटेड

नहीं है जिनके मायावी चित्र छपते हैं और बिहार के प्रतिक्रिया लिखने वालों में खलबली मच जाती है-

“जिसमें सौ-सौ बरस की हूरें हो। ऐसी जन्नत को क्या करे कोई।”

अफसोस यही रहा कि जिस ढोंग और छद्म से पिंड छुड़ाने के लिए लिखाड़ियों की दुनिया में आये, वहाँ तो ढोंग और दिखावे का ही बोलबाला दिखाई पड़ा। सात्विक कर्म तो सिर्फ एक ही है लिखना। छपना, छपाना, छपे हुए को भुनाना, चर्चित कराना। एक-दूसरे से डाह, हसद, ईर्ष्या, झूठी तारीफ पर फूलकर कुप्पा या कुप्पी होते लोग। खुशामद के दलदल में गर्दन तक धंसे संपादक, लेखकों को फूटी कौड़ी भी न देकर, अहसान लादने वाले प्रकाशक, अकादमियों में बैठे दलाल, नीम पागल से कद्राँ। कितनी तारीफ की जाये इस साहित्य नगरी की जिस व्यवस्था को पानी पी-पीकर कोसते जीवन बिताया, उसने दस-पाँच हज़ार का भी पुरस्कार दिखा दिया तो टूट पड़ेंगे। कोई आला अफसर, मंत्री या उद्योगपति कविता-अविता लिखने लगे फिर देखिये, कैसे गुड़ पर चींटे चिपट जाते हैं। और जैसा कि हर ढोंगी समाज के साथ होता है, इसके सदस्यों को धीरे-धीरे ढोंग ही जीवन मूल्य के रूप में स्वीकार्य होने लगता है। बाद में तो ऐसी दशा हो जाती है कि ढोंग के खोल से बाहर निकलने को मन ही नहीं चाहता। थोड़ी देर के लिए भी मुखौटा उतरा कि लगे जल बिन मीन की तरह तड़फने। मजे की बात यह है कि ये समझते हैं हम जनता को उल्लू बना रहे हैं लेकिन होता ठीक उलट है। इन खुदाई फौजदारों ने पूँजीवाद, शोषण, उत्पीड़न, सांप्रदायिकता, भ्रष्टाचार-जिस भी प्रवृत्ति के विरुद्ध मुहिम खोली, अपनी कलम से आग उगली, उसने उतना ही जोर पकड़ा। स्वातंत्र्योत्तर चार दशक तक लगातार उपदेशामृत पिलाने के बाद अगर ये आँख खेलकर देखें तो सचमुच आँखें खुल जायें। यह ढोंग, यह फरेब, यह आत्म-प्रवंचना जिसे मंजूर नहीं वह उठाये अपना बोरिया-बिस्तर और इन खूसटों की दुनिया से हमेशा के लिए दफा हो जाये। यही किया हमने।

तो मित्रो, शोक सभा की कोई ज़रूरत नहीं। मरना भी तो एक ढोंग है।

हंस, सितम्बर 1993 से साभार



राजेन्द्र राव

कहानियाँ

राजेन्द्र राव

नौसिखिया

उसने बाँक में डेढ़ इंची सरिया बाँधी और हैक्सों से अपने लिए टुकड़ा काटने लगा। उस समय तक मशीन-शॉप में काम चालू नहीं हुआ था। मशीनें अभी सो रही थीं; वर्कर कपड़े बदल रहे थे, टेरीकॉट की पैंट उतारकर मैले खाकी एप्रन पहन रहे थे।

उसे भी खाकी ओवरऑल मिल सकता था, मगर वह नहीं चाहता था। जो कपड़े पहनकर आया था, उन्हीं में काम करने लगा। उसे खाकी से चिढ़ थी। लेकिन आगे चलकर उसे अपने विचार बदलने पड़े, जब उसकी बहनों ने उसके उतारे कपड़ों से आने वाली पसीने की सख्त बू, काले धब्बों और तेल के छींटों से परेशान होकर पूछा, “भैया, आप कपड़े क्यों ख़राब कर लाते हैं; क्या हाथ से काम करना पड़ता है?”

इंजीनियरिंग कॉलेज में भी वर्कशॉप की खाकी ड्रेस होती थी। मगर वहाँ कलफ लगी पहनकर जाते और वैसे ही लौट आते थे। वहाँ भी मशीन-शॉप थी, अन्य कई शॉप थीं, मगर मस्ती में काम होता था। आधे से अधिक, और कभी-कभी तो पूरा ही जॉब इंस्ट्रक्टर लोग बना देते थे। इम्तहान के मौके पर सारे स्टूडेंट चंदा करके इंस्ट्रक्टरों को खिला-पिला देते थे, पिक्चरें दिखा देते थे- सबका बेड़ा पार!

वहाँ इंस्ट्रक्टर आई.टी.आई. पास टेक्नीशियन होते थे। इंजीनियरिंग कॉलेज में उनकी कोई पूछ नहीं होती थी। वे छात्रों के अभिजात वातावरण में यूँ ही दबे-सहमे रहते थे, सख्ती करना तो दूर की बात रही।

वह कॉलेज के दिनों की याद में डूबा, हैक्सों चलाये जा रहा था। लोहा बहुत धीरे-धीरे कट रहा था। उसने पहले जॉब की ड्रॉइंग देखी- दुनिया भर के ऑपरेशन उसमें करने थे। वह अधीर हो उठा। आरी चलाने की रफ़्तार बढ़ाता गया अंधाधुंध। ब्लेड के दाँते खराब होते गए, लोहा कटना बंद हो गया। उसे जब तक अपनी गलती पता चले, ज़न्न से ब्लेड टूट गया।

वह शर्मसार होकर इधर-उधर देखने लगा। उसे लगा कि आसपास के वर्कर उसकी हँसी उड़ा रहे हैं, मगर किसी का भी ध्यान उसकी तरफ़ नहीं था। वह पसीने में तर-ब-तर, हाँफता हुआ, हैक्सों में दूसरा ब्लेड चढ़ाने लगा।

लोहा फिर कटने लगा। गर्मी के दिन थे, उसकी बनियान और बुशशर्ट भीगकर चिपक गयी। उसने बुशशर्ट उतारकर टाँग दी, कुछ राहत-सी मिली।

कुछ देर लगातार आरी चलाकर उसने अपना पीस काट लिया-साढ़े पाँच इंच का सरिये का टुकड़ा। दिये गये स्केच की सहायता से मार्किंग करनी थी, जॉब को लेथ में बाँधकर स्टेप-टर्निंग करनी थी, फिर टेपर बनाना था, फिर ड्रिलिंग। उसे जरा भी भरोसा नहीं था अपने पर, कि यह सब वह कर पाएगा। पसीने की धारें बह चलीं...

जिस दिन उसे ज्वाँइन करना था, वह सुबह बहुत जल्दी उठ गया, शायद ज़िन्दगी में उग रहे नये सूरज को देखने के चाव से रात भर सपनों की तस्वीरें देखता रहा था। अलस्सुबह उसने शोव बनायी, नहा-धोकर बना-सँवरा। कई बार अपॉइंटमेंट-लेटर को हैंडबैग में रखा और बाहर निकाला। गुनगुनाहट थी कि बंद होने का नाम ही नहीं लेती थी। आखिर सात बजे वह बैग लेकर निकलने को हुआ।

घर की देहरी लाँघने से पहले माँ ने उसे ठाकुर जी की मूर्ति के सामने हाथ जोड़ने, मत्था टेकने को बाध्य किया, रोली-चंदन का टीका माथे पर लगाया। उसके घर के लोग आँखों में चमक के साथ, उसे जाते देख रहे थे। माँ ने ठाकुर जी की मूर्ति से कहा, “धन्य भाग प्रभो, तुमरी कृपा से यह दिन देखने को मिला!”

बात सच थी। डिग्री पास करने के बाद अठारह महीने वह घर बैठा रहा था। जाने कितनी एप्लीकेशन, पोस्टल

ऑर्डर, लिखित परीक्षा, इंटरव्यू झेलकर यह मुबारक दिन आया था। इस दिन के लिए उसके परिवार ने बरसों अभाव में गुज़ारे थे।

बी.एससी. के बाद उसे इंजीनियरिंग पढ़ाने का निर्णय उसके पिता ने अपनी परिस्थितियों के विरुद्ध लिया था। इन चार सालों में उनकी कमर टूट गयी। महँगाई दिनोंदिन बढ़ती जाती थी। वह था, पाँच बहनें थीं- सबके-सब पढ़ने वाले। बिना छोंकी दाल, राशन के लाल गेहूँ की रोटियाँ, फटे कॉलर वाली कमीजें, तार-तार धोतियाँ। उसकी बहनें अक्सर कंट्रोल के मोटे हरे खहर के कुरते-पायजामें पहने रहती थीं। मुश्किल-से-मुश्किल वक्त आया, मगर उसकी पढ़ाई नहीं रुकी। पिता ने अपनी खूनी पेचिश को आंतों में ही समेटे रखा, इलाज नहीं करवाया। माँ टूटे फ़ेमवाला चश्मा पहनकर काम चलाती रहीं, नया नहीं ख़रीदा गया। इसके अलावा दफ़्तर से हर तरह का लोन उसके पिता ने ले रखा था। पठान से सूद पर रुपया लेने की नौबत आयी, तो उसकी माँ ने नहीं माना, अपने जेवर दे दिये।

ये कष्ट भरे दिन उन्होंने रोकर नहीं हँसकर काटे थे। उम्मीद उनका संबल होती थी! वह था भी मेधावी। हाई स्कूल से बी.ई. तक हमेशा फ़र्स्ट डिवीजन में पास होता रहा था। मुहल्ले-पड़ोस के लोग अपने बच्चों को उसकी नज़ीर दिया करते थे।

उसके मैनेजर ने मशीन-शाॉप में ले जाकर उसे चार्जमैन से मिलवाया, तो उसे निराशा-सी हुई। शाॉप के एक कोने में तीन-चार अलमारियों का पार्टीशन-सा बना कर उसके बैठने की जगह बनायी गयी थी। छोटी-सी मेज़ और एक लोहे की फ़ोल्डिंग चेयर उसने अपने लिए अलग केबिन और बड़ी-सी मेज़ की कल्पना की थी, और बाहर स्टूल पर बैठा एक चपरासी। यहाँ वैसा कुछ नहीं था। बहुत बड़ा हँगर था, मशीनों और आदमियों से भरा हुआ।

वह मैकेनिकल इंजीनियर ज़रूर हो गया था, फिर भी काम की जगह को वह दफ़्तर ही समझता आया था। उसके पिता क्लर्क थे, हमेशा ‘दफ़्तर जा रहा हूँ’ कहते आये थे। यही संस्कार उस पर हावी था।

चार्जमैन के साथ एक-एक करके सब वर्करों से

मिला। उसने मुस्कराकर हरेक से हाथ मिलाया, और हरेक को जता दिया कि 'आई हैब पासड डिग्री इन मैकेनिकल इंजीनियरिंग' ताकि किसी को मुगालता नहीं रहे और उसे उचित सम्मान मिले। उसने पाया कि हरेक के हाथ गंदे और चिकने हैं- सबसे हाथ मिलाने के चक्कर में उसके हाथ तेल में सन गये, बड़ी दिक्कत महसूस हुई, न जेब में हाथ डाल सकता है, न जेब से रूमाल निकाल सकता है।

थोड़ी ही देर में उसे मालूम हो गया कि शॉप के लोग उसका स्वागत करने के मूड में नहीं हैं। वजह भी मालूम पड़ गयी। बात यह थी कि शॉप का चार्जमैन खरे बहुत सीनियर था और प्रमोशन की अपेक्षा रखता था, लेकिन असिस्टेंट फोरमैन की पोस्ट ओपेन सलेक्शन में भरी गयी। डिग्रीवालों के मुकाबले खरे को कौन पृच्छता! वह शायद नॉन-मैट्रिक था। उसे लगा कि खरे उसके साथ मन-ही-मन शत्रुता का भाव रखता है।

वह कुर्सी पर बैठकर मेज के कागज़ पढ़ने लगा-हाजिरी रजिस्टर, फैंक्ट्री ऑर्डर, जॉब आर्डर वगैरह। वहाँ ज़्यादा सामान नहीं था। पढ़ चुका तो उठकर मशीनें देखने लगा। कुछ विदेश से आयातित थीं, कुछ भारत में बनी एच.एम.टी. की। हर मशीन पर काम चल रहा था, साथ ही कटिंग-ऑयल की फुहारें। टूल पर जलते तेल की गंध से उसका भेजा तर हो गया।

शॉप-मैनेजर राउंड पर आया। मद्रासी था, फरॉटे की अंग्रेजी बोलनेवाला मगर शॉप में आकर हिन्दी में बात कर रहा था। उसके हर सवाल का जवाब चार्जमैन के पास था। वह अदब में यूँ ही खड़ा रहा, मैनेजर ने उसकी तरफ़ देखा भी नहीं। वह मन में बुरा मानता हुआ उनके साथ ही चलता रहा। मैनेजर मशीन पर काम करने वालों से दोस्ताना ढंग से पेश आ रहा था। अजनबी कोई है तो मैं ही हूँ-उसने सोचा जाने क्या गुनाह किया है मैंने!

शॉप के आगे तक पहुँचाकर जब चार्जमैन लौट गया, तो उसने मैनेजर से पूछा, "सर, मेरी ड्यूटीज़ बता दीजिए..."

"आप मशीन-शॉप के इंचार्ज हैं, यहाँ का काम आपको देखना है। कुछ दिन ऑब्ज़र्व करके इसके लिए

तैयार हो जाइए-" मैनेजर ने उसके कंधे पर हाथ रख कर कहा, तो उसकी उद्विग्नता जाती रही। वह प्रसन्नचित्त शॉप में लौटा और चार्जमैन से उसने कहा, "मुझे सब कुछ समझा दीजिए। कल से मैं ही सब देखूँगा..."

उसे क्या पता था कि यह उसकी नौकरी की शुरुआत और आखिरी प्रसन्नता है!

दूसरे दिन ड्यूटी पर पहुँचते ही उसने हाजिरी का फार्म भरा, सब टैक्नीशियनों के नंबर लिखकर अपने दस्तखत किया और टाइम-ऑफिस भेज दिया। चार्जमैन लंबे समय से यह काम करता आ रहा था, वह उसकी फुर्ती पर दंग रहा गया। यह काम उसने अपने आप देखकर समझ लिया था- इसका महत्त्व भी। क्योंकि अक्सर टैक्नीशियन लेट आते थे; और पैसे न कटें, इसके लिए चार्जमैन की खुशामद किया करते थे। अब चूँकि उसने हाजिरी भेज दी थी, इसलिए लेट आनेवालों के बचाव की कोई सूरत नहीं रह गयी थी। लोग आते गए, और वह उनकी लेट चिटें काटता रहा। वह उन पर अपने दृढ़ होने का प्रभाव डालना चाहता था।

एक बूढ़े खरादी ने उससे कह दिया, "बाबू, दस मिनट देर के लिए पैसे काटकर तुमने अच्छा नहीं किया!" उसने ऊपरी हँसी हँसकर जवाब दिया, "बड़े मियां, लेट आना तो एक आदत होती है! अब न हम लेट आएंगे, न किसी को आने देंगे..."

कुछ देर सब लोग उसे देख-देखकर आपस में कानाफूसी-सी करते रहे, फिर मशीनें चालू हो गयीं। उसने चैन की साँस ली और जॉब-ऑर्डर वगैरह पढ़ने लगा। कई कागज़ों पर उसने बतौर इंचार्ज दस्तखत किए। यह सब कोई खास बुरा नहीं- उसने सोचा अब मुझे हर मशीन की लोडिंग समझ लेनी चाहिए, ताकि मैनेजर राउंड पर आए तो उसे बताया जा सके।

वह उठने को ही था कि एक मिलर उसके पास आया। उसके हाथ में मिलिंग-कटर था, "साहब, इस कटर की धार खराब हो गयी, इसे ग्राइंड कर दीजिए..." उसने कहा। 'क्या? मैं ग्राइंड करूँ? फिर तुम किसलिए हो!' उसने भौं चढ़ाकर कहा।

“साहब जी, कटर ग्राइंड करना मुझे नहीं आता। जरा आप सिखा दीजिए...” वह बड़े नाटकीय ढंग से गिड़गिड़ाकर बोला।

उसे गुस्सा आने लगा था। फिर भी उसने रौब झाड़ना उचित नहीं समझा, नरमी से बोला, “पहले कैसे करते थे? क्या पहली बार काम कर रहे हो?”

“साहब जी, मैं तो हेल्पर था; अभी हाल में मेरा प्रमोशन हुआ है। ऐसा कटर मैंने पहले नहीं देखा। आप सिखा देंगे तो बड़ी मेहरबानी होगी...” वह और अधिक गिड़गिड़ाकर बोला।

उसने खुद वह कटर पहले नहीं देखा था, इस्तेमाल करना तो दूर की बात रही। हाँ, वर्कशॉप टेक्नालॉजी की किताब में उसका चित्र देखा था, धुंधली-सी स्मृति थी। बहुत कोशिश करने पर भी उसे कटर का नाम याद नहीं आया, लेकिन इस बात को वर्कर के सामने कैसे स्वीकारता! उसने कुछ झेंपकर कहा, “जाओ, चार्जमैन साहब से पूछो।”

“उन्होंने ही तो आपके पास भेजा है।” झल्लाकर वह उठ खड़ा हुआ। मिलर के हाथ से कटर लेकर वह चार्जमैन के पास गया और चिढ़े हुए स्वर में बोला, “देखिए, यह वर्कर मुझे कटर ग्राइंड करने को कह रहा है। कहता है, आपने भेजा है...”

“जी हाँ”, चार्जमैन ठंडे स्वर में बोला, “बात ये है कि आज अपना टूल-ग्राइंडर नहीं आया है- और मिलिंग में मेरी नॉलेज जरा कम है। मुझे आता तो मैं खुद कर देता। आपको आता हो तो कर दीजिए, नहीं तो...”

“नहीं तो क्या?”

“नहीं तो सेटलाइट वाला जॉब पिछड़ जाएगा। हमें जवाब देना पड़ेगा! आपको भी नहीं आता क्या?” उसने बड़ी सहानुभूतिपूर्ण मुद्रा दिखायी, “बात ये है कि पहले वाले असिस्टेंट फोरमैन अपने हाथ से काम करते थे। जाने कितनी चीजें हम लोगों को सिखा गए...”

वह इस स्थिति से उबरने का रास्ता खोजे, कि एक और आ गया-

“मैं केया फोरमैन साहब, मैनु वी कुछ दस्सो। ऐ जॉब उत्थे पंदताई नी...” उस खरादी के हाथ में एक आड़ा-टेढ़ा बड़ा-सा जॉब था- कोई भारी कास्टिंग। वह उसे मशीन पर बांधने का तरीका पूछ रहा था। उसने फिर चार्जमैन की तरफ देखा। चार्जमैन उसकी सहायता को चला गया।

उसे मशीन पर काम करनेवालों से दहशत होने लगी। सब जैसे उसके खिलाफ मुहिम बाँधे थे। एक के बाद एक प्रहार! कभी कोई खरादी स्ववायर-श्रेड काटने का टूल बनवाने आता, तो कभी मिलिंगवाला अपनी कोई समस्या लेकर। सब उसे हाथ से काम करके दिखाने की चुनौती देते आ रहे थे, और वह बराबर टाल रहा था।

उसका खयाल था कि असिस्टेंट फोरमैन के पद वाले अफसर से यह, हाथ से काम करनेवाली, अपेक्षा की ही नहीं जानी चाहिए। डिग्री होल्डर इंजीनियर निरीक्षण और प्रबंध के लिए होते हैं, न कि मजूदरों की तरह हाथ से काम करने के लिए...

बाहर से कई तरह के नये जॉब आये हुए थे। रूटीन जॉब के मामले में तो वह वर्करों से कह सकता था कि जैसे पहले करते थे, वैसे ही करो। मगर नये जॉब के बारे में हर बार वह चार्जमैन का मुँह देखता। ज्यों-त्यों दोपहर हुई, वर्कर लोग सोडे से हाथ धोकर अपने-अपने डिब्बे खोलकर खाने बैठ गए। वह यूँ ही गुमसुम बैठा रहा। डिब्बों में सीझ गए खानों की मारक महक चारों ओर फैल गयी थी। चार्जमैन ने अपना डिब्बा खोलकर उसे न्यौता, मगर उसने मना कर दिया। वे खाना खाकर उठे तो ऊधम होने लगा। वर्कर एक-दूसरे से अपने ढंग के मज़ाक करने लगे-उठा पटक, हँसी टट्टे, पकड़ा-धकड़ी और फाश गालियाँ। दूसरी शॉप के भी कई लोग आ गए थे।

चार्जमैन निर्विकार भाव से खैनी मल रहा था। उसने अपना चश्मा उतारकर रख लिया था। इससे उसकी आँखों का धुंधलापन खुल गया था। ‘वह एक बूढ़ा आदमी है’- उसने दया भाव से सोचा- ‘मैं नहीं आता तो इसे प्रमोशन मिल सकता था। मगर इसमें मेरा क्या कसूर है! मैं नहीं तो कोई और आता। और मैं, मेरे कंधों पर कितना बोझ है...’ उसकी आँखों के सामने उसकी माँ-बहनों और पिता के चेहरे

आ गए। सबकी आँखों में चमक थी, क्योंकि उसको नौकरी मिल गयी थी। छह नीले-बड़े सौ के और पाँच दस-दस के नोट, हर महीने। कुल मिलाकर देखा जाए तो हजार के आसपास का लाभ था परिवार को- उसकी पढ़ाई पर होने वाला खर्च, प्लस उसकी तनख्वाह। उसका दिल उमंग से भर गया। उसने मधुर कल्पना की पहली तारीख की, जिस दिन उसे पे मिलेगी। तब माँ का नया चश्मा, बहनों के बदन पर कंट्रोल के हरे खदर की जगह महीन प्रिंटवाले अच्छे कपड़े, बाबू जी के लिए नयी स्ट्रेच-लॉन की पतलून...

इस सपने के खुमार में उसे मशीन-ऑयल की गंध में मीठापन महसूस होने लगा, मशीनों की तेल से चमकती सतहें निहायत पवित्र लगीं। यही मेरा कर्म-क्षेत्र है- उसने तय किया यहीं मुक्ति मिलेगी। सुखी जीवन, खुशहाली...

लंच बीतते वह काफ़ी संतुष्ट हो चला था।

कारखाने के कई सुपरवाइज़र-चार्जमैन जत्था बनाकर उससे मिलने आये। उनमें कोई भी उसका हम-उम्र नहीं था, न ही डिग्री-डिप्लोमा वाला। ज़्यादातर तो एयरफोर्स के रिटायर्ड थे। सबके-सब अधेड़, टेक्नीशियन से तरक्की पाकर उठे हुए लोग।

वह सबसे गर्मजोशी से मिला, हाथ मिलाये। चाय का आयोजन हुआ। वहाँ चाय बहुत सस्ती थी दस पैसे की एक कप। इसीलिए पिलाना अखरता नहीं था। पहले तो इधर-उधर की बातचीत चली; फिर एक ने जिज्ञासा प्रकट की, “भई, तुम्हारा ट्रेड क्या है?”

“क्या मतलब? मैं समझा नहीं...”

“अरे भई, आपका पेरेंट-ट्रेड क्या है? एम.टी.एस. ओ. या कुछ और?”

“जी मैंने मैकेनिकल-इंजीनियरिंग पास की है बी.ई.। उसमें हमें थोड़ा-थोड़ा सभी ट्रेड पढ़ाये जाते हैं- मशीन शॉप से लेकर रेफ्रीजरेशन तक। कोई एक ट्रेड नहीं होता; हम लोगों को सभी कुछ पढ़ना पड़ता है।”

“हूँ। तभी तो आप प्रैक्टिकल हैंड नहीं हैं। सुना कि आपको टूल ग्राइंड करना नहीं आता- मेरी शॉप में वर्कर कह रहे थे।”

उसे यह बातचीत नागवार गुजर रही थी। उसने झिड़कने के ढंग से कहा, “मैं यहाँ हाथ से काम करने नहीं आया। मैंने डिग्री पास की है, आई.टी.आई. नहीं। टूल ग्राइंड करना मेरे लेवेल पर ज़रूरी नहीं है; वह तो एक मामूली वर्कर भी...”

एक चार्जमैन उसका हाथ दबाकर नरमी से बोला, “ओ पापे, तू तो गुस्सा हो गया। हम तो तेरे यार हैं। तेरी नयी नौकरी है, इसलिए बताते हैं कि अपना हाथ मशीनों पर साफ़ कर ले। यहाँ कई डिग्रीवाले आये और चले गए- टिका कोई नहीं। यहाँ का अफ़सर काम माँगता है, काम! यहाँ किसी ने डिज़ाइन नहीं बनानी। यहाँ तो मशीन चलानी होती है, टूल बनाने होते हैं। ये जो तेरा चार्जमैन बैठा है खरे, इसकी जिंदगी मशीन के ऊपर गुज़र गयी। जबरदस्त कारीगर है। मगर प्रमोशन का टाइम आया, तो डिग्री-डिप्लोमा वाले बुला लिए। इसे तो इंटरव्यू में भी नहीं बुलाया...”

उसका चार्जमैन खरे तैश में बोला, “आई.एम.ए. बॉर्न टर्नर। मुझे तो घुट्टी में मिली है। बारह साल का था, तब से इस ट्रेड में हूँ। शुरू के दो महीने तो जूट लेकर मशीन साफ़ करता था, और उस्ताद के गोड़ दबाता था। बस, बात इतनी है कि हाई स्कूल नहीं कर पाया। सड़ रहा हूँ- इस चार्जमैनी में, दस साल से...”

सुनते-सुनते वह गुस्से से उबलने लगा-समझते क्या हैं ये लोग अपने आपको। नॉन क्वालीफाइड, ज़ाहिल, दहकान कहीं के! तू-तू करके बोलते हैं- तमीज़ नहीं है बात करने की। इनकी उम्र में तो मैं जनरल मैनेजर हो जाऊँगा, डिग्री विद ट्वेंटी ईयर्स एक्सपीरिंस...

मगर ज़ाहिरा तौर पर वह ‘विषपायी जनम के’ बना रहा- सब कुछ पी गया। बस एक फीकी मुस्कान उन्हें प्रदान करता रहा।

उधर एक बुढ़वा चालू था, “अरे, हमने अंग्रेज का ज़माना देखा है। तब नहीं था कोई डिग्री-डिप्लोमा। काम के बूते पर साख बनती थी। उस वक़्त जाने कितने अंगूठा-टेक हिन्दुस्तानी कारीगर थे, जिन्हें अंग्रेज दिल से लगाकर रखता था। अब तो निकले चले आ रहे हैं। उन दिनों दिखाते अफ़सरी का जलाल! कोरी डिग्रियों ने ही तो इस मुल्क को चौपट किया है- हुंह!...” उन लोगों के जाते ही सीनियर टेक्नीशियन

ने उससे कहा, “ज़रा ब्यू-रूम चलकर जॉब इंस्पेक्ट कर लीजिए, उसके बाद इंस्पेक्शन में भेज देंगे।”

ब्यू-रूम में पहुँचकर वह हतप्रभ रह गया। दस-बारह जॉब बने तैयार रखे थे। नापने-जोखने के जाने कितने औजार वहाँ थे, एक से एक बढ़कर-माइक्रो-मीटर, बेबेल-प्रोटेक्टर, हाइट गेज, डेपथ गेज, वर्नियर, स्लिप गेज। और वह था कि उस समय माइक्रो-मीटर प्रयोग करने की प्रणाली उसे ठीक से याद नहीं आ रही थी। लीस्ट काउंट तो याद था, पॉइंट जीरो-जीरो वन, इंच का हजारवाँ हिस्सा; मगर सीधे और गोल पैमानों के निशान कितने गुणनखंड के होते हैं? अब नापे तो कैसे नापे! वर्नियर के साथ भी यही दिक्कत। वह अपनी कमजोरी को छिपाने पर तुल गया। उसने कहा, “बैठ यार, अभी देखते हैं।” और गुनगुनाते हुए माइक्रोमीटर का हिसाब लगाने लगा। कुछ ही देर बाद उसे सब मालूम पड़ गया। उसने अतिरिक्त आत्मविश्वास अपने में भरते हुए जॉब और माइक्रोमीटर उठाया, ड्राइंग से नाप पढ़ा। माइक पर रीडिंग पढ़कर हिसाब लगाने लगा, तो फिर सब गड्डु-मड्डु हो गया।

तंग होकर उसने अभिनय करना शुरू किया। बड़ी गंभीरता से ड्राइंग पढ़ता और फिर माइक्रोमीटर। उसने सारे जॉब पास कर दिए। उसे यकीन था कि बनाने वाले ने ठीक ही बनाये होंगे। हाइट गेज वगैरह का उसने बिलकुल इस्तेमाल नहीं किया। बेबेल प्रोटेक्टर एक बार उठाया तो, मगर उसके टुकड़े जोड़ने की तरकीब न मालूम होने से वापस रखना पड़ा।

सीनियर टेक्नीशियन कुछ समझदार था। उसने कहा, “साहब, मूड नहीं तो रहने दो, मैं चेक कर लेता हूँ- बस आप ड्राइंग से डाइमेंशन पढ़कर बोलते जाओ।” उसने तुरंत इस उदारतापूर्ण प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया।

हैरत से वह सीनियर टेक्नीशियन की दक्षता देखता रहा। फटाफट वह रीडिंग कर रहा था- तीन थारुडाउन, एक थारु अप, एकजैक्ट... उसे अपने ऊपर अफसोस हुआ। उसमें इच्छा जागी कि टेक्नीशियन से इन्स्ट्रूमेंट पढ़ना सीख ले। यहाँ सिर्फ हम दोनों ही हैं। कुछ शर्म तो आएगी, मगर हमेशा के लिए पाप कट जाएगा। यह तो रोज़ का काम है...

बहुत चाहने पर भी उससे पूछने का साहस वह नहीं बटोर पाया। इस कायरता पर उसे आत्मग्लानि हो रही थी। उसने कुछ निर्णय लिए कि आज शाम को घर पहुँचकर वर्कशॉप संबंधी तमाम पुस्तकें और नोट्स निकालकर पढ़ूँगा- ख़ास तौर पर मेजरिंग टूल्स की सारी बारीकियाँ, ताकि कल से यह संकोच न रहे। उसे इंजीनियरिंग कॉलेज की शिक्षा-प्रणाली पर भी असंतोष हो रहा था कि थ्योरी के बारे में रटा-रटाकर मार डालते हैं, लेकिन प्रैक्टिकल तो महज एक फॉर्मैलिटी है वहाँ। माइक्रोमीटर एक-दो बार इस्तेमाल किया था, मगर बाकी गेज सिर्फ किताब में पढ़े थे। हालाँकि वर्कशॉप-टेक्नालॉजी के प्रश्नपत्र में इन पर प्रश्न आते थे, इनके चित्र बनाने होते थे, आंकिक गणना भी। बस प्रयोग करने की ज़रूरत नहीं पड़ती थी...

उसने महसूस किया कि बेकारी के दिन, असल में आजादी के दिन थे। बड़ी बेफिक्री रहती थी, सिवा इस फिक्र के कि वह बेकार है। साथ ही तसल्ली भी होती थी कि वह अकेला ही ऐसा नहीं है, हज़ारों और भी हैं। उन दिनों सुबह आराम से उठता था, देर तक नहाता-धोता था, फिर अख़बार लेकर बैठ जाता था। दोपहर को पोस्ट ऑफिस, किसी-न-किसी अर्जी को पोस्ट करने। खाने के बाद नौद, पोस्टमैन की प्रतीक्षा, शाम की सैर, रात को देर तक दोस्तों से गपशप, और... वह जो मुहल्ले की एक लड़की थी, प्रभा, उससे उसका बहुत ही सात्विक किस्म का रोमांस न जाने कब से चल रहा था। प्रकटतः वे एक-दूसरे के प्रति लापरवाही-सी दिखाते थे, और अनेकानेक उपलब्ध अवसरों पर वादे-कसमें सपने लिया-दिया करते थे। प्रभा बी.एड. करके आर्य कन्या मंदिर में पढ़ाने लगी थी। वह चाहे सौ-डेढ़ सौ ही कमाती हो, लेकिन यह उसके लिए बड़ी ग्रंथि बन गयी थी। प्रभा का रुपये कमाना उसे कभी अच्छा नहीं लगा। वह पाँच-दस रुपये जेब-खर्च के लिए मोहताज रहा करता था- मजबूरी में उसने कई बार प्रभा से रुपये उधार लिये थे।

नौकरी लग जाने पर उसने और प्रभा ने बड़ी सूझ-बूझ और मशक्कत से आपसी बातचीत के कई मौके निकाले, जोखिम उठाकर भी। उसके उत्साह और खुशी की कोई सीमा नहीं थी। यह सुखदायी बातचीत धारावाहिक रूप से किस्तों में चल रही थी। हर दफे नये नमूने का घरौंदा बनाते और बिगाड़ते।

मगर धीरे-धीरे वह गंभीर होने लगा था। ड्यूटी के नाम से उसे झुरझुरी आने लगती। लुब्रीकेटिंग ऑयल की चिपचिपी गंध, लोहे की बेशुमार छीलन, ग्राइंडर की चिंगारियाँ, वहाँ बैठने वाली चीकट फोल्डिंग कुर्सियाँ, वर्करो के उपहास करते चेहरे, चार्जमैन का प्रतिद्वंद्वितापूर्ण व्यवहार, मैनेजर की उसके प्रति उपेक्षा, यह सब उसे अपने विरुद्ध लगता-उसके खिलाफ एक मोर्चा- एक मशीनी हृदयहीन साजिश...

उसे अपने मैनेजर से कॉशन-लेटर मिल गया था, जिसमें कार्यभार सँभालने संबंधी उसकी अक्षमता, व्यावहारिक ज्ञान की कमी, नेतृत्व का अभाव इत्यादि दोष गिनाकर चेतावनी दी गयी थी कि यदि निकट भविष्य में उसने प्रगति नहीं दिखाई, तो उसे नौकरी के अयोग्य समझा जा सकता है।

चपरासी यह कॉन्फीडेंशल लेटर लेकर आया, तो शॉप के सभी लोग उसकी ओर देखने लगे। उसने खोलकर पढ़ा, तो इतना नर्वस हो गया कि हाथ कंपकंपाने लगे, आँखों के आगे धुंध छाने लगी-अब क्या होगा!

नौकरी, उसे लगा, धीरे-धीरे हाथ से निकलती जा रही है। वह उसे रोक नहीं सकेगा। उसने देखा, चार्जमैन वर्करो से हँस-हँसकर बातें कर रहा था। मशीनें चल रही थीं, उनकी सम्मिलित आवाज़ उसे दानवी और खूंखार लगी। पहले सिर्फ कर्कश और अजनबीपन से भरपूर लगती थी। हर मशीन को आदमी के हाथ साध रहे थे, बड़ी सहज कुशलता से। उसे ईर्ष्या और द्वेष साथ-साथ हुए वह क्यों नहीं साध सकता? वह क्यों नहीं टूल ग्राइंड कर सकता, क्यों पेचदार चूड़ियाँ नहीं काट सकता? नालियाँ, उतार-चढ़ाव और गोलाइयाँ तराश नहीं सकता, आखिर क्यों?...

उसके अंदर से रुलाई-सी फूटने लगी। सारी फ़ैक्ट्री में बात फैलेगी कि नये डिग्री-होल्डर इंजीनियर को उसकी नालायकी के लिए चेतावनी मिली है। उसने मशीनी कोलाहल में अपने क्रंदन को सुना- क्या होगा? मेरा क्या होगा? मेरी जवान-फटेहाल बहनों की दमित इच्छाओं का क्या होगा? मेरी माँ क्या मरते दम तक टूटा चश्मा लगाये दाल में से कंकड़ बीनती रहेगी? मेरी नौकरी छूटेगी, तो क्या उन सबका भरोसा नहीं टूट जाएगा! सब सोचेंगे इसे हीरा समझे थे, पत्थर निकला।

क्या मैं नालायक हूँ? बरसों तपस्या की है मैंने। हमेशा फर्स्ट क्लास ली है क्या वह मेहनत नहीं थी? वह जो रात-रात भर जागकर, जलती आँखें लेकर किताबों में अपने को झोंकता रहा हूँ- क्या वह सब व्यर्थ है? मशीन-डिजाइन में मेरा डिस्टिंक्शन क्या महज धोखा था? था तो भी मेरा क्या कसूर है? मैंने वही सब तो पढ़ा, जो सलेबस में था, जो वहाँ पढ़ाया कराया जाता था, जो बड़े-बड़े धुरंधर इंजीनियरों ने नियत किया था। मैं रेती नहीं चला सकता, लेथ का टूल नहीं घिस सकता, ड्रिल पर धार नहीं लगा सकता, हाइट-गेज और बेवल-प्रोटेक्टर नहीं पढ़ सकता तो यह मेरी नालायकी नहीं, उन लोगों की है जिन्होंने मुझे फर्स्ट क्लास इंजीनियर घोषित किया है...

दो-तीन दिन उसने शॉप में, पराजित बंदी की तरह सिर झुकाये हुए बिताये। उसे अब कोई पूछता भी नहीं था। कुछ दबंग वर्कर तो चार्जमैन से उसके सामने ही कह देते, "इन्हें तो कनफर्मेशन मिलेगा नहीं, तुम्हारा ही प्रमोशन होगा!"

वह रोज मन में इरादा करता, 'आज शाम को प्रभा से साफ-साफ कह दूँगा कि मुझसे उम्मीदें न रखे; मेरी नौकरी का कोई भरोसा नहीं है...' मगर सिवा उदास रहने के, वह कुछ नहीं कर सका। सबसे ज़्यादा दुख उसे तब होता, जब उसके पिता रात में बड़े उत्साह से उसकी नौकरी के बारे में पूछताछ करने लगते। कुल मिलाकर एक भयानक अपराध-भावना उसके मन में घर करती जाती थी।

उसके लंबे और भावुकता-भरे एक्सप्लेनेशन के जवाब में, मैनेजर ने उसे अपने केबिन में बुला भेजा।

उसका लिखा पत्र सामने पड़ा था "बैठो" मैनेजर ने कहा, "यह सब क्या है? इंटरव्यू में तुमने झूठ बोला था कि तुम मशीनों पर काम कर सकते हो? तुम्हें तो माइक्रोमीटर पढ़ना भी नहीं आता! तुमने गलत डाइमेंशन वाले जॉब पास कर दिए। वर्कर्स को तुम्हारी क्षमता पर भरोसा नहीं है। इस तरह नहीं चलेगा! ऊपर से तुम चार्जमैन को दबाने की कोशिश करते हो। उस आदमी को बीस साल का तजुर्बा है मशीन-शॉप में। अन-फॉरचुनेटली वह नॉन मैट्रिक है, नहीं तो हम उसे असिस्टेंट फोरमैन बना सकते थे। अब या तो तुम काम सीख लो, या फिर दूसरी नौकरी ढूँढ़ना शुरू करो, जहाँ पेपर वर्क

ज्यादा हो और बैठने के लिए वाटर-टाइट कपार्टमेंट होते हों। यहाँ तो शॉप फ्लोर है और खड़े रहने का, हाथ से काम करने का है- चाहे तुम्हें सूट करे या नहीं करे!"

"जी, मैं क्या करूँ? मैं इतनी जल्दी कैसे...!" कहते-कहते उसका गला रुंध गया, "सर, आप नहीं जानते हैं, हमारी फैमिली बहुत गरीब है! सब मेरे पर ही डिपेंडेंट हैं। मैं... हिच...!" उसे रुलाई आ गयी, आँसू बह निकले।

मैनेजर उसे हैरत से देखता रहा, "अरे, यह क्या बचपना है। तुम मेरी डिफीकल्टी क्यों नहीं रियलाइज़ करते-यहाँ काम ठीक से नहीं होगा, तो हम सबके होने का मतलब क्या है!... अभी तुम इमोशनल हो रहे हो। जाओ, थोड़ी देर बाद तुमसे बात करूँगा!"

वह आँसू पोंछता बाहर निकला। अंदर का ज्वालामुखी फूट चुका था। मन कुछ-कुछ हल्का हुआ, मगर अब भी कचोट बाकी थी। मैनेजर ने सांत्वना का एक भी शब्द नहीं कहा था। उसे आशा हुई थी कि उसके एक्सप्लेनेशन का असर जरूर पड़ेगा; कम-से-कम बॉस की सहानुभूति तो मिलेगी!

शाम को उसे फिर से बुलाया गया। चार्जमैन खरे भी वहाँ बैठा था। वह अपराधी की तरह कटघरे में खड़ा हो गया।

"अब तुम स्वस्थ हो?" मैनेजर ने कहा, "तुम्हारा एक्सप्लेनेशन बिलकुल संतोषजनक नहीं है। यू विल हैव टु प्रूव योरसेल्फ! ये दस एक्सरसाइज़ेज खरे ने आपके लिए बनाया है। आप इन्हें अपने हाथ से बनाएंगे, खरे भी बनाएगा। आप उससे गाइडेंस ले सकते हैं। मगर विदइन अ मंथ, ये जॉब आप दोनों को बना लेने हैं। तब फ़ैसला होगा, कौन कितना काबिल है! समझ रहे हैं न आप?"

"सर", उसने उत्तेजित होकर कहा, "क्या काबिलियत का यही टेस्ट है? ये जॉब एक मामूली बेपढ़ा-लिखा टेक्नीशियन हम से बहुत अच्छा बना सकता है। कुछ तो डिफरेंस होना चाहिए। आप इसी तरह थ्योरिटिकल प्रॉबलम्स भी दीजिए, उन्हें भी मैं और खरे साथ-साथ करें..."

"देखिए मिस्टर कपूर, मैं इंग्लैंड में दस साल रहा हूँ। वहाँ मैंने बड़े-बड़े इंजीनियरों को शॉप में काम करते

देखा है! आप इस बात को अपने मन से बिलकुल निकाल दीजिए कि हाथ से काम करना छोटी बात है! शॉप में डे-टु-डे प्रैक्टिकल प्रॉबलम्स ही आती हैं, थ्योरिटिकल नहीं। कल से मैं आपको फ्लोर पर काम करते देखना चाहता हूँ। आपको बुरा न लगे, इसीलिए मैंने खरे को भी जॉब बनाने को कहा है। यू आर अ यंगमैन, घबराते क्यों हैं?"

वह और खरे दोनों काम में जुट गये थे।

शॉप फ्लोर पर यह खासा तमाशा बन गया। वर्कर बड़े मजे लेते- चार्जमैन और असिस्टेंट-फोरमैन दोनों हाथ से काम कर रहे हैं, दोनों एक जैसे जॉब बना रहे हैं। किसी-न-किसी बहाने, फ़ैक्ट्री के अन्य विभागों के लोग यह देखने के लिए मशीन शॉप के चक्कर लगाने लगे।

वर्कर समझते थे कि यह मुकाबला है- जो जीतेगा वह रहेगा, दूसरे को जाना पड़ेगा। इस अनुभूति से कई लोग पसीज उठे। नौजवान इंजीनियर के प्रति दया-भाव पैदा होने लगा, खास कर वर्करों में। वे किसी-न-किसी तरह उसे सहायता पहुँचाने को तत्पर रहने लगे; मगर चार्जमैन सामने होता था।

फ़ैक्ट्री के दूसरे डिग्री-डिप्लोमा वाले उसके प्रति संवेदना प्रकट करने आते। वह सुबह से शाम तक लोहागिरी में लगा रहता था। सिविल और इलेक्ट्रिकल इंजीनियरिंग वालों की मौज-मस्ती और सफ़ेदपोशी को देखकर कलेजे से आह-सी उठती-क्यों मैंने मैकेनिकल ले डाली! इस जंजाल में क्यों फँसा! क्या रह गया है लाइफ़ में, लोहा काटना, खुरचना, घिसना और रगड़ना!

वह काम से लौटता तो उसका बदन पसीने से बुरी तरह गंधा रहा होता, गले में नमक जमा होता, हाथों में ग्रीस-ऑइल की चिपचिपाहट। यह गंदापन उसे अंदर-ही-अंदर खाने लगा।

फिर भी उसे यह बात समझ में आ गयी थी कि बिना यह मैली जिंदगी गुज़ारे निस्तार नहीं है। यह नौकरी छोड़ भी दे, तो फिर ऐसी ही नौकरी ढूँढ़नी पड़ेगी, फिर से यही यातना भुगतनी होगी...

वह लोहे के गोल टुकड़े को लेथ पर सेंटर करने की कोशिश कर रहा था। बार-बार चक के जबड़ों को आगे-पीछे करके जाँचता, मगर जॉब सेंटर होने का नाम ही नहीं लेता था। उसने एक बार जोर लगाकर चाबी घुमाना चाहा, जो चक के छेद में सिर्फ आधी अंदर थी। वह स्लिप कर गयी और उसके निचले जबड़े पर लगी। दर्द के मारे वह हाथ से दबाकर ज़मीन पर बैठ गया। दो-तीन वर्कर लपककर आए, “क्या हुआ, क्या हुआ?” उससे बोलते नहीं बना- “कुछ नहीं, ठीक है” कहना चाहा, तो फटे हुए मसूड़े से रिसता खून होंठों पर आ गया।

खून का घूँट पीकर उसने लेथ का स्विच ऑन कर दिया। फिर ऑफ किया और चक के जबड़े आगे-पीछे करने लगा। चला कर देखा, अभी भी आउट था। सहसा एक खरादी अपने चिपचिपे हाथ से उसे हटा कर चाबी उससे छीन ली, “देखो, ऐसे होता है!” कह कर उसने अपनी कारगुजारी शुरू कर दी। मिनटों में जॉब बिलकुल बीचोबीच होकर घूमने लगा।

उसने अपने गाल पर हाथ फेरा-चोट की वजह से वहाँ गाँठ बन गयी थी और बराबर दर्द हो रहा था। उसने देखा, चार्जमैन दूसरी मशीन पर बड़ी तन्मयता से काम कर रहा था। उसने चौंकि खाने की तम्बाकू मुँह में दबायी हुई थी, इसलिए उसके जबड़े पर भी गाँठ नज़र आ रही थी। दोनों की गाँठों में कितना फ़र्क था!

दस बजे पे बाँटने वाले क्लर्क आ गए। शॉप में काम बंद हो गया। वह उस ओर से लापरवाह, अपना काम करता रहा। चार्जमैन क्लर्कों के साथ बैठकर विटनेसिंग-आफिसर का काम करने लगा। सबसे अन्त में क्लर्क विटनेसिंग-आफिसर का काम करने लगा। सबसे अन्त में क्लर्क ने मशीन के पास आकर कहा, “साहब, पेमेंट ले लीजिए...”

उसने सत्रह दिन काम किया था, उस महीने में। इन पहले सत्रह दिनों के उसे चार सौ तीस रुपये कुछ पैसे मिले, तो वह अपनी मनःस्थिति में बदलाव-सा महसूस करने लगा। चार सौ के नोट थे, नए-करारे-सच्चे। दस्तख़त करके वह जाने लगा, तो पे-क्लर्क ने कहा, “साहब, एक मिनट! जरा

विटनेसिंग-आफिसर की जगह साइन करते जाइए! आप काम में लगे थे, इसलिए हमने खरे को बिठा लिया था...”

खरे ने खिसियाकर कहा, “मैंने कर दिए साइन...”

क्लर्क ने कहा, “आपको यह अर्थोरीटी नहीं है! पहले की बात और थी; तब यहाँ फोरमैन रैंक का अफसर नहीं था। अब मिस्टर कपूर हैं...”

उसे पहली बार अपने पद की गरिमा का अनुभव हुआ। क्लर्क उसे साहब कहके संबोधित करता था, और खरे को सिर्फ खरे।

इस बार कहीं ज़्यादा आत्मविश्वास से वह टूल ग्राइंड करने गया। उसने ग्राइंडिंग गॉगल लगाये, और इत्मीनान से टूल को पत्थर पर लगाया। सरसराकर पीली, रुपहली चिंगारियाँ छूटने लगीं। वह टॉप रैंक ऐंगिल बना रहा था।

जाने क्या बात थी कि उससे सही ग्राइंड करते नहीं बनता था- कहीं ज़्यादा घिस जाता, कहीं कम। उसे यह जोखिम-भरा काम जरा भी पसंद नहीं था, मगर उस समय उसकी जेब में चार सौ तीस रुपये थे, जो इसी काम के लिए मिले थे। यह प्रभा की दो महीने की तनख्वाह थी, जो उसने आधे महीने में कमा ली थी। इतने रुपये उसने पहले कभी इस तरह अपनी जेब में, अपने समझकर नहीं रखे थे। ग्राइंडिंग-स्टोन से छूटती चिंगारियों में उसे अपनी बहनों के गोलमटोल भोले चेहरे नज़र आ रहे थे, ‘हमारा भाई, भैया, कमाकर लाएगा। हम भी सजेंगी, सवरेंगी-दुल्हन बनेंगी...’

फ्रंट रैंक बनाते समय उसे लगा, वह प्रभा के लिए कुछ कर रहा है- अपनी आगामी गृहस्थी को तराशने का औज़ार तैयार कर रहा है। सुखी, संपन्न और हँसते-खिलखिलाते लोगों की दुनिया बनाने के लिए उसे अग्निमुख चिंगारियों के बीच रहना सीखना ही होगा...

धीरे-धीरे मशीनों की आवाज़ में उसे कोमल और मधुर स्वर महसूस होने लगे। तेल में डूबे, निरंतर घूमते हुए गीयर ऐसे लगे, जैसे पारदर्शी उबलते घी में मैदे की पूरियाँ छलछला रही हों। उसके जेहन की दहलीज़ के एक ओर उसके घर का धुँए से काला रसोईघर था, तो दूसरी ओर मशीन-शॉप। वह बीच में चहल-कदमी कर रहा था, जब

में चार सौ तीस रुपये रखे। ग्राइंडर के चक्के एक मिनट में साढ़े चार हजार चक्कर की रफ़्तार से घूम रहे थे।

उसने संकोच तजकर एक वर्कर झम्मन लाल से कहा, “भई, देखना यह टूल ठीक बना कि नहीं।”

झम्मन लाल ने किसी को आँख मारी और टूल लेकर देखने लगा, फिर ग्राइंडर स्टार्ट करके चिंगारियाँ उठाने लगा। अभ्यस्त हाथों ने टूल की धारे सँवार दीं।

वह लेथ मशीन पर आया। टूल-पोस्ट पर टूल बाँधा, और डरते-डरते मशीन स्टार्ट करके एक हल्का-सा कट लिया। टूल जाँब की सतह से छिलके उतारने लगा, मगर चू-चू, क्ली-क्ली की आवाज़ों के साथ। बढ़ते-बढ़ते आवाज़ें इतनी बढ़ीं कि झम्मन लाल दौड़कर आया, “बाबू, टूल थोड़ा नीचे बाँधा है। एक पैकिंग और लगा दो।”

इस बार मशीन चली, तो कुदरती आवाज़ के साथ। कूलेंट की दूधिया धार उसने ठीक टूल की नोक पर कर दी, एक के बाद एक कट लगाता रहा। बीच-बीच में वर्नियनर से जाँब का व्यास नापता रहा। करते-करते पहली नाप सही आ गयी। अभी तो बहुत करना था, स्टेप-टर्निंग, चैफर, ग्रूविंग, टेपर, ड्रिल, और अंत में फिनिशिंग; तब कहीं जाँब नंबर पूरा होना था।

मैनेजर राउंड पर आया, उसको और चार्जमैन को जाँब बनाते देखता रहा। वह स्टेप बना रहा था, और खरे ड्रिलिंग तक पहुँच गया था। शाम को काम का समय समाप्त होते-होते खरे का जाँब फिनिश हो रहा था। दो-तीन वर्कर उसके पास खड़े होकर उसके जाँब को प्रशंसात्मक निगाहों से देख रहे थे। उसका दिल जल गया। गफ़लत में टूलपोस्ट पीछे करने के बजाय हैंडिल उल्टा घूमा गया ‘टर्रर... हचाक्’ और जाँब में धंसकर टूल टूट गया।

वह काठ का होकर रहा गया। घंटों की मेहनत जाया हुई सो हुई, वह बुरी तरह पिछड़ गया था। अब नये सिरे से जाँब शुरू करना होगा...

मशीन के मिजाज पर दुर्घटना का कोई असर नहीं पड़ा था, वह निरंतर धड़-धड़ करती हुई चल रही थी। उसके जाँब पर ऐसा निशान पड़ गया था, जैसे किसी की पीठ पर कसके कोड़ा मारा गया हो।

हताश, घायल हिरन-सा वह हाथ धोने चला गया।

रास्ते में उसका मन किया कि कुछ ले चले-मिठाई, फल वगैरह। मगर उसके मस्तिष्क में हथौड़े से चल रहे थे। वह टंडी निश्वासों छोड़ता, अनमना-सा साइकिल चला रहा था। उसे ज़िंदगी में पहली बार तनख्वाह मिली थी, साथ ही भयंकर मानसिक यंत्रणा भी। उसे विश्वास हो गया था कि यह खेल ज़्यादा चलने वाला नहीं है; अन्ततोगत्वा उसे समर्पण करना ही होगा। प्रोवेशन-पीरियड में उसे कभी भी, बिना नोटिस दिए निकाला जा सकता था। दस जाँब बनाना उसे अपने वश की बात नहीं लग रही थी। पहले ही जाँब में वह मात खा गया था।

घर पहुँचते-पहुँचते उसके सिर में असह्य दर्द होने लगा। उसने पहले कभी इतनी मशक्कत का काम नहीं किया था।

उसने दूर से ही अपनी बहनों को दरवाज़े के बाहर बरामदे में खड़े देखा। ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ता जा रहा था, उनके प्रफुल्लित और उत्तेजित चेहरे स्पष्ट होते जा रहे थे। उनको मालूम था कि आज उसे पहली तनख्वाह मिलेगी, इसी खुशी की राह देख रही थीं।

उसके दो बहनें बी.ए. करके घर बैठी थीं, तीसरी बी.ए. में, चौथी इंटर में, और सबसे छोटी आठवीं क्लास में पढ़ रही थी। बड़ी दोनों ब्याह लायक थीं। उसके माँ-बाप अक्सर सम्भावित रिश्तों की चर्चा करते रहते थे। मगर ज़ाहिर था कि उनकी शादियाँ तभी होती, जब वह कमाने लगता। एक तनख्वाह में इतनी बड़ी गृहस्थी का गुजर, उसकी तथा बहनों की पढ़ाई बड़ी खिंचते-खिंचाते चलती थी।

वह पहुँचा और सब निकलने लगीं, “भैया आ गए! भैया आ गये!” उसने भी मुस्कुराने की असफल कोशिश की। तब तक माँ निकल आयीं, उसके सिर पर हाथ फेरा। उसने जेब से तनख्वाह के रुपये निकाले और माँ के पैरों पर रख दिये।

“नहीं, नहीं बेटा! पहली तनख्वाह ठाकुरजी को चढ़ानी होगी!” वे उसे बाँह से पकड़कर खींचती ठाकुरद्वारे में ले गयीं। रुपये भगवान को चढ़ाकर वे खुशी में कोई परम दीन भाववाला भजन गाने लगीं।

उसने निरपेक्ष दृष्टि से ठाकुरजी को देखा “क्या ये मेरे जाँब बनवा सकते हैं!” उसने व्यंग्यपूर्वक सोचा “ऐसा कोई वरदान ही दे डालें कि मेरा हाथ झम्मन लाल के हाथ की तरह रवां हो जाए...”

“भैया, आज हम लोगों को पिक्चर ले चलिए न! हम और कुछ नहीं लेंगे, बस पिक्चर देखेंगे।” बहनें मचलने लगीं। उसे ताज्जुब हुआ, वह पहले कभी बहनों के साथ पिक्चर देखने नहीं गया था। ऐसी बात कोई उन दिनों सोच भी नहीं सकता था। उसे उन लड़कियों पर बड़ी माया हुई। मुस्कुराकर बोला, “ज़रूर, ज़रूर! सैटरडे को चलेंगे, सब! चाहो तो माँ से पूछ लो”

बड़ी वाली आहिस्ता से बोली, “माँ से क्यों, प्रभा दीदी से नहीं पूछेंगे!” वह झेंप गया। पहली बार ऐसा मीठा मज़ाक बहन ने किया था। इस बात को माँ ने भी सुन लिया, बोली, “हाँ तुम्हीं लोग हो आना मुझे नहीं अच्छी लगती पिक्चर-विकचर! एक बार गयी थी, तुम्हारे बाबूजी के साथ, तब यह गोद में था। मेरे सिर में दर्द हो गया था। तब से आज का दिन है, कभी नहीं गयी...”

वह नहा-धोकर निकला तो देखा, पिता मिठाई लेकर आए हैं। उसके बाद देर तक मोहल्ले-पड़ोस में मिठाई की तशतरियाँ भेजी जाती रहीं। उसकी बहनों के तो पंख लग गए थे, दौड़-दौड़ कर मिठाई देने जा रही थीं। उनकी सूरत देखकर ही पता चल जाता था कि उनके भाई को पहली तनख्वाह मिली है।

चाय पीकर वह बाहर जाने को था, खुली हवा में घूमने और अपनी त्रासदी पर विचार करने के लिए। सबसे छोटी बहन ने पीछे से फुसफुसाकर कहा “भैया! प्रभा दीदी पिक्चर जाने को मान गयी हैं, और उन्होंने कहा है... बताएं?... अपने भैया से कहना कि इतनी-सी मिठाई से हमारा पेट नहीं भरेगा एकाध टोकरा लड्डू भेजें।”

“लड्डू! हुंह” उसने मुँह बिचकाने का अभिनय किया। तभी उसकी दृष्टि अंगीठी में जलने वाले, कोयले के चूरे के, गोबर मिले लड्डुओं के ढेर पर चली गयी।

यूँ तो नौकरी लगने के दिन से ही माँ उसके खाने-पीने का ज़्यादा ध्यान रखने लगी थीं, मगर पहली तारीख को तो

त्योहार की-सी धूमधाम के साथ सारे घर का खाना बना। उसने देखा, ज़्यादातर उसकी पसंद की चीजें हैं। दही-भल्ले, छुहारे की चटनी, खीर और हलवा।

उसने सोचा, क्या मज़ाक है! महीने-दो महीने बाद नौकरी छूट जाएगी, तब ?

खाने के बाद बहनों ने फटाफट आँगन में बिस्तर बिछा दिये। उसकी चारपाई पर नयी चादर बिछी थी। यह घर की एकमात्र कीमती चादर थी, जिसे माँ ने कपड़े वाले सिंधी से किस्तों में खरीदा था। आये गए मेहमान के लिए रखी रहती थी।

वह लेटने को था कि घरेलू पंचायत बैठ गयी। उसके पिता सॉफ चबाते हुए सामने वाली चारपाई पर, माँ उसके बिस्तर पर, और बहनें चारों ओर।

“रज्जन, रामनारायन-बाजार वाले खन्ना जी को क्या जवाब दें? उनके साले आज भी आए थे। अब तो नौकरी पर लग गए हो, किस बहाने टालें उन्हें!” उसके पिता ने साधिकार कहा।

वह चुप रहा।

“बोल बेटा!” माँ ने उसका मुँह देखते हुए बड़े प्यार से कहा, “बड़ा अच्छा रिश्ता है- लड़की देखो तो लड़की, घर देखो तो घर! मैं तो पूजा करने बैठती हूँ, तो तुम दोनों की जोड़ी लक्ष्मी-नारायण-सी सामने आ जाती है। क्या जाने मेरे ठाकुरजी इसी बहाने रोज सुझाते हों...”

उसने झुँझलाकर कहा, “माँ, क्या फालतू बातें करती हो! मुझे नहीं करनी शादी-वादी...”

“तुम्हें तो नहीं करनी, मगर हमें तो करनी है! हमें तो सबकी करनी है तुम्हारी, उषा की, उमा की, गुड्डी की। बेटे, हमारा काम हमें करने दो, अपना काम तुम करते चलो...” उसके पिता संजीदगी से बोले।

“तो आप करिए न, इन लोगों की शादी- मुझे क्यों मजबूर करते हैं!”

“कहाँ से करें? तुम्हारी शादी में जो कुछ आएगा, उसी से उषा और उमा के हाथ पीले करने हैं! थोड़ा-बहुत हम

मिला देंगे। खन्ना जी की अकेली लड़की है, दिल खोलकर देंगे। बात को समझा करो!”

वह सन्न रह गया। उसे पिता से ऐसी दो-टूक बात की उम्मीद नहीं थी। वे सरल स्वभाव के, सीधे व्यक्ति समझे जाते थे। यह शादी होगी या खरीद-फरोख्त! उसे बेचकर उसकी बहनों की शादियाँ होंगी? वाह, क्या मनसूबे बाँधें हैं घरवालों ने...

वह अपने को अनेक मुसीबतों और साजिशों से घिरा हुआ पा रहा था- नौकरी में, ज़िंदगी में, हर जगह। प्रभा को बरसों से मन में संजोये था, जिस तरह नौकरी के नाम पर शानदार दफ्तर को। इन्हीं स्वप्नों को धरती पर उतारने के लिए उसने जान झोंककर पढ़ाई की थी। अठारह साल वह घोड़े की तरह सरपट दौड़ा था। उसे पता नहीं था कि वह रेस का घोड़ा है, जिस पर दाँव लगे हुए थे। उसका मन वितृष्णा से भर गया- सब उसके खिलाफ़ हैं...

माँ कहे जा रही थीं- “... बेटा, अपनी बहनों की तरफ देख! सात बहनों के भाई की कहानी सुनी है न तूने? शुक्र कर, तेरे पाँच ही हैं। हमने अपने को बेच-बेचकर तुझे इसीलिए पढ़ाया है कि हमारे बुढ़ापे की लाठी बने। तेरे बाप तो बेचारे मामूली क्लर्क हैं, मगर उन्होंने तुझे अफ़सर बनाया है... तुझे क्या पता है, एक-एक करके मेरे कितने जेवर बिके। अब तेरी बारी है...”

वह प्रभा को अंधेरे, बंद कमरे में घूट-घूटकर रोते देख रहा था। उसने देखा- वह दूल्हा बना है, घोड़ी पर सवार है, और प्रभा गले में फंदा...

उसे पता ही नहीं चला, कब उसका अंतर्मन करुण मेघों से घिरकर बरसने लगा। बड़ी ख़ामोशी से वह रो रहा था।

कुछ देर तक तो माँ-पिता अपनी रौ में बहते रहे, फिर पिता अचकचाकर उठ खड़े हुए, “बेटा, अरे रज्जन.. क्या हो गया? क्या हो गया तुझे... रोता क्यों है पगले!”

माँ ने उसे चिपका लिया। उसे पुचकारने लगी। वह और जोर से हिचकियाँ भरकर रोने लगा। दरअसल रोना वह बहुत दिनों से चाह रहा था, खुलकर रोना। बहाना यहाँ मिल गया।

काफ़ी देर बाद पिता को उसने नौकरी में उठ रहे संकट के बारे में विस्तार से बताया। उसने कहा कि उन्हें उससे कोई उम्मीद नहीं रखनी चाहिए- वह नालायक है...

कहना वह प्रभा के बारे में भी चाहता था, मगर एक ही प्रसंग माहौल बदलने के लिए काफ़ी हो गया। उसके पिता ने कहा, “बस, इसी से तू घबरा गया? ऐसी मुश्किलें तो शुरुआत में आती ही हैं। तू तो होशियार लड़का है; बस जरा प्रैक्टिकल एक्सपीरिंस नहीं है ख़ैर, सब ठीक हो जाएगा। चल, मुँह धोकर कपड़े बदल ले, घर पर ही होंगे। पापा जी के यहाँ चलते हैं। उनसे बड़ा कारीगर शहर भर में नहीं होगा। तू कुछ दिन उनके पास काम सीख ले... उनकी अपनी फ़ैक्टरी है... चल, अभी होकर आते हैं। इस समय बाप-बेटे सब घर पर ही होंगे। पापा जी उनके पड़ोसी थे। उनका नाम सरदार हरभजन सिंह था, मगर सब उन्हें पापा जी कहा करते थे। उनके चार लड़के थे, तीन भाई थे, और दो साले थे सब उन्हीं की छत्रछाया में रहते थे। उनके परिवार के कई आदमी विलायत जा चुके थे। वह कुशल कारीगरों का समृद्ध परिवार था। पापाजी के बारे में मशहूर था कि वे किसी भी मशीन को, चाहे कितनी ही खटारा क्यों न हो, हाथ से छूकर चालू कर सकते थे।”

उन्होंने एक छोटा कारखाना, एक चक्की, एक घानी शहर में लगायी हुई थी। इसके अलावा हार्डवेयर और रेडियो-रिपेयर की दुकानें थीं। इन सबको उनके लड़के, भाई और रिश्तेदार ही चलाया करते थे। पापाजी बड़े भले पड़ोसी थे, दुखः-तकलीफ़ में बढ़कर आगे आने वाले। सरदारनी भी वैसी ही थीं।

उसके पिता उसे लेकर उनके घर पहुँचे, तो पापाजी एक पुरानी मोटर-साइकिल से उलझ रहे थे। उन्हें देखकर, “आइए कपूर साहब, आइए। आज तो चरणों की धूल हमें मिल ही गयी...” कहते हुए उठ आए। बाहर मुड्डे पड़े थे, वहीं सब बैठे।

पापा जी बोले, “कपूर साहब, एक बात कहूँ! हजार रुपया महीना मैं देता हूँ, आप बच्चे को मेरे पास दे दो...”

उसके पिता बहुत विनम्र होकर बोले, “पापा जी, आप दिल के भी बहुत बड़े हैं- आज देख लिया!” वह तो उनकी बात सुनकर सकते में रह गया था।

“नहीं भाई, मैं कोई अहसान नहीं कर रिया। मैं तो अपने मतलब की बात कर रिया हूँ! वो साले फ़ैक्टरी वाले पागल हैं! ऐसा क़ाबिल, पढ़ा-लिखा, शरीफ़ लड़का क्या यूँ ही मिल जाता है! काम नहीं जानता, हूँ! काम तो कोई भी सीख सकता है; मशीनरी की हाई-हाई थ्योरियाँ पढ़ना हरेक के बस की बात नहीं! अफ़सोस होता है कि हमारे घर में सब कारीगर हैं- पक्के; मगर कोई भी पढ़ा-लिखा नहीं है... डिग्री की क़दर क्या होती है, हमसे पूछिए!” पापा जी गंभीरता से कह रहे थे, और उसके मन में उनके प्रति श्रद्धा उमड़ती जा रही थी।

“अच्छा रज़न, तुम ऐसा करो उधर लगाओ तीन दिन की मेडिकल लीव-बुद्ध, वृहस्पति, शुक्रवार, शनिवार को हॉफ़-डे होता है और इतवार फिर छुट्टी है। इन पाँच दिन में, मैं तुम्हें इतना सिखा दूँगा कि किसी के आगे नीचा नहीं देखना पड़े। जाने कितना आदमी हमसे सीख गया; तुम तो इंजीनियर है... लेकिन एक शर्त है, थोड़ा कैलकुलेशन हमें भी सिखाना! हम लोग कंप्रेसर मैनुफैक्चर करना चाहते हैं...”

उसने छुट्टी की अर्जी भेज दी, और सुबह खाकी कमीज पहन कर पापा जी के कारखाने चला गया कुछ इस अदा से, मानो कोई योद्धा मरणांतक युद्ध में भाग लेने जा रहा हो।

पापा जी के दो लड़के कारखाना चलाते थे, बाकी दो विलायत गए हुए थे। गुरमीत और गुरमेल मज़ेदार प्राणी थे कच्छ बनियान पहने काम पर जुटे रहते थे और बराबर गाते रहते थे। वे हर गाना हीर या मिरजा साहिबा की तर्ज में ढालकर गाते थे। उनका कारखाना इंडस्ट्रियल एस्टेट में था। वहां लोहे-लकड़ के ढेर देखकर पता लगता था कि जबरदस्त काम चल रहा है। आठ पुरानी लेथ मशीनें थीं, जो पट्टे से चलती थीं। एक नयी एच.एम.टी. की लेथ और एक मिलिंग मशीन थी। ड्रिलिंग की मशीनें उन्होंने खुद की बना रखी थीं।

गुरमीत और गुरमेल से घुलने-मिलने में उसे देर नहीं लगी। वे उससे बहुत प्रभावित लग रहे थे, शायद उसकी डिग्री की वजह से। पड़ोस का लिहाज भी था। उसके पहुँचते ही उन्होंने चाय मंगवायी-बहुत मीठी, गाढ़ी मलाई से ढकी चाय। वह जी कड़ा करके उड़ेल गया।

गुरमेल ने उसे टूल ग्राइंड करना सिखाना शुरू किया-लोहे के छोटे-छोटे चौकोर टुकड़ों पर। उसके हाथ में जादू था, चुटकियों में टूल बनाता था वह। दोपहर तक वह उसके बताये तरीके से अभ्यास करता रहा। फिर उसका हाथ सेट होने लगा। एकसार सतहें, मनचाहे कोण बनने लगे। वह खुशी के मारे उछलने को हुआ-यह क्या, सबसे मुश्किल काम, कितना आसान हो गया। उसने तरह-तरह के टूल बनाने की कोशिश की। कई में उसे सफलता मिली, कई गुरमेल के हाथ छुआने भर से ठीक बन गए।

वह इस खेल में मगन था कि गुरमीत ने चिल्ला कर कहा, “चलो भाई, काम बन्द करो। खाना आ गया...” तब तक वह काफी काम कर चुका था- कई तरह के कटिंग-एंगिल बनाना सीख लिया था।

उनका खाना घर से आता था- दोनों भाइयों का, अन्य कारीगरों का, सबका एक साथ। उनके कारीगर लोकल नहीं थे, उनके गांव के ही लोग थे।

सब हाथ धोकर बैठ गए। एक बाल्टी में उरद-चने की दाल थी, एक कंडिया में तंदूरी रोटियां थीं- कपड़े में लिपटी, और एक कागज की बड़ी पुड़िया में कम-से-कम डेढ़ किलो कटा हुआ प्याज था। उसे कुल मिलाकर खाना अच्छा ही लगा।

खाने के बाद गुरमीत उसे मिलिंग मशीन पर ले गया। उसे एक-एक चीज खोलकर दिखायी, समझायी; फिर एक जॉब बंधवा दिया। मुश्किल किस्म का काम था। फार्मिंग-कटर चलाना था। लेकिन वह घबराया नहीं, उसके मददगार वहाँ थे।

तीन बजे चाय आयी। चाय भी घर से बनकर आयी थी। बंता सिंह नाम का एक फुर्तीला आदमी, खाना और चाय उनके कारखाने और दुकानों में पहुँचाया करता था।

चाय के बाद गुरमीत ने बताया, वह इंग्लैंड में दो साल रह आया है, बड़े भाई के पास। बाकी लोग इसरार करने लगे- बताओ, वहाँ की मेमें कैसे नाचती हैं? वह कुछ देर टालता रहा, फिर तैयार हो गया।

पहले तो वह पंजाबी में कमेंट्री देता रहा कि किस तरह उसका भाई लन्दन में उसे नाइट-क्लब में ले गया। फिर गुरमीत ने तौलिया लपेटकर कैबरे नाचा, तो ठहाकों से कारखाने की छत उड़ते-उड़ते बची।

काम चालू हुआ, तो वह गुरमीत के साथ मिलिंग के गुर सीखने लगा- कटर कैसे बाँधते हैं, कैसे उसकी धार ठीक करते हैं, गीयर बनाते समय क्या-क्या सावधानियाँ रखनी चाहिए। गुरमेल मोटर-साइकिल लेकर किसी पार्टी के पास पेमेंट लेने चला गया।

उसका मिलिंग जॉब इतना अच्छा चल रहा था, कि उसे मशीन बहुत प्यारी और खूबसूरत लगने लगी। वह मशीनों से दोस्ताना रिश्ते जोड़ने की बात सोचने लगा था। वे लोग सब आपस के ही आदमी थे, इसलिए छुट्टी का कोई नियम नहीं था। जिसको काम हो, चला जाए; नहीं तो रात के नौ बजे तक अमूमन काम चलता ही रहता था। कोई बड़ा और अर्जेंट ऑर्डर आ जाए, तो फिर रात-दिन।

उसने तय कर लिया कि वह नौ बजे से पहले हाथ नहीं धोएगा। उसके पास सिर्फ पाँच दिन थे, और चक्रव्यूह भेदना था। उन लोगों ने उससे कहा कि वह काफ़ी काम कर चुका है, आराम करे; मगर उसको वहाँ मजा आ रहा था।

सात बजे के करीब गुरमेल लौटा तो गेट से ही चिल्लाया, “सत श्री अकाल!” सब लोग मशीनें बंद करके.. “जो बोले सो निहाल!” करते भागे। मोटर-साइकिल खड़ी करके गुरमेल बोला, “पापे, भंगड़ा!” और सब भंगड़ा नाचने लगे। वह हक्का-बक्का, उनके मस्तानेपन को देख रहा था।

हुआ यह था कि पार्टी से गुरमेल पूरा पेमेंट ले आया था। काफ़ी बड़ी रकम थी; पूरी आने की तो किसी को भी उम्मीद नहीं थी।

तभी किसी ने उसका हाथ पकड़कर खींच लिया। वह पहले तो झिझका, फिर उल्टा-सीधा नाचने लगा। ठर्रे और बीयर की बोतलें आर्यीं...

रात को साढ़े दस बजे वह नहाने गया, तो उसे पसीने की गंध अच्छी लग रही थी। गले पर जम गया नमक हटाने को मन नहीं हो रहा था।

उसने पापा जी के कारखाने में लेथ और मिलिंग मशीनों का काम ही नहीं सीखा, तंदूरी रोटी को प्याज से खाना, मट्टा पीकर डकार लेना, हीर गाते हुए जॉब बनाना, और काम करके भंगड़ा नाचना भी सीखा। बीयर की बोतल एक सांस में खाली करना और ठर्रे को नीट पीना भी सीखा।

इतवार को सुबह पापा जी उसे अपने साथ एक जगह ले गये। वहाँ उनके साथ लगकर उसने एक लेथ मशीन खोली, उसके नुक्स निकाले, और रात होने तक वापस बाँध दिया। घर लौटते समय वह काला भूत बना हुआ था। उसके कपड़े मैल से चीकट थे, जूता तेल में भीगा था, हाथ खरोंचों से भरे थे। मगर दिल में उमंग थी, उत्साह था, आत्म विश्वास था। जो दस जॉब उसे अपनी शॉप में बनाने थे, जिनके मारे उसके हाथ-पैर फूले रहते थे, अब उसे बायें हाथ का खेल लग रहे थे।

इसके अलावा गुरमेल और गुरमीत ने उसे ऐसे ख़ास गुर, नुक्ते और टूल बताये थे, जिनसे वह खरे-जैसे दस-बीस को चक्कर में डाल सकता था।

सोमवार को काम पर जाते समय उसने महसूस किया कि वह मशीन शॉप का आदमी है। मानो वह नहीं, उसका नया संस्करण पहुँचा हो। उसने झटपट कपड़े बदले और काम शुरू कर दिया। पिछले पाँच दिन उसने पुरानी, कामचला ऊ और घटिया मशीनों के बीच गुजारे थे- बड़े मजे से। अब उसे फ़र्क़ मालूम पड़ रहा था- उसकी शॉप अत्याधुनिक और बढ़िया किस्म की मशीनोंवाली थी, जिन पर काम करना अपेक्षाकृत आसान और सुखदायी था। हर तरह के कीमती टूल थे, आहिस्ता बोलने वाले ग्राइंडर थे। वह टूल बना रहा था, तो वर्कर ताज्जुब से उसकी फुर्ती देख रहे थे।

शाम तक पहले दो जॉब उसने बना लिए- एकदम दुरुस्त, जिसे मक्खी पर मक्खी मारना कहते हैं। संतुष्ट होने के बाद, देर तक उन्हें फिनिशिंग देता रहा। चमचमाते हुए तैयार जॉब उसने आलमारी में रखवा दिए।

वह पूरा हफ़्ता उसके इम्तहान का हफ़्ता था। किसी अनाम ख़रादी की तरह वह आता और काम में जुट जाता। कटिंग-ऑयल की गंध, मशीनी शोर और लोहे की उतरती

छीलन-इस माहौल में वह खपता नज़र आने लगा। वर्कर उससे आत्मीय होते जा रहे थे। वह काम करता होता, तो बीच-बीच में एकाध नुक्ते की बात बताने उसकी मशीन पर आ जाते। चाय की ट्रॉली आती तो उसके लिए चाय ले आते। सबसे बड़ी बात तो यह, कि अब वह शॉप में पहुँचता तो उस पर 'नमस्ते साब' की बौछार होने लगती। कई बार वह चुस्ती से मौका निकालकर नमस्ते में पहल कर देता, तो वर्कर गड़-से जाते थे।

मशीन-शॉप का काम मुश्किल था। हर समय मशीन पर खड़े रहने का काम था। लाख साबुन लगाने पर भी तेल की बू हाथों से जाती नहीं थी। मगर यह भी एक जीवन-पद्धति थी, जिसमें अनोखा रस था! वह इस रस में डूबता गया, क्योंकि उसकी रोटी इसी में से निकलती थी, उसकी खुशहाली इसी में थी।

शनिवार को वह अपने बनाए दसों जॉब लेकर मैनेजर के ऑफिस में गया, तो उसे लगा कि उसकी प्रगति की रिपोर्ट पहले ही वहाँ पहुँच चुकी है। मैनेजर ने उसे बैठाकर चाय पिलायी और उसकी कार्यकुशलता पर बधाई दी।

खरे उससे झेंपा-झेंपा-सा रहने लगा था। वह बहुत विनम्र रहता, मगर वर्कर उससे डरने-से लगे थे। नौकरी में कनफर्मेशन पाने की चिंता उसके मन से निकल गयी थी। उसके बजाय चीजों को जान-समझ लेने की उतावली, उसकी क्रियात्मकता बनती जा रही थी। सबको आश्चर्य होता कि नया-नौसिखिया बाबू इतनी जल्दी कैसे सारे दाँव सीख गया! अब उसे कुर्सी-मेज बेज़रूरत मालूम देती थी। उसका मन

करता कि हर समय कुछ-न-कुछ करता रहे- टिपिकल जॉब बनाए; मशीनें ख़राब हों तो खोलकर देखे, प्रोडक्शन-शेड्यूल वक्त से पहले पूरा करवाए... और हर पहली तारीख को तनख्वाह में सौ के कई कड़कदार नोट पाने के बाद सबके साथ मिलकर भंगड़ा नाचे...

कई पहली तारीखें गुज़रीं। घर की हालत सुधरती जा रही थी। हर समय घर में पैसे रहने लगे थे। वह बहनों को बाज़ार घुमाने ले जाता, सिनेमा दिखाने ले जाता। और तब, किसी न किसी बहाने से, उसकी बहनें प्रभा को पकड़ लाती थीं।

पुनश्च : कन्फर्मेशन मिलने तक घरवालों ने सब्र किया। उसके बाद हाथ धोकर उसके पीछे पड़ गए, शादी के लिए। रामनारायन बाजार वाले खन्ना जी बहुत जोर लगा रहे थे। वह हर बार अड़ियल टट्टू की तरह एक ही बात कहता था- मैं अभी शादी नहीं करना चाहता! एक दिन तो वह पिता से लड़ बैठा। प्रभा के बारे में वह उनसे नहीं कह पाया। न जाने क्यों, बहनें भी कुछ नहीं कहती थीं; शायद इसलिए कि प्रभा से उसकी शादी, उनके लिए अंधेरा भविष्य बन सकती थी। आखिर को पापा जी बीच में पड़ गए, तो वह अदब के मारे ख़ामोश हो गया, उससे कुछ कहते नहीं बना। इस मौन को उसकी रजामंदी समझ लिया गया।

रामनारायन-बाजार वाले खन्ना जी की लड़की से उसका विवाह हो गया। प्रभा रोयी कि नहीं? रोयी तो कितना रोयी? पता नहीं...

असत्य के प्रयोग

‘स्पीड क्वीन’ में बिना रिज़र्वेशन वाले यात्रियों के लिये सिर्फ़ एक डिब्बा होता है जिसे जनरल कम्पार्टमेण्ट कहते हैं। इस डिब्बे में घुसना बेहद जान जोखिम का काम होता है। क्योंकि जैसे ही गाड़ी आकर प्लैटफ़ार्म पर रुकती है पचासों यात्री डिब्बे के दरवाजों पर टूट पड़ते हैं। ऐसे में होता यह है कि उतरने वाले और चढ़ने वाले यात्रियों के बीच घमासान युद्ध शुरू हो जाता है और देर तक चलता रहता है। कुली ने मुझसे कहा कि इस डिब्बे में घुसाने के पन्द्रह रुपये लगेंगे, मगर मैं एक दफे उस डिब्बे में आलू के बोरों की तरह तुँसे यात्रियों की बेहाली देख चुका था। हिम्मत नहीं पड़ी।

एयरबैग उठाकर प्लैटफ़ार्म एक के अन्तिम छोर की ओर चला, जहाँ टिकट कलेक्टरों और कण्डक्टरों का दफ्तर था। वहीं कुछ काम बन सकता था। खासा बड़ा दफ्तर था। बीसियों वर्दीधारी नमक हलाल चल फिर रहे थे, बैठे थे, गप्पे लड़ा रहे थे। मैंने जल्दबाजी में एक-दो को अंग्रेज़ी में टटोला और मुंह की खाई। ऐसा सौदा दबी जुबान में ही तय होता होगा। मैं झखमार कर एक बेंच पर बैठ गया, जिसके ऊपर और नीचे चटकीले रंग के सूटकेस रखे थे। यह उन यात्रियों का सामान था जो स्पीड-क्वीन में सीट या बर्थ की जुगाड़ लगाने के लिए गाड़ी में जाने वाले कंडक्टरों के इर्द-गिर्द मंडरा रहे थे। इन लोगों के लिए हर यात्रा एक मौज मजे की चीज़ होती है। कुछ मध्यवर्गीय सदगृहस्थ थे, जिनके चेहरों पर; कण्डक्टरों से ‘जगह नहीं है’ सुन-सुन कर हवाईयों उड़ रही थीं। इन लोगों के लिये यात्रा एक सजा थी जिसे उन्होंने गाड़ी आने के पहले ही भुगतना शुरू कर दिया था।

एक नवविवाहिता क्रिस्म का जोड़ा आया। कुली ने उनके लाल-पीले सूटकेस नीचे टिकाये और उन दोनों को बेंच पर बैठने के लिये कहकर प्लैटफार्म की ओर चहल-कदमी कर रहे कण्डक्टरों की तरफ चला गया। पत्नी बेंच पर बैठ गई, मगर पति बेचैन था। वह कुली के पीछे हो लिया। पति के माथे पर लगे रोली, चावल को देखकर अनुमान किया कि यह ससुराल से विदा करवा कर ले जा रहे हैं। पत्नी के चेहरे पर भारी मेकप था और उसे दूर से देखकर भी समझा जा सकता था कि वह माँ बनने वाली है। मुझे ताज्जुब हुआ कि ससुराल के लोग उन्हें छोड़ने के लिये स्टेशन पर क्यों नहीं आए।

गाड़ी आधा घण्टा लेट थी। प्लैटफार्म पर सरगर्मियाँ बढ़ती जा रही थीं। चूँकि यह एक बड़ा जंक्शन है, इसलिए यहाँ से एक बोगी गाड़ी में जोड़ी जाती है लेकिन स्पीड क्वीन का टिकट आसानी से कभी नहीं मिलता। एक महीने पहले कोई आरक्षण करा ले, नहीं तो बगैर लिए-दिए काम नहीं बनता था। मैंने भी कुछ न कुछ जुगाड़ कर लिया होता, मगर महज दो घण्टे के नोटिस पर मुझे इस यात्रा पर जाना पड़ा था। मैं देख रहा था कि गाड़ी में जाने वाले तीनों कण्डक्टरों को सीधे या कुली की मार्फत घेर-घार कर गर्जमन्द लोग अपनी-अपनी व्यवस्था में जुटे थे। ज्यादातर तो यह हो रहा था कि कण्डक्टर हाथ रखने ही नहीं देते थे। समझ गया कि तीस-चालीस में भी बात बनने वाली नहीं। शायद जगह थी ही नहीं। इसमें ज्यादा खर्च करने का बूता नहीं था सो ठण्डी सांस भर कर बैठा रहा। अपने को तसल्ली दी कि मेरे पास सामान है; न परिवार, ले-देकर एक एयरबैग है। किसी भी डिब्बे में घुस जाऊँगा। फिर जो होगा देखा जायेगा; वहाँ तो आठ-आठ, दस-दस नग सामान वाले लोग थे।

किसी ने आकर किसी को बताया कि गाड़ी अब पचास मिनट देर से आ रही है। मैंने एयरबैग खोलकर पढ़ने के लिए किताब निकाली। यात्रा में समय काटने के लिये हमेशा एक-दो किताबें लेकर चलता हूँ। बैग में से निकली किताब देख कर माथा ठोक लेने की इच्छा हुई

इस दफे यात्रा की तैयारी इतनी जल्दी में हुई थी कि कुछ सोचने-समझने का मौक़ा ही नहीं मिला। बैग में ज़रूरत भर का सामान पत्नी ने लगा दिया था। किताब भी उसी ने

रखी थी। किताब थी-‘सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा’ यानी गांधी जी की जीवनी। भला बताइए, क्या यह ऐसी किताब है कि जिसे बगैर रिजर्वेशन वाले लम्बे समय में मजे से समय काटने के लिये पढ़ा जा सके।

बुक स्टॉल से कोई रंगीन चटपटी पत्रिका ले आता, मगर यात्रा पूर्व की हौलदिली या नर्वसनेस का कुछ ऐसा असर था कि बेंच से उठने को मन नहीं हुआ। ‘सत्य के प्रयोग’ खोल कर बैठ गया। कनखियों से कण्डक्टरों, कुलियों और यात्रियों की साठगाँठ की हण्डिया पकते हुए देखता जाता था।

कुली के साथ पसीना पोंछते हुए रोली तिलकधारी पति ने लौट कर उदास बैठी पत्नी को बताया कि इन्तजाम हो गया है। कुली ने कुछ देर तक लल्लो-चप्पो करके दस का एक नोट उनसे झटका और नये शिकार की तलाश में चल दिया। पति-पत्नी वार्तालाप से मुझे पता लगा कि डिब्बे में जगह देने के लिए उन्होंने चालीस रुपये चढ़ाये हैं। मैंने फिर ‘सत्य के प्रयोग’ में आँखें गड़ा लीं। पढ़ने में भला क्या मन लगता, सोचने लगा गांधीजी हमेशा थर्ड क्लास में यात्रा करते थे; लेकिन उनके लिये थर्ड क्लास और फर्स्ट क्लास में क्या फ़र्क होता होगा। उनके प्रवेश करने मात्र से वह डिब्बा अति विशिष्ट और गरिमामय हो उठता होगा। आजकल के नेता तो खैर, रेल में चलते ही नहीं। शायद यात्रियों की परेशानियों का ख़्याल करके, मगर गाँधी जी सत्य पर इतना ज़ोर क्यों देते थे। क्या हुआ ज़ोर देने से। उनका सत्य उनके साथ ही चला गया- यही सब सोचते हुए सहसा मेरे जेहन में एक नायाब आइडिया कौंधा। शायद ‘सत्य के प्रयोग’ शीर्षक की प्रतिक्रिया के कारण। मैं फुर्ती से उठ खड़ा हुआ।

मैंने रोनी सूरत बना ली और सीटिंग वाले डिब्बे के कण्डक्टर की तलाश करने लगा। कई लोगों से पूछ-ताछ की तब वह नज़र आया। गहरे काले रंग और चेचक के दाग भरे चेहरे वाला चिड़चिड़ा सा शख्स। उसे घेर कर मिन्नत कर रहे दो-तीन लोग जब झिड़कियाँ खाकर अलग हुए तब मैं उसके सामने जाकर रिरियाने लगा। साहब, मेरी तकलीफ पर जरा गौर करें मैं बहुत परेशानी में हूँ। मेरा छोटा भाई घर से भाग गया है। हम लोग चारों तरफ़ उसे तलाश कर रहे हैं। मेरी माँ हार्ट पेशेन्ट हैं, अगर वह एक-दो रोज़ में नहीं मिला

तो बेचारी मर जायेगी... प्लीज़! मेरी मदद कीजिए। किसी तरह भी हो मुझे इस गाड़ी में ले चलिए। मेरे पास न तो कोई सामान है, न ही मुझे वहाँ रुकना है। एक-दो जगह उसके मिलने की उम्मीद है, फिर उल्टे पाँव ही वापस लौटना है। प्लीज हेल्प मी।

उसने अपनी पैनी नज़र से मुझे देखा। मैंने कभी भी मंच पर अभिनय नहीं किया, मगर जाने कैसे उस समय मैं इतना रुआँसा और उदास बन गया था कि वह चिड़चिड़ा कण्डक्टर तक कुछ नरम पड़ गया। उसने पूछा, कितनी उम्र थी आपके भाई की?

‘यही साहब, कोई चौदह-पन्द्रह साल।’

‘क्या फेल हो गया इम्तहान में?’

मैं ‘हाँ’ कहते-कहते रह गया। मुझे याद आ गया कि उस समय परीक्षा परिणामों का मौसम नहीं था। ‘हाँ’ कहते ही पकड़ा जाता।

‘नहीं साहब, यँ ही घर में कुछ कहा-सुनी हो गई। वह नादानी कर बैठा। हम लोगों के गले मुसीबत पड़ गई। साहब, किसी तरह से भी मुझे अपने साथ ले चलिये। नहीं तो माँ...!’

‘ठीक है, गाड़ी में कोच लग जाये तो आप मेरे वाले कम्पार्टमेन्ट में आ जाना। खड़े-खड़े चलना पड़ेगा, क्योंकि जगह बिल्कुल नहीं है समझे।’

लीजिए, अन्धा क्या चाहे, दो आँखें। मैंने उनकी ओर हाथ जोड़कर श्रद्धापूर्वक सिर झुकाया और कुछ कहने ही जा रहा था कि वह आगे चल दिया।

मैं संतुष्ट हो बेंच तक लौटा तो देखा एक सफारी सूटधारी थुल-थुल व्यापारी मेरी जगह बैठा था। मैं अपना बैग उठाने लगा तो उसने मुस्करा कर पूछा, ‘क्यों गुरू हो गया न काम। कितने रुपये लिये? अपन से तो चालीस रुपये पकड़ लिए हैं। कहता है आगे बर्थ भी दिलवा देगा। आपको क्या मिली सीट?’

मैंने हामी में सिर हिलाया। बोला कुछ नहीं।

‘स्पीड-क्वीन’ मामूली गाड़ी नहीं। जैसी रंग-बिरंगी बाहर है, वैसी ही आरामदेह और शानदार अन्दर। मगर उनके लिये जिनका आरक्षण हो। मैंने पूरे डिब्बे में धक्के और झिड़कियाँ खाते हुए एक चक्कर लगा कर यह पाया कि सामान्य गाड़ियों के डिब्बों की तरह इसके सीटिंग कम्पार्टमेन्ट में बैठने या सामान धरने के लिये ख़ाली फर्श कहीं भी नहीं है। एक ओर तीन सीटों वाली पंक्तियाँ थीं। तो दूसरी ओर दो वाली। बीच में संकरा गलियारा—आने-जाने के लिये। दरवाजों के पास सिर्फ़ इतना ही गलियारा कि डिब्बे में चढ़ा उतरा जा सके। बैठना तो दूर रहा, उस डिब्बे में खड़े होने के लाले थे। स्टेशन पर गाड़ी रुकी थी, इसलिए बहुत से लोग प्लैटफ़ॉर्म पर उतरकर चाय, फल या हवा ले रहे थे। इस आवागमन की वजह से किसी जगह टिक कर खड़े होना भी मुश्किल था। मैंने देखा कि यही हाल नवविवाहित जोड़े और थुलथुल व्यापारी का था उन्हें भी सीट-वीट मिली नहीं थी, सिर्फ़ डिब्बे में घुसा लिया गया था। इसके लिये चालीस रुपये। लूट है। मैंने मन में सोचा, इससे तो मेरा असत्य का प्रयोग ही अच्छा रहा।

अन्त में हम सब मुसीबत के मारे एक जगह इकट्ठे हुए। थुलथुल व्यापारी इस बीच में शायद कण्डक्टर से मिल आया था, उसने मिलते ही कहा, भई, थोड़ी देर की तकलीफ है, फिर आगे कम्पार्टमेन्ट में बर्थ ख़ाली हो जायेगी।

गाड़ी चली तो हम लोग डिब्बे के तीन दरवाजों में से बीच वाले दरवाजे के पास गैलरी में जा खड़े हुए। अब वह स्थान ख़ाली था। उस व्यापारी ने अपने सूटकेस में से एक कीमती चादर निकाल कर नीचे बिछा दी। हम लोग बैठ गये। पति-पत्नी दरवाजे से सटकर, व्यापारी बीच में और गैलरी के अन्त में मैं। थोड़ी ही देर में सीटों के बीच वाले रास्ते में आने-जाने वालों के घुटने और जूते मेरी पीठ पर बजने लगे। मैंने आगे सरकना चाहा, मगर उस नवविवाहिता को घुटनों में मुँह देकर सिसकते देख कर जहाँ था वहाँ बैठा रहा। व्यापारी भी घबराकर मेरी ओर खिसक आया था।

पति-पत्नी में धीमे-धीमे होने वाली बातचीत से पता चला कि वह जिद्द करके बिना मुहूर्त के पत्नी को विदा करवा लाया था। उसे ससुराल वाले बुधवार को बिदा करने के पक्ष में नहीं थे, मगर वह अड़ गया था। इससे बात इतनी

बढ़ गई कि झगड़ा होते-होते रह गया। बेमन से लड़की को विदा किया और स्टेशन तक कोई छोड़ने भी नहीं आया। वह कह रहा था कि अगर पापा की बात मान कर एक दिन रुक ही गये होते तो इस तरह फर्श पर बैठ कर यात्रा नहीं करनी पड़ती। वे लोग कुछ-न-कुछ इन्तजाम कर ही लेते।

पति ने फिर वही बात दोहराई कि उसे एक दिन को भी छुट्टी नहीं मिल सकती थी। वृहस्पतिवार को ड्यूटी ज्वाइन करना ज़रूरी था।

पत्नी ने रोने से लाल हो गई बड़ी-बड़ी आँखों से रोषपूर्वक उसे देखकर कहा- तुमने पापा का बहुत अपमान किया है। कितना दुख हुआ होगा उन्हें। हे भगवान! वह फिर सिसकियाँ भरने लगी।

मैंने बैग खोलकर किताब निकाल और अललटप्पू जहाँ से भी खुल गई पढ़ने लगा। गाँधी जी दक्षिण अफ्रीका में यात्रा कर रहे हैं। इससे पहले कि मैं इस प्रसंग को पढ़ना शुरू करूँ वह स्त्री बिफर कर बोली, 'प्लीज़ डॉट टच मी! स्त्री होती ही क्या है? पैर की जूती। जब जी चाहा पहन कर चल दिये। जब मन में आया उतार कर फेंक दी।'

पति उसको कवर करके इस तरह हम लोगों की तरफ पीठ करके बैठ गया कि हमें समझ में नहीं आया कि क्या करें।

उस व्यापारी ने मेरे हाथ से किताब लेते हुए कहा, गुरु क्या पढ़ रहे हो? कोई नाविल-शाविल है क्या?

मैं चुप रहा। उसने आवरण पृष्ठ देखा और तुरन्त वह पुस्तक मुझे लौटा दी। उस स्त्री की सिसकियाँ मंद पड़ रही थीं।

थुलथुल व्यापारी ने उन दोनों की ओर आँख से इशारा करके एक मुस्कान मारी, मुझे यह बेहूदापन लगा। मैं पढ़ने लगा।

उस डिब्बे में लड़कों का एक दल था जो राजधानी से कोई अंतर्राष्ट्रीय तमाशा देखकर लौट रहा था। इन लोगों ने डिब्बे को सिर पर उठा रखा था, वे किसी अहिन्दी भाषी राज्य के थे और अटपटी सी भाषा में लोगों का ठट्टा करते

चल रहे थे। बीच-बीच में धड़ल्ले से अंग्रेज़ी झाड़ने लगते। खैर, अपने को क्या? इसी भावना से डिब्बे के शेष यात्री उनकी जा-बेजा हरकतों को सहन कर रहे थे। कभी वे हाकरों को तंग करते तो कभी डिब्बे में चढ़ने वाले नवागंतुकों को गाली देते और बाहर खदेड़ते। कुछ तो सिर्फ अण्डरबियर पहन कर घूम रहे थे जैसे उनके घर का आँगन हो। हम लोगों पर उनका हमला तब हुआ जब गाड़ी एक स्टेशन पर रुकी।

डिब्बे में तीन दरवाज़े थे, अगर एक, जहाँ हम बैठे थे, बंद भी रहता तो कोई ख़ास परेशानी किसी को नहीं होती, मगर लड़के कहीं मानने वाले थे! उन्होंने चीखना-चिल्लाना शुरू कर दिया। व्यापारी ने उन्हें समझाना चाहा तो वे उसी पर चढ़ गए। उसने भी तैश में आकर कह दिया। नहीं हटते। जो करना हो कर लो।

एक लड़का आगे बढ़कर बोला, ऐई तुम लोग हटो यहाँ से।

हम लोग चुपचाप बैठे रहे।

वह आगबबूला होकर बोला, 'नहीं हटेगा तो हम तुमको जूता से मारेगा।'

बस फिर क्या था। व्यापारी उठ खड़ा हुआ। उसने आव देखा न ताव। उस लड़के का गिरेबान पकड़ा और रोकते-रोकते दो हाथ जमा दिए। डिब्बे में हड़कम्प मच गया। कई लड़के व्यापारी को मारने के लिये उतारू हुए। वह भी कम नहीं था गरज कर बोला, 'आओ आज हो जाय। मैं अकेला हूँ तुम हो बीस, मगर एक-दो को तो अपने साथ ले ही मरूँगा।'

उसके यह तेवर देखकर उन लड़कों का नेता बोला, 'तुम लोग अनअथोराइज्ड पैसेंजर हो। ऊपर से मारपीट करता है। कम आन! लेट अस काल दि कण्डक्टर।'

नेता की इस बात ने उनको धर्म-संकट से उबार लिया। कण्डक्टर को ढूँढ़ने के लिए बहुत से लड़के वहाँ से कम हो लिए। व्यापारी मूँछों पर ताव देने लगा। बोला 'साले, छटांक-छटांक भर के हैं मगर रोल मचा रखी है। कसम से आज दो-चार के नट-बोल्ड ढीले कर देता, मगर भाग गए साले मैदान छोड़कर!'

मैं निश्चिन्त नहीं हो सका। हम लोग अवैध यात्री तो थे ही, जाने अब क्या होगा। शायद कण्डक्टर हम लोगों को डिब्बे से बाहर करने के लिए मजबूर हो जाये। गाड़ी स्टेशन से चल दी, मगर कण्डक्टर नहीं आया। मैं किताब पढ़ने में डूब गया।

संयोग की बात किताब में मैं गाँधी जी की रेल-यात्रा का प्रसंग पढ़ रहा था। वे डरवन से प्रिटोरिया जा रहे थे, फर्स्ट क्लास में (क्योंकि तब तक 'महात्मा' नहीं हुए थे, सिर्फ वैरिस्टर थे) मुझे रस आने लगा। किताब उतनी बोर नहीं थी, जितनी मैं समझ रहा था- वह चला गया। इस बीच एक यात्री आया। उसने मेरी तरफ देखा, मुझे भिन्न वर्ण का पाकर वह परेशान हुआ, बाहर निकला और एक-दो अफसरों को लेकर आया। किसी ने मुझे कुछ न कहा। आखिर अफसर आया। उसने कहा इधर आओ। तुम्हें आखिरी डिब्बे में जाना है।

मैंने कहा, 'मेरे पास पहले दर्जे का टिकट है।'

उसने जवाब दिया, इसकी कोई बात नहीं। मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम्हें आखिरी डिब्बे में जाना है।

मैं कहता हूँ कि मुझे इस डिब्बे में डरवन से बैठाया गया है और मैं इसी में जाने का इरादा रखता हूँ।

अफसर ने कहा, 'यह नहीं हट सकता। तुम्हें उतरना पड़ेगा, और न उतरे तो सिपाही उतारेंगे।'

मैंने कहा, 'तो सिपाही भले उतारे, मैं खुद तो नहीं उतरूँगा।'

सिपाही आया। उसने मेरा हाथ पकड़ा और मुझे धक्का दे कर नीचे उतारा। मेरा सामान उतार दिया। मैंने दूसरे डिब्बे में जाने से इंकार कर दिया। ट्रेन चल दी।

कुछ लड़कों ने आकर कहा, 'सब लोग उठो। कण्डक्टर वहाँ बुलाता है सबको।'

व्यापारी, मैं और वह पति तीनों उठ खड़े हुए। लड़कों के पीछे-पीछे डाइनिंग कार की ओर चल दिए, जहाँ कण्डक्टर बैठा था। मैं सोच रहा था कि इन दोनों ने तो कण्डक्टर को पैसे खिलाए हैं, एक मैं ही हूँ मुफ्तखोर! मुझे अगले स्टेशन पर उतार दिया जाएगा और इससे पहले कि मैं किसी दूसरे डिब्बे में जगह खोज पाऊँ, ट्रेन चल देगी।

खैर, ऐसा कुछ नहीं हुआ। उल्टे कण्डक्टर ने लड़कों को समझाया, 'देखिए ये बेचारे बड़ी मुसीबत में हैं। इनका भाई घर से भाग गया है। उसे ढूँढ़ने जा रहे हैं। आन ह्यूमन ग्राउन्ड इन्हें मैंने अलाऊ किया है और ये जो सज्जन हैं उनकी वाइफ प्रेगनेंट हैं, प्रेगनेंट! जरा सोचिए, क्या इन्हे डिब्बे से धक्का मार कर उतारा जा सकता है। आन ह्यूमन ग्राउन्ड जरा सोचिए।'

लड़के हम लोगों की सच्ची-झूठी मुसीबतें सुन कर कुछ शान्त हो गए। दरअसल वे सच में तो पीछे पड़े थे, व्यापारी के। कण्डक्टर ने उनकी यह बात मान ली। दूसरे डिब्बे में एक बर्थ खाली होने वाली थी। व्यापारी तुरन्त अपना सामान लाने चला गया।

लड़के बोले, 'ठीक है। ये दोनों लोग बैठ सकता है लेकिन दरवाजा का पास नहीं। दूसरा जगह बैठेगा।' कुछ देर बहस के बाद यह निष्कर्ष निकला कि हम डिब्बे के संडासों के बीच वाली गैलरी में बैठ सकते थे।

मैंने और उस पति ने राहत की साँस ली। झगड़ा सुलझ गया था। ट्रेन तेज़ गति से गंतव्य स्थल की ओर जा रही थी, हमको लेकर। यही बहुत था। व्यापारी मय सामान दूसरे डिब्बे में चला गया। डाइनिंग-कार छोड़ने को मन नहीं हो रहा था। हमने इरादा किया कि चाय वहीं पी जाए। कुछ सोचकर हमने कण्डक्टर को भी चाय के लिए आमन्त्रित कर लिया।

डाइनिंग-कार में सुरुचिपूर्ण साज-सज्जा थी। मेजों पर हल्के रंग के मेज-पोश बिछे थे, गुलदान रखे थे। जाकर बैठे तो बड़ा सुहावना लगा यह परिदृश्य। खासतौर पर यह सोचकर कि वापस लौट कर दो सण्डासों के बीच वाली जगह में बैठना होगा।

पति जैसे अपने आप से ही बोला, 'साला आज का दिन ही खराब है। पता नहीं किसका मुँह देखा उठकर। सबेरे से झगड़ा-ही-झगड़ा हो रहा है। खामखाँ मैं फ़ादर-इन-ला से भिड़ गया। अरे, एक दिन लेट हो जाते तो कौन फ़ाँसी लग जाती। हुँह! गाड़ी में आए तो यहाँ झगड़ा।'

मैं और कण्डक्टर चुपचाप उसके स्वगत कथन को सुनते रहे। हमें उसमें कहने को था भी क्या! किताब हाथ में

साथ चली आई थी, कण्डक्टर ने यह कहते हुए ले ली, 'क्या पढ़ रहे हैं आप!' कुछ देर तक वह किताब को उलटता-पलटता रहा, फिर साश्चर्य बोला, 'क्या आप गाँधीवादी हैं?'

चूँकि मैंने उसे एक नया पैसा भी घूस नहीं दिया था, इसलिए मैं सगर्व कह सकता था, मगर जल्दी से बोल पड़ा, 'नहीं तो।' जाने उस समय गाँधीवादी कहलाना क्यों अखरा। शायद इसलिए कि मैंने झूठ बोल कर डिब्बे में जगह पाई थी। भले ही सण्डास के पास क्यों न हो! तब तक चाय आ गई। मैं चाय पीते-पीते इतना उदास बन गया कि कण्डक्टर ने सहानुभूतिपूर्वक कहा, 'भाई साहब, चिन्ता मत करिए आपका भाई जल्दी ही लौट आएगा। सब लौट आते हैं।'

मैं दुःख में डूबे हुए आदमी की तरह खामोश रहा। मेरा सफ़र का साथी वह पति भी सहानुभूति से मुझे देखने लगा, सब ठीक जाएगा! उसने कहा। पता नहीं मेरे लिए या खुद के लिए। कण्डक्टर किताब के पन्ने उलटने लगा फिर जाने कैसे उसके मन में आया कि वह कह उठा, 'जानते हैं, मैं खुद एक बार बचपने में घर से भाग गया था।'

हम दोनों ने चौंक कर उसे देखा, मैं कल्पना करने लगा कि वह श्यामवर्ण का बचपन में कैसा लगता होगा? पति खुशामदी स्वर में बोला, 'अरे, आप... आप बचपन में! कमाल है!' जैसे घर से भाग जाना बहादुरी की बात हो।

कण्डक्टर ने तब तक स्मृतियों के स्वीमिंग पूल में छलांग लगा ली थी। वह कहता गया, 'इण्टर में फ़िजिक्स का पेपर ख़राब हो गया तो, ऐसा लगा कि आसमान टूट कर सिर पर गिर गया है। बस, चुपचाप 'बम्बई मेल' में जा बैठे। वह भी वगैर टिकट। पहुँच गए बम्बई। लेकिन साहब चार-छह दिन में ही होश ठिकाने आ गए। दुम दबा कर लौट आए। आकर देखा, माँ ने रो-रो कर आँखों की रोशनी कम कर डाली थी। पिताजी तो पागल से हो गए थे। तभी तो कह रहा था कि आपका भाई लौट आएगा। ज़रूर लौट आएगा।'

मेरा मन भारी होने लगा। मुझे लग रहा था जैसे सचमुच मेरा छोटा भाई भाग गया है। रोते-रोते माँ की आँखें सूज गई हैं और पिताजी बदहवास हो कर पागलों की तरह दौड़ रहे हैं। वह खूबसूरत झूठ मुझे छलावे की तरह छल गया। मेरी आँखें भर आईं। मैंने रूमाल में मुँह छुपा लिया।

हम सण्डासों के बीच बैठे इधर-उधर की बातें करते रहे। गाड़ी की चमक-धमक के मुकाबले सण्डास बेहद गन्दे और दुर्गन्धयुक्त थे। थोड़ी-थोड़ी देर बाद लोग आते। हम सिमट कर उनके लिए रास्ता छोड़ देते। सण्डास का दरवाजा खुलता और सण्डास के मारे जी मिचला जाता। लेकिन मजबूरी थी। हम दोनों तो जैसे-तैसे झेल रहे थे, मगर पत्नी की बुरी हालत थी। वह कई बार उल्टियाँ कर चुकी थी और बराबर नींबू का टुकड़ा चाटे जा रही थी।

हम लोग अच्छी तरह घुल-मिल गए। कई बार चाय का दौर चला। पति दरअसल नई उम्र का भावुक इन्सान था। ताव में आ कर ससुराल वालों से लड़ तो आया था, मगर उसके पश्चाताप का अब कोई अन्त नहीं था। लगभग पूरे समय वह अफ़सोस ही ज़ाहिर करता रहा। रात को हमने पूरी लम्बाई में बिछा लिया। रात को कौन आता है, टायलट में! डिब्बे के यानी नींद की गोद में होते जा रहे थे। एक-दो शरीफ़ आदमी हाज़त के लिए आए, मगर हमें फ़ैला देख कर लौट गए। दूसरी तरफ़ भी दो सण्डास थे। कुछ ऐसे भी थे जो बिना इस बात की परवाह किए कि चादर पर पाँव पड़ रहा है। सण्डास में जा कर ही माने।

धीरे-धीरे रात गहराने लगी। मेरा मन किताब में लग गया था। मैं जाग कर पढ़ता रहा। वे दोनों दीवार से टिक कर सो गए। मुझे न तो नींद आ रही थी, यही लेशमात्र जगह भी थी कि टिककर या पैर फ़ैलाकर कुछ देर सो लेता।

मैंने ग़ौर किया कि एक लड़का बार-बार हाज़त के लिए आता और धड़ल्ले से चादर पर गीले जूते के निशान बनाता हुआ गुज़र जाता। बुरा तो लगा, मगर उससे क्या कह सकता था। डील-डौल में भी मुझसे दोगुना था। मुझे उसका आना-जाना इतना बुरा नहीं लग रहा था, जितनी कि उसकी अशिष्टता। वह कुछ सकुचाते हुए, आ 'म सॉरी, कहते हुए भी जा सकता था, मगर वह तो आते-जाते ठोकर मारता सा लगता। सप्रयास मैंने उसकी ओर ध्यान देना छोड़ दिया और गाँधीजी की जीवनी में निमग्न हो गया। ट्रेन से उतार दिए जाने के बाद उनकी चार्ल्सवर्ग से जोहान्सवर्ग तक की सिकरम (घोड़ागाड़ी) की यात्रा भी कम लोमहर्षक नहीं थी। वैध टिकट होने के बावजूद उन्हें अन्दर गोरे यात्रियों के पास न बैठा कर कोचवान के पास बैठाया गया। जब सिकरम के

गोरे मुखिया को सिगरेट की तलब लगी तो वह बाहर आया कोचवान के पास बैठने। गाँधी जी को उसने नीचे पैरों के पास बैठने का हुक्म दिया। गाँधीजी ने इन्कार कर दिया। उन्होंने कहा, 'मैं अन्दर जाने को तैयार हूँ, पर तुम्हारे पैरों के पास बैठने को तैयार नहीं।'

'मैं मुश्किल से इतना कह पाया था कि मुझे पर तमाचों की वर्षा होने लगी और वह गोरा मेरी बाँह पकड़ कर मुझे नीचे खींचने लगा। बैठक के पास ही पीतल के सींखचे थे। मैंने भूत की तरह उन्हें पकड़ लिया और निश्चय किया कि कलाई चाहे उखड़ जाए, पर सींखचे न छोड़ूँगा। मुझे पर जो बीत रही थी, उसे अन्दर बैठे हुए यात्री देख रहे थे। वह गोरा मुझे गालियाँ दे रहा था, मार भी रहा था। पर मैं चुप था। वह बलवान था और मैं बलहीन...'

पढ़ते-पढ़ते मेरा खून खौलने लगा। एक बैरिस्ट्री पास इलैण्ड में पढ़ कर आए आदमी के साथ यह सलूक था तो उन बेचारे अनपढ़ भारतीय श्रमिकों का क्या हाल होता होगा जो 'गिरमिट' हो कर वहाँ जाते थे। गाँधीजी ने बलवानों को बलहीनों पर जुल्म ढाते देखकर अहिंसा का हथियार ईजाद किया होगा। मैं इन्हीं भावों में डूब-उतरा रहा था कि 'ऐई हटो! हटो इधर!' का कर्कश विवाद सुनाई पड़ा।

वही लड़का फिर आया था। सिर्फ एक कच्छ और बनियान पहने। मगर इस बार शौचालय का रास्ता अवरुद्ध था। पत्नी जो कि पहले एक सण्डास के सहारे पीठ टिकाए सो रही थी, अब पति की गोद में सिर रखे सामने चादर पर हिन्दी के सात अंक की तरह पसरी पड़ी थी। कुछ अजीबोगरीब स्थिति में। वह लड़का उन दोनों को उलांघ कर नहीं जा सकता था, इसलिए आवाज़ देकर जगा रहा था। उसने कई आवाज़ें दीं, लेकिन उस बेसुध पड़े जोड़े के कान पर जूँ नहीं रेंगी।

'कैसा जानवर का माफ़िक सोता है। सूअर कहीं का!' ऐसा लग रहा था कि उसको हाजत की बेचैनी थी, क्योंकि वह कसमसा रहा था। मैं समझ नहीं पा रहा था कि क्या किया जाए। चाहता तो उन्हें जगा देता मगर उस लड़के की आवाज़ाही से आजिज आ चुका था। चुप रहा, देखें क्या करता है।

उस लड़के ने पैर के जूते की नोक से पत्नी के पैरों की ओर से कौंचा। वह उठी तो नहीं, मगर करवट बदल कर उस तरफ़ से इस तरफ़ आ गई। 'देखो, कैसा सोता है! एकदम जानवर का माफ़िक!'

इस बार उसने जूते की नोक से उस स्त्री के मर्मस्थल पर आघात किया। वह सकपका कर उठ बैठी।

इस कमीनी हरकत को देख कर मेरे तन-बदन में आग लग गई। मैं आवेश के मारे काँपने लगा। गुस्से में चीखा, 'तुम खुद जानवर हो। जंगली जानवर! तुम्हें शर्म नहीं आती एक सोती हुई औरत को लातें मार रहे हो! कमीने!'

मेरी तमतमाहट देख कर वह भौचक्का रह गया, फिर अपने को सम्भाल कर बोला, 'ज़्यादा बकवास मत करो। ये सोने का जगह नहीं। लैट्रीन का रास्ता है। जो भी यहाँ सोएगा, हम उसको लात मार कर हटा देगा। सूअर कहीं का!'

वह स्त्री और उसका पति आँखें मलते हुए यह दृश्य देख रहे थे। स्त्री का चेहरा गुस्से में लाल हो रहा था फिर भी वह खामोश थी। इस शोर-गुल को सुन कर डिब्बे से दो-चार यात्री उठ कर वहाँ आ गए। वह लड़का चाहता तो चुपचाप सण्डास में घुस जाता, मगर वह खड़ा आग्नेय नेत्रों से हमें घूरता रहा।

मैंने पाया कि लात की धमकी मेरे लिए असह्य थी। वह सामने चुनौती देता सा खड़ा था। उससे भिड़ने की ताकत मुझमें नहीं थी। वह बलवान था, मैं बलहीन। मुझे गाँधीजी की याद आई। बस मैं किताब हाथ में पकड़ कर सण्डासों के बीच वाले रास्ते में लेट गया। एक हाथ सिरहाने रख कर मैंने उसे ललकारा, 'ले, मैं यहाँ लेटा हूँ! अब तू मुझे लात मार कर उठा! मार जितनी लातें मार सकता हो!'

मेरे इस दाँव को समझने में उसे कुछ समय लगा। उसने सहज ही मुझे उलाँघने के लिए पैर बढ़ाया। स्त्री यह समझ कर कि वह मुझे लात मारने जा रहा है बिफर पड़ी, 'गुण्डे, बदमाश! तुझे रात भर हो गई लैट्रीन जाते! कब से तू मेरे को ठोकरे मार रहा है! तेरे घर में माँ-बहन नहीं हैं क्या? खबरदार जो इनको छुआ भी! दूर हट!'

उसने जल्दी से अपना बड़ा हुआ पैर वापस खींच लिया। पल भर में वहाँ यात्रियों की भीड़ इकट्ठी हो गई। उसके कई साथी भी आ गए। उनको देख कर उस लड़के का हौसला बढ़ा। उसने नथुने फुला कर क्रोध-पूर्वक कहा, 'हटो, हट जाओ लैट्रीन का रास्ता से। नहीं तो हम लोग तुमको उठा कर फेंक देगा।'

उसकी धमकी से सिहर कर पति महोदय ने मुझे समझाने के लिए कहा, 'भाई जी, छोड़िए भी, इसे सण्डास जाना है तो जाने दीजिए। अपने को तो सफर काटना है किसी तरह!'

मैंने देखा कि पत्नी गुस्से में कुछ कहने जा रही है। उसके शील की रक्षार्थ मैं जल्दी से बोल पड़ा, 'आपको मालूम नहीं है। आप तो सो रहे थे। आपकी 'वाइफ' के साथ इस गुण्डे ने क्या सलूक किया है। मैं इसे किसी हालत में यहाँ से गुजरने नहीं दूँगा!'

तमाशबीन यात्री भी लड़कों को व्याजस्तुति करने लगे। कोई जाकर कण्डक्टर को उठा कर लाया। बात समझते ही कण्डक्टर ने उस लड़के को डाँटा, 'जानते हो एक लेडी से मिसविहेव करने का नतीजा क्या हो सकता है? अगले स्टेशन पर ये रिपोर्ट लिखवा देंगी तो बंधे-बंधे फिरोगे। सारी दादागीरी निकल जायेगी!'

कई लोग बोले, रेलवे पुलिस बुलाओ!

वह लड़का पुलिस के नाम पर ढीला पड़ गया। पुलिस में हम भी रिपोर्ट लिखाएगा। आने दो! हम देखेगा! साला लैट्रीन जाने का रास्ता ब्लाक करता है।'

एक सरदारजी बीले, 'ओए तू दूसरी तरफ नहीं जा सकता! उधर भी बाथरूम है। यहाँ एक जनानी बैठी है तो उधर ही चला जा।'

एक बुजुर्ग बिगड़ कर बोले, 'दिल्ली से ही इन लोगों ने नाक में दम कर रखा है। कभी किसी हाकर को पीटते हैं तो कभी मुसाफिरों को धक्के देते हैं। गाली से नीचे तो बात नहीं करते माँ के लाल। हद हो गई। गाड़ी क्या इनके बाप की है! कोई पूछे इनसे!'

लड़का मुँहजोरी में कम नहीं था, 'हाम ब्लैक में रिज़र्वेशन किया है। तीस टोका खरचा किया है सीट के लिए। जहाँ हमारा मर्जी होगा वहाँ जाएगा। ये अनअथराइज्ड पैसेंजर हमको बाथरूम जाने से रोकने नहीं सकता।'

इस बार स्त्री दृढ़ स्वर में कण्डक्टर से बोली, 'आप पुलिस को बुलाइए। मैं इसकी रिपोर्ट करूँगी।'

वह बुजुर्ग बोले, 'हम सब विटनेस हैं। गवाही देंगे।'

मामला बढ़ता देख कर लड़का सारी हेकड़ी भूल गया। झूठ-मूठ पाँव पटकता साथियों को पुकारता वापस डिब्बे की तरफ चला गया।

कण्डक्टर ने मुस्करा कर कहा, 'नेताजी! उठिए, वह तो मैदान छोड़ गया। मान गए, भई, आप पक्के गाँधीवादी हैं।'

एक सज्जन ने पूछा, 'क्या ये गाँधीवादी हैं? इनके कपड़ों से तो नहीं लगता। ये तो टेरीकाट डाले हैं।'

कण्डक्टर मेरे हाथ से 'सत्य के प्रयोग' लेकर सबको दिखाते हुए बोला, 'अरे कपड़ों से क्या होता है! यह देखिए, इनके हाथ में कौन-सी किताब है!'

लोग ताज्जुब से कभी मुझको और किताब को देखने लगे। मुझे अपने पास बैठाने के लिए होड़-सी लग गई। मैं सहसा सबकी नज़र में सम्मानजनक व्यक्ति हो उठा था। मैंने सीट देने के इच्छुक कृपालु सहयात्रियों से हाथ जोड़ कर कहा, 'मुझे यहीं रहने दें। मेहरबानी करके इन बहनजी को अपने पास बिठा लें। देखिए, इन्हें इस हालत में इस गंदी जगह बैठना पड़ा है! बहुत तकलीफ़ पाई है इन्होंने!'

मेरी अपील का तुरन्त असर हुआ। बहन जी और उनके पति को हाथोंहाथ ले जाया गया। मुझसे बहुत कहा-सुना गया, मगर मैंने सविनय नकार दिया। मेरे लिए सत्याग्रह स्थल ही ठीक था। मैं वहाँ बैठ कर सत्य के प्रयोग पढ़ने लगा।

गाड़ी अंधाधुंध दौड़ी जा रही थी। हिचकोले खाती। मुझे लग रहा था कि मेरे अन्दर कुछ है जो बाहर आने को छटपटा रहा है। धीरे-धीरे बेचैनी बढ़ती जा रही थी। बापू की किताब 'सत्य के प्रयोग' मेरे आगे थी, मगर चित्त एकाग्र नहीं

हो रहा था। ऐसी भावना जैसे मैले गंदे हाथों में मैंने कोई पवित्र चीज़ पकड़ रखी हो।

मेरे पास से जाकर कण्डक्टर ने डिब्बे के यात्रियों को मेरी नकली व्यथाकथा सुना कर मुझे और अधिक आहत कर दिया था। उस शहर में रहने वाले कई लोग आ कर सहानुभूतिपूर्वक मुझे तसल्ली दे गए कि मैं फ़िरक़ न करूँ। भाई को ढूँढ़ने में वे मेरी मदद करेंगे।

मैंने पाया कि मन की बेचैनी धीरे-धीरे ग्लानि में बदलती जा रही है। यह सही था कि मैंने निर्बल होते हुए भी एक बलशाली समूह पर विजय पाई थी मगर यह विजय जल्दी ही एक ऐसी पराजय में बदल गई जो सिर्फ़ मेरे तक ही सीमित थी। इससे निजात पाने का एक ही तरीका था।

गाड़ी जैसे ही अगले स्टेशन पर रुकी मैं झटके से अपना एयरबैग लेकर उठ खड़ा हुआ। प्लैटफ़ार्म पर उतर कर कण्डक्टर को खोजने लगा। थोड़ी ही देर बाद वह एक टी स्टाल पर चाय पीता नज़र आया। मैंने उसके पास जाकर कहा, 'सुनिए! मैंने झूठ बोला था। मेरा भाई कहीं नहीं भागा है मैंने सिर्फ़ गाड़ी में जगह पाने के लिए यह नाटक किया।'

वह हक्का-बक्का होकर बोला, क्या! क्या तुम्हारा भाई नहीं भागा है?

'नहीं। मैंने आपसे झूठ बोला। क्या आप मुझे इसके लिए माफ़ कर सकते हैं? बड़ी कृपा होगी। अब मैं उस

डिब्बे में नहीं बैठूँगा, जनरल कम्पार्टमेन्ट में जा रहा हूँ।'

'ताज्जुब है साहब! खैर क्या फ़र्क पड़ता है। मेरी ड्यूटी तो यहीं तक थी। यहाँ से दूसरा कण्डक्टर डिब्बे में चलेगा।'

'देखिए मैं जनरल डिब्बे में जा रहा हूँ! सिर्फ़ आपसे माफ़ी माँगने आया था। निश्चित रूप से आप बहुत उदार और सहृदय व्यक्ति हैं। अच्छा चलूँ।'

'अरे, सुनिए तो! कमाल की चीज़ हैं आप भी। रेल की नौकरी में नित नये अजूबे देखते हैं, मगर आपने तो सब को मात कर दिया। खैर जनरल डिब्बे में क्यों जाते हैं। मैं यहाँ वाले कण्डक्टर से कह देता हूँ, वह आपको आराम से वहाँ तक ले जाएगा।'

मैंने हाथ जोड़ कर उससे साग्रह विदा ली। जनरल डिब्बे के दरवाज़े पर धक्का-मुक्की हो रही थी। कोई भी अन्दर नहीं आ पा रहा था। मैं भी भीड़ में शामिल हो गया। सहसा एक जोरदार रेला आया और ज्वार में बहते आदमी की तरह जाने कब मैं अपने आप डिब्बे के अन्दर पहुँच गया। उस डिब्बे में भीड़ बहुत ज़्यादा थी। आदमी पर आदमी चढ़ा था। भीषण उमस और गर्मी थी मगर एक खुलापन था। निर्दोषता थी। मैंने बाकी सफ़र एक टॉग पर खड़े होकर 'सत्य के प्रयोग' पढ़ते हुए तय किया।

शिफ्ट

खेतों के बीच से गुज़रते समय हम काफी चिढ़े हुए थे। बाहर क़दम रखते ही कैंपकैंपा देने वाला एक सर्द झोंका महसूस हुआ। फर्लांग भर की दूरी पर प्लांट जगमगा रहा था। पीछे पीली कोठी थी, अंधेरे में लिपटी। उस रात बाहर जाने वाले हम आख़िरी लोग थे। स्टेशन पार एक पूरी बस्ती सो रही थी। रजाइयों और कम्बलों में हल्की-हल्की गर्मी लेते हुए लोग हमारे आक्रोश का शिकार बन रहे थे। चंदा तो लगातार गालियाँ दिये जा रहा था। हमारे दस्तानों और कोट के रोयों पर नमी जमने लगी थी। धीरे-धीरे हम प्लांट के दायरे में पहुँचते गए।

रात को गेट नम्बर दो खुला रहता है। वहाँ कुछ चहल-पहल थी। शिफ्ट बदलने वाली थी। आते-जाते वर्कर दिखाई दे रहे थे। गेट के नज़दीक वाच एण्ड वार्ड वालों ने आग जलाई हुई थी और कई आदमी आग ताप रहे थे। हमने भी वहाँ से गुज़रते समय आग को हसरत भरी निगाह से देखा।

टाइम ऑफिस में, खिड़की के पास गुप्ता अकेला बैठा था। उसने मफलर को कसकर चेहरे के गिर्द बाँधा हुआ था। वह खिड़की से वर्करों के कार्ड ले रहा था। हमें देखकर उसने सलाम किया और खीसें निपोरीं। उसने वही मैला चीकट गैबरडीन का सूट पहना हुआ था, जो शायद दो साल पहले शादी के मौके पर सिला गया था। उसकी नाक के बाल काफ़ी बड़े थे, बाहर तक निकले हुए। इसलिए मैं नज़र बचाए, हाजिरी के रजिस्टर में दस्तख़त करता रहा। चंदा उसकी खिंचाई कर रहा था। वह रात भर यहाँ शिफ्ट में रहेगा 'उसकी जवान बीवी रात कैसे गुजारेगी?' चंदा परेशानी ज़ाहिर कर रहा था। गुप्ता मूर्खतापूर्ण हँसी हँसता रहा और हाथ मलता रहा। वह चंदा से बहुत डरता था। जाने क्यों।

इस बीच मेरी शिफ्ट का इंस्पेक्टर हमारी टार्चें और थरमस उठवा कर प्लांट पर ले गया।

दोनों प्लांट समानांतर और एक जैसे थे। सिर्फ उम्र का फ़र्क था- प्लांट दू साल भर बाद लगा था। दोनों प्लांटों के बीच जहाँ सीमेंट-एस्बेस्टॉस की शीट चिपकाए नालीदार टेम्पलेट ट्राली पर आकर गिरती थी, वहीं शिफ्ट इंचार्ज बैठा करते थे। शिफ्ट की महत्वपूर्ण गतिविधियाँ यहीं से देखी जा सकती थीं। चार्ज लेते समय अक्सर गरमा-गरमी हो जाया करती थी, परंतु हमने निहायत खामोशी से चार्ज लिया। प्लांट की जनरल कंडीशन संतोषजनक थी। पहले की शिफ्टों का प्रोडक्शन अच्छा रहा था। चार्ज लेने के बाद, हम लोग शर्मा और भारद्वाज को विदा करने बाहर तक गए। उनके जाने के बाद चंदा ने कोट की जेब टटोलकर कुछ मूँगफलियाँ निकालीं और हम चबाते हुए अंदर लौट आए।

सब अपनी-अपनी जगह ले चुके थे। कम्प्रेशर की धड़धड़ाहट, वैक्यूम रिलीज होने की सूं-सूं और गिरती टेम्पलेटों की झनझनाहट। यह लगातार था। चंदा प्लांट टू पर था। टार्च जलाए फ़ैल्ट और सीव-सिलिंडरों का निरीक्षण कर रहा था। अब यह ज़रूरी हो गया था कि मैं भी व्यस्त रहूँ। वह काफ़ी सीनियर शिफ्ट इंचार्ज था। उसके बैठने से पहले मुझे नहीं बैठना चाहिये था। मैं प्लांट का चक्कर लगाने लगा।

सामने शीशे की दीवारों वाला पैनल बोर्ड था। चारों तरफ से बंद। गर्म और साउंड प्रूफ। अंदर घुसते ही पलकें भारी होने लगीं। न तो यहाँ गलाने वाली नम हवा थी, न ही कर्कश आवाज़ें। सनमाइका वाला निर्दोष लकड़ी का फर्श था। फर्श पर दोनों इलेक्ट्रीशियन सोये पड़े थे। मुझे अखरा परन्तु उन्हें जगाने का मन नहीं हुआ। मैं खुद सोच रहा था- थोड़ी देर यहाँ कुर्सी पर बैठे-बैठे सो लूँ। परन्तु ऐसा करना बुरा होता। मैं तेज कदमों से बाहर निकल आया और सीधे मेन ड्राइव के पास पहुँचा। वहाँ ज़मीन थरथरा-सी रही थी-नींद जाती रही।

एक बूस्टर पम्प लीक कर रहा था। मैंने इशारे से फ़िटर को बुलाया। वह शायद मेरे इशारे का ही इंतज़ार कर रहा था। तुरंत ग्लैड टाइट करने लगा। मैं फाइबर मिल की ओर बढ़ गया। यह मिल एक पक्के, वृत्ताकार गढ़े की शक्ल में थी। दो बड़े-बड़े पत्थर के पाट कोल्हू के अंधे बैल की

तरह चल रहे थे। इसमें फाइबर कुचला जाता था। पास ही आयातित एस्बेस्टॉस के बोरों का ढेर लगा था। यह बहुत मजबूत रेशा होता है। इसके कुचले जाने की जगह सौंधी-सौंधी गर्माहट फैली रहती थी। वहीं रेलिंग के सहारे खड़ा सिगरेट पीता रहा। बारह बजकर पैंतीस मिनट ही हुए थे। और आँखें जल रही थीं। दिन में ज़रा भी नहीं सो पाया था।

शाम होने तक तो पीते ही रहे थे। सरदार ने विजय सिंह को भेजकर मँगवाई थी। ड्राई-डे होने के बावजूद, मंगलवार को देसी मिल जाती थी। वैसे हरियाने की देसी शराब बुरी नहीं होती। खास तौर पर संगम। एक बोतल कब ख़त्म हो गई पता ही नहीं चला। दो बार मँगवाई गई। नीचे प्लाश चल रहा था। कई बार बुलावा आया। परन्तु हम सीढ़ियों से लड़खड़ाते हुए उतरने के मूड में नहीं थे। सरदार अपनी थाईलैण्ड वाली पेनफ्रैंड के ख़त निकाल लाया। मैं गालिब की गुजलें पढ़ने लगा। यह सिलसिला इस कदर बढ़ा कि हम आपे से बाहर हो गए थे। जोर-जोर से चिल्लाने लगे थे। पहाड़ी खाना ले आया। अब यही हमारा इलाज़ था। खाने के बाद सरदार ने कहा भी- साले आज तेरी नाइट है। थोड़ी देर सो ले। परन्तु मैं कहाँ मानने वाला था।

रात के दस बजे जब आँख खुली तो देखा-फर्श पर खाली बोतलें, गिलास और थालियाँ बिखरे हुए थे। सरदार थाईलैण्डवाली का फ़ोटो सीने से लगाए पड़ा था। जैसे-तैसे उसे उसके कमरे तक पहुँचाया। उसके बाद कपड़े पहनते और तैयार होते ग्यारह बज गए थे। ज़रा भी सोने का मौक़ा नहीं मिल पाया था।

अभी तो सुबह तक ऐसे ही जागते रहना था। ऊपर चढ़ा जहाँ स्लरी बनती है। मिक्सिंग ड्रम में सर्पिल-ब्लेडों वाला चरखा, छींटें उचाटता चल रहा था। मैं उस ओर पीठ करके खड़ा हो गया। प्लांट पर, लोग यंत्रवत काम कर रहे थे। फ़ैल्ट बराबर सीव सिलिंडरों और प्रेशर रोल्स के बीच दबता हुआ चल रहा था। आपरेटर की अभ्यस्त उँगलियाँ कंट्रोल बोर्ड के पुश बटनों पर चल रही थीं। फुर्तीले कटर बड़े ड्रम के दोनों ओर मुस्तैद खड़े थे। उनके हाथों में लकड़ी की तलवारें थीं। इस ड्रम पर फ़ैल्ट से उतरी शीट की तहें जमती जाती थीं। छः राउंड पूरे होते ही दो लाल बल्ब जलते

थे और लकड़ी की तलवारों तेज़ी से शीट को काट देती थीं। शीट रबर के कन्वेयर पर बिछती हुई आगे चली जाती। यह सब मैं ऊपर से देखता रहा किसी घिसी-पिटी फ़िल्म की तरह।

मैंने देखा टाइम कीपर वर्कर्स की हाज़िरी लेकर आ गया था। चंदा जाने कब का आकर अपनी सीट पर बैठ चुका था। मैं नीचे उतर आया।

हमारे आगे-पीछे कुल मिलाकर चार हीटर दहक रहे थे। यह चंदा की सूझबूझ थी जाने कहाँ से निकलवाए थे। बैठते ही बड़ी राहत मिली। मेरा दिन भर का थका बदन सर्दी में करीब-करीब सुन्न हो गया था। मैंने सोच लिया- अब चाहे जो हो जाए, उठूँगा नहीं। मुझे चंदा वगैरह पर ईर्ष्या हो आई। ये पुराने जमे हुए लोग थे। सारी मुसीबत हम नये शिफ्ट इंचार्जों की थी जिन्हें यहाँ आए कुछ ही महीने हुए थे। लोगों की राय थी कि हम लोग प्लांट को ठीक से नहीं चला पाते थे। मज़े की बात यह थी कि प्रोडक्शन हमेशा हमारी शिफ्टों का अधिक होता था। प्रोडक्शन इंजीनियर एक सरदार था। मेरे तो बेहद खिलाफ़। मैं चाहे कुछ भी करके दिखा देता परन्तु उसे मेरी योग्यता पर रती भर विश्वास नहीं हो सकता था। मेरी मेज़ पर उसके लिखे दो पर्चे पड़े थे। दिन में लिख कर गया था- पिछली रात शिफ्ट में क्वालिटी बहुत पूअर रही थी, चार परसेंट से ऊपर रिजेक्शन हुआ था। यही सोचकर कि उन पर्चों में यही सब होगा, मैंने नहीं पढ़े। चंदा ने पढ़ लिए थे। मेरे इस तरह देर तक बैठने का उसने सीरियस नोटिस लिया। “ही इज वेरी मच अगेन्स्ट यू।” -उसने कहा। मुझे हड़काने के लिए। मैं सुलग उठा। मैंने गुस्से में प्रोडक्शन इंजीनियर को एक भद्दी गाली दी। टाइम-कीपर हँस पड़ा। मैंने चुपचाप हाज़िरी के रोल पर दस्तख़त किये और उठकर मशीन पर चला गया।

टाइम कीपर के जाते ही चंदा ने ताली बजाकर इशारे से मुझे बुलाया और समझाने की कोशिश करने लगा। मुझे टाइम-कीपर के सामने उसे गाली नहीं देनी चाहिये। मेरी नौकरी तक ख़तरे में पड़ सकती थी। मैंने कोई जवाब नहीं दिया। जवाब बनता भी यही था कि अभी घंटे-दो-घंटे प्लांट पर मरते रहो और ये साला, सीनियर होने की वजह से आराम से बैठा रहेगा।

मैंने वही एक्टिंग शुरू की जो दिन की शिफ्ट होने पर हम नये लोगों को करनी पड़ती थी। बेहद व्यस्त नज़र आना। मशीन की महत्वपूर्ण जगहों पर झाँकते घूमना, टार्च जला-जलाकर देखना, मशीन ड्राइवर को बार-बार बुलाना और फ़ैल्ट की लाइफ के बारे में राय लेना वगैरह। लोग हमारी इन हरकतों को उपेक्षा से देखते थे।

कोई-कोई हरामी क्रिस्म का मशीन ड्राइवर हमारी मासूम आबज़र्वेंशंस को जान-बूझकर सीरियसली लेने लग जाता। हम बेवकूफी में खुशी से फूल उठते और उल्टे-सीधे आदेश दे डालते। अपने हाथों से सीव में जाने वाला पानी बंद करने लगते, ताकि चमत्कारिक ढंग से प्लांट पाँच ही राउण्ड में चलने लगे। हमें लगता कि सब हमें देख रहे हैं, प्रभावित हो रहे हैं। थोड़ी ही देर में प्लांट की हालत बिगड़ने लगती। फ़ैल्ट पर एक सार सतह जमने के बजाए फफोले उठने लगते। शीटें ड्रम पर चिपकने लगतीं। आपरेटर बार-बार कन्वेयर को रोक देता और उस पर फटी हुई शीटों का ढेर लगने लगता। कटर पहले शीट काटते, फिर फुर्ती से कन्वेयर पर से फटी शीट के टुकड़े उतार-उतारकर फेंकते। शिफ्ट के वर्कर शोर मचाते, और पसीने से नहाए हम मूर्खतापूर्ण हरकतें करते, मानो स्थिति सँभाल रहे हों। थोड़ी देर बाद स्थिति सँभल भी जाती।

अपनी सीट से उठकर कुछ समय तक शीट की क्वालिटी देखता रहा। फिर फ़ाइबर मैंन के पास पहुँच गया। यह बड़ा चोर आदमी था। हमेशा अपनी लाग- बुक में हेर-फेर किया करता। मैंने फ़ाइबर के मिक्स्चर वाले एक बोरे का वजन चेक किया। सही था। उसे डॉटने का मौका ही नहीं मिला। वह अब, मुझसे बचाकर अपने हेल्परों को आँख मार रहा था। मैंने उसका पीछा छोड़ा।

फ़ाइबर मिल के नीचे एक तहखाना था। यह शिफ्ट के चोरी से सोने वाले वर्कर्स को अड्डा था। कभी-कभी कुछ उस्ताद लोग यहाँ कच्ची उम्र के छोकरो को, जो अक्सर हेल्पर होते थे, लेकर अन्दर सोये रहते थे। चंदा इन बातों को बहुत चेक करता था। कई बार उसने यहाँ लोगों को रंगे हाथों पकड़ा था। मेरी खुद की इच्छा थी- इस तहखाने में किसी संदिग्ध जोड़े को पकड़ूँ। परन्तु यह इच्छा कभी पूरी न हो सकी। मैं टार्च जलाकर नीचे उतरा। एक नया भर्ती हुआ

छोकरा दुबककर सो रहा था। बिल्कुल गोलमोल होकर। उसका पाजामा पाँयचे के पास से लम्बा फटा हुआ था। घुटने से ऊपर तक उसकी टाँग दिख रही थी। सफेद त्वचा पर सर्दी से रोयें उठ आए थे। दाने-दाने। मुझे बहुत अजीब लगा। उस पर दया भी आ रही थी। परन्तु उसका वहाँ सोना मुझे उचित नहीं लगा। मैंने घुटने से ऊपर छूकर उसे जगाने की कोशिश की। वह गहरी नींद में था। मैंने गर्म गोश्त में उँगलियाँ जोर से गड़ाईं। आँखें मलता वह उठा और मुझे सामने देखकर सहम गया। मैंने उसे टार्च से ऊपर का रास्ता दिखाया।

बाहर आते ही वह जल्दी से काम पर लग गया। वह चंदा के प्लांट का था। इससे पहले कि मैं और किसी तरफ जाता चन्दा ने मुझे बुला लिया। उसका मूड बदल चुका था। मेरे पहुँचते ही उसने अल्बर्टो मोराविया का उपन्यास जिसे वह पढ़ रहा था, ड्रायर में रख दिया, हम बातें करने लगे। सहसा वह बड़े नाटकीय ढंग से बोला “शी वाज, माइन सेवेंटी एट्थ!” उस दिन सुबह ही वह दिल्ली चला गया था। इस सबका वह पूरा हिसाब रखता था। उसके पास एक डायरी थी, जिसमें उसके सफल कुँवारे जीवन का पूरा रिकार्ड उसने मेंटेन किया हुआ था। टिक मार्क लगा-लगाकर। उस दिन उसके सैंतीस वर्षीय (कथित) जीवन का अठहत्तरवाँ उसे मिली थी। इस मामले में वह झूठ नहीं बोलता था एक दिन उसने हम सबको बेशुमार खरोंचें भी दिखाई थीं- उसके बाद किसी को अविश्वास नहीं रहा था।

हमने तै किया- खाने-पीने का सामान स्टेशन से मँगवाया जाए। कैंटीन बन्द हो गई थी। स्टेशन के टी-स्टाल पर घटिया क्रिस्म की बेकरी के सख्त और बेमज़ा बिस्कुट, पाव रोटी, सस्ते-परतों वाले समोसे, क्रीम रोल और केले मिलते थे। एक आदमी भेजा गया। नाइट शिफ्ट में अगर मुँह चलता रहे तो अच्छा रहता है। नींद नहीं आती और वक़्त कट जाता है। थरमस से एक-एक कप चाय हमने पी। चन्दा ने शायद मेरी आँखों की हालत देख ली थी। कुछ सोचकर उसने कहा ‘चलो! ऊपर कोनटैक में वाटर लेवल देखने चलें।’ सर्दी की उस भयानक रात में दो-सौ फ़ीट ऊँचे जाकर वाटर लेवल देखने के ख्याल से ही थरथरी हो आती थी। परन्तु मैं अपनी तंद्रा तोड़ना चाहता था, इसलिए तैयार हो गया।

वहाँ तक पहुँचने के लिए लोहे की घुमावदार सँकरी सीढ़ी थी। रेलिंग पकड़े-पकड़े बड़ी सावधानी से चढ़ना होता था। हम दोनों धीरे-धीरे, बातें करते हुए चढ़े। हमें कोई जल्दी नहीं थी। हम फिल्मों के बारे में बातें कर रहे थे। टैंक की परिधि के साथ लोहे की मोटी प्लेटों को वेल्ड करके प्लैटफ़ार्म बनाया गया था। वहाँ उस समय गाढ़ा अंधेरा था। रेलिंग के करीब खड़े होना हिम्मत की बात थी। प्लैटफ़ार्म चूँकि मेटल का था और ओस से गीला हो चुका था इसलिए फिसलने का बड़ा डर था। हम खतरे से बे-ख़बर नहीं थे।

तीर की तरह, सर्द हवा चीरे डाल रही थी। अद्भुत सन्नाटा था। हम इतनी ऊँचाई पर थे कि प्लांट की धड़धड़ाहट कुएँ के तले से आने वाली ध्वनि प्रतीत होती थी। टैंकों के किनारे लकड़ी के बोर्ड पर हाई पावर के इंडिकेटर-बल्ब लगे थे। ये पानी के तल की ऊँचाई-नीचाई के हिसाब से जलते-बुझते रहते थे। छाते के हैंडिल की तरह घूमकर लहराए पाइप पर एक बल्ब लगा था जो हर समय जलता रहता था। इसी की सिमटी-सिमटी रोशनी में हमने एक-दूसरे को देखा। आसपास के दृश्य कोहरे में खो गये थे। अंधेरा ज़्यादा था या कोहरा? कहना मुश्किल था। थोड़ी ही देर में हमारी कुल्फी जमने लगी।

चंदा ने कहा “राज! कुछ गाओ” मैं हँसा। मैंने उसे याद दिलाया कि मुझे गाना नहीं आता था। उसने जोर देकर कहा “कोई डिफ़रेंट चीज़ हो जाए। यही तो जगह है जहाँ तुम गला फाड़कर चिल्ला सकते हो। कोई सुनेगा नहीं...।” मुझे बात कुछ जमी। मैंने सोचना बन्द कर दिया गाने लगा था- कोहरे में लिपटे हुए स्टेशन की तरफ देखते हुए। काफ़ी खुली आवाज में गा रहा था-

‘फसाना ए शबे गुम उन को इक कहानी थी,
कुछ एतवार किया कुछ न एतबार किया।’

इन्हीं पंक्तियों को बार-बार दोहराता रहा। इसमें मेरी आँखें, गला और वातावरण काफ़ी साफ हो गए। चंदा भी गुनगुनाने लगा था। उसकी आँखें चमक रही थीं। टैंक तीन चौथाई भर चुके थे। मैंने चंदा के लिए कुछ अफ़सोस अपने मन में फ़ील किया। पानी की सतह के ऊपर फेनिल झागों के रूप में एस्बेस्टास के रेशे जमा थे। मैं कुछ कहना चाहता था। एकदम से इंडिकेटर बल्ब जल उठे- मैं कह नहीं पाया।

टैंक में अब पानी गिरना बन्द हो गया था। मैं चंदा के कंधे पर हाथ रखकर खड़ा हो गया। हम दोनों नीचे की ओर देख रहे थे। दूधिया रोशनी में नहाया प्लांट एक अजगर की तरह छटपटा रहा था। हरकत होती थी परन्तु सरकता नहीं था। हमारे भाग्य इसी के साथ बँधे थे।

चंदा बड़बड़ाता रहा “आइ एम अनलकी... मोस्ट अनलकी... मैंन। दैट गर्ल!... ओह माँ!...” और वह अपने ही गुमों में बहता चला गया। मैं समझ रहा था। टंडन की शादी होने जा रही थी। यह सैंतीस का होकर भी कुँवारा बैठा था। उम्र तो उतनी ज़्यादा नहीं लगती थी, परन्तु सर के बाल आधे से अधिक उड़ चुके थे। मैंने उसे तसल्ली देने के लिए कहा “चंदा! शादी करने का मतलब है ज़िंदगी को कौनटैंक बना देना। वही पानी सर्कुलेट होता रहेगा। जब तक एक काम का रेशा भी इसमें बाकी है भले ही सड़ जाए परन्तु बाहर नहीं जा सकता।” वह काफ़ी ग्लैड हुआ और उसने मुस्कुराकर इस परिभाषा को स्वीकार कर लिया।

मेरी बौद्धिकता के प्रति वह पहले से ही सचेत था।

कान बिल्कुल ठंडे हो गए थे- एकदम सुन्न। मैंने मफलर गले से खोलकर कानों पर लपेट लिया। चंदा ने अपने कोट के कालर खड़े कर लिये थे। सहसा ऐसा लगा कि प्लांट का ब्रेक डाउन हो गया है। वैक्यूम ब्रेक की, कुएँ के तले से आने वाली सूँ-सूँ बंद हो गई थी। मैंने लपककर जाना चाहा परन्तु उसने रोक लिया। “कोई फायदा नहीं।” उसने कहा था। और कुछ देर बाद प्लांट फिर चलने लगा।

चंदा मेरे बारे में बहुत कुछ जानता था। मुझे तो शक था कि वह मुझे समझता भी था। मेरा हाथ पकड़कर उसने बड़ी अन्तरंगता के साथ अनुराधा के विषय में पूछा। उसका ख्याल था मैं बेकार ही घुला जा रहा हूँ।

कुछ देर तक हम यूँ ही खड़े बातें करते रहे।

खाने का सामान आया पड़ा था। हम हीटर पर सेंक-सेंक कर खाते रहे और मज़ेदार बातें सोचते रहे। ठेर सामान था। खाने में कुछ समय लगा। केले तो एकदम कच्चे थे और पेस्ट्रियों का जायका गुड़ के सेवों जैसा था। जो भी था, उस समय यह जागने का बड़ा मजबूत सहारा था। हम दोनों में से दिन में कोई भी नहीं सोया था। सोये भी होते तो

कोई खास फ़र्क नहीं पड़ता। एक सशक्त खुमार होता है दिसम्बर की रातों में। दो बजे से कुछ ऊपर का समय हो गया था।

मैं हीटर पर जूते का तल्ला सुखाने की कोशिश कर रहा था। चमड़े से पहले तो भाप उठी, फिर जलने की बू आने लगी। मैं बार-बार पाँव हटा लेता था। चंदा अल्बर्टो मोराविया का बखिया उधेड़ता रहा। यह एक ऐसा लेखक था, जिसे हम लोग जाड़े की नाइट-शिफ़्टों में रगड़-रगड़ कर पढ़ते थे। प्लांट का शोर-गुल, वर्करो की चीख-पुकार, वैक्यूमब्रेक की सूँ-सूँ और यहाँ तक कि बाँस का डर सब बराबर हो जाते थे।

कभी-कभी जब अकेले मेरा प्लांट चलता तो इन किताबों को पढ़ते-पढ़ते बदन गँवाने लगता। इस बीच शिफ़्ट का इन्स्पेक्टर, विजय बार-बार नज़र में आता। बिल्कुल लड़कियों जैसे हाव-भाव थे उसके। यहाँ तक कि नेल पालिश लगाकर आता था। भरा हुआ, कम उम्र शरीर और सुन्दर गोरे चेहरे से झाँकती नीली आँखें। चन्दा उपन्यास पढ़ता रहा। कनखियों से वह मुझे और कभी प्लांट को देखता जाता था। मैं पत्र लिखने की सोचने लगा था अनु को। परन्तु उसे पत्र लिखने लायक सामान वहाँ नहीं था। साफ़ सफ़ेद कागज़, एकांत और अच्छी क़लम। रफ़ मैं कभी नहीं लिखता। लोग जाने कैसे पहले कच्चा लिख लेते हैं, फिर उसे काट-छाँटकर फ़ेयर करते हैं। मैं तो सीधे फ़ाइनल ही लिखता था। संशोधन तक नहीं करता था। मैं इस बारे में कुछ तय नहीं कर पाया। इससे पहले ही दो वर्करो में झगड़ा होने लगा। हाथापाई खुलकर हुई। कुछ लोग उन्हें शांत करने का प्रयास कर रहे थे। वे दोनों बहुत ताव खाए हुए थे। जान लेने-देने पर उतारू। बड़ी मुश्किल से उन्हें काबू में किया गया। चंदा ने मुझे चार्जशीट बनाने के लिए कहा। मैंने डुप्लीकेट-बुक में कार्बन लगाया और लिखने लगा। चंदा उपन्यास में आँखें गड़ाए रहा। जब चार्जशीट तैयार हो गई तो उसने हाज़िरी का रोल उठाकर बाकी घंटों के लिए उन्हें अनुपस्थित कर दिया।

दोनों ट्रालीमैन थे। किसी पास के गाँव से आते थे। इस वक़्त तक वे ठंडे हो गये थे। बार-बार गिड़गिड़ा रहे थे। मगर इस मामले में चंदा पत्थर था। मैं होता तो शायद माफ़ कर भी देता।

मैंने विजय को पानी लाने को कहा। मैं चंदा से सेक्स पर चर्चा करना चाहता था। परन्तु उसने छूटते ही कह दिया “तुम अभी सेक्स के मामले में बच्चे हो। कुछ नहीं जानते हो।” मैं मजबूरन चुप हो गया। वह किताब में खोया हुआ था। मैंने उसे गौर से देखा। उसका साँवला भरा हुआ चेहरा चमक रहा था। वास्तव में वह पढ़ नहीं रहा था। बल्कि सो रहा था। उसकी पलके बोझिल होते-होते मुँद गई थीं। मेरी भी यही हालत थी। उसे सोता देखकर आँखें मुँद जाने को बेचैन होने लगीं।

एक-दो मिनट बाद अपने पर से काबू जाता रहा। बैठे-बैठे, वैसे के वैसे ही आँखें बंद हो गईं और कनेक्शन कट गए। पलकों पर टिंचर आयोडीन के रंग का गहरा परदा खिंच गया। या कहा जाए धुएँ का बादल। यह क्षणिक निद्रा थी। विजय पानी लेकर आया तो टूट गईं। मैंने पानी पिया और अपनी आँखों पर छिड़का। ड्रम पर बराबर लकड़ी की तलवारें चल रही थीं।

एक निरीह जानवर की तरह चंदा सो रहा था, अपनी सीट पर। शिफ्ट के ऑपरेटर वगैरह इसे सोता देखकर खुश हो रहे थे। इशारेबाजी चलने लगी थी। मुझे लगा कि उसे उठा देना चाहिये। फिर टाल ही गया मुझे क्या लेना था। मैं तो उसकी सेक्स के बारे में भयंकर नालेज पर आश्चर्य कर रहा था। चंदा अकेला ही ऐसा माहिर नहीं था। सहगल और चतुर्वेदी उसके भी गुरु थे। कभी-कभी ये लोग पीली कोठी में, शोडो-प्ले का आयोजन करते थे। अक्सर यह महीने के उन दिनों में होता था, जब हमारे पैसे उड़ जाते। हॉफ डे और छुट्टी की रातें हम पीली कोठी में ही गुज़ारते थे। यह शो बहुत मजेदार होता था।

कुल मिलाकर हम लोग दस या ग्यारह थे। सब शिफ्टों में जाने वाले। यह डिमांस्ट्रेशन बड़े वाले कमरे में दिया जाता था जो वास्तव में डाइनिंग हाल था। एक पुराना स्लाइड-प्रोजेक्टर किसी ज़माने से पीली कोठी की इन्वेंट्री में पड़ा था। शोडो-प्ले के लिए उसी का प्रयोग किया जाता था।

पहले खूब शोर-गुल मचता था, परन्तु लाइट ऑफ होते ही सब खामोश हो जाते थे। एक छोटा नीला बल्ब जलता रहा था। चंदा और सहगल पीछे कपड़े उतारकर तैयारी करते। पहले हल्के मनोरंजन के लिए स्ट्रिपटीज़ का छाया

प्रदर्शन होता। प्रोजेक्टर का प्रकाश-स्रोत खोल दिया जाता। लेन्स को आगे-पीछे एडजस्ट करके सामने की दीवार को रोशनी के पर्दे से ढक दिया जाता। हम सब प्रोजेक्टर की तरफ कुर्सियों का बैक रखकर बैठते। चंदा और सहगल अनोखी मुद्राओं में कपड़े उतारते हुए दिखाई देते। दीवार पर छायाएँ मनमाने ढंग से नाचना शुरू कर देतीं। हम सब दिल खोलकर हँसते।

वास्तव में इस छाया प्रस्तुतिकरण के लिए बहुत ही कुशल अंग-संचालन की ज़रूरत होती थी। चंदा के मुकाबले सहगल अधिक श्लाघनीय था। उसकी फिगर भी बहुत अच्छी थी। चंदा, अक्सर पैसिव भूमिका निभाता।

फिर, चतुर्वेदी की गम्भीर आवाज़ में कमेंट्री शुरू होती। कमेंट्री पहले टेक्स्ट पढ़ता। उसके बाद पात्र अनुकूल अभिनय करते थे। विभिन्न यौन-क्रियाओं के रहस्य उजागर होने लगते थे। कमेंट्री सूत्रधार भी था। जहाँ आवश्यक समझता ‘क्लोज-अप’ और ‘कट!’ के लिए निर्देश भी देता। हम लोग चुपचाप बैठे, सामने की दीवार पर ये युग्म-क्रियाएँ देखते रहते। दो तीन लोग, जो काफ़ी पुराने थे पीछे मुड़ कर भी अकसर देखा करते। अपनी तो हिम्मत नहीं होती थी। ये बात और है कि कभी-कभी स्वभाविक ढंग से पल भर के लिए, चेहरे सामने देखते-देखते उत्सुकतावश पीछे की ओर घूम जाते।

शुरू में मेरे लिए ये सब बातें नई थीं। धीरे-धीरे मैं अभ्यस्त होता गया। वहाँ मैंने अपना ज्ञान काफ़ी बढ़ाया खास तौर से सेक्स की विचित्रताओं के बारे में। मुझे इस जानकारी के महत्त्व का अनुमान होने लगा था। परन्तु मैं चाहकर भी कोई मूर्त प्रयत्न नहीं कर पाया।

मुझे कई बार शोडो-प्ले में अभिनय करने के लिए आमंत्रित किया गया परन्तु मैं अपने-आपको इसके लिए कभी तैयार नहीं कर पाया। हिच थी। जो वहाँ रहते कभी नहीं टूटी। मैं ही नहीं आधी से अधिक जनता ऐसी ही थी। कम-से-कम हम तीनों नये शिफ्ट इंचार्ज तो बहुत झेंपू हो जाते थे। वैसे शो देखने में हमारी पूरी दिलचस्पी थी। सोचते थे यह ज्ञान पहले नहीं तो शादी के बाद तो काम आएगा। और हकीकत में ऐसा ही हुआ।

शेडो-प्ले के सिंसियरिटी से देखे गए कई दृश्य और अभिव्यक्तियाँ अभी तक स्मृति में सुरक्षित हैं। देखने पर उत्तेजना न तो उस समय होती थी, न अब याद करके होती है। यह मार्के की बात है।

वह सो रहा था। उसके गिर्द मेरा सोचना रुक गया था वह सो क्यों रहा है? उसने शोव नहीं बनाई थी। और दिन सेवेन्टी एट्थ के साथ गुज़ारा था। ट्यूब लाइटों के जाल में फँसे उसके चेहरे से किरनें फूट रही थीं। न तो वह खंडित प्रतीत होता था, न ही समूचा। लिफ्टिंग यूनिट से स्पिंग-स्टील की एक नालीदार टेम्पलेट इनज़नाहट के साथ गिरी और आधी निकलकर फँस गई। चंदा चौंककर उठा। उसने लाल आँखों से ट्रालीमैन को घूरा। जो शायद टेम्पलेट पर तेल छिड़कना भूल गया था। वह ट्राली निकलकर रेल की पटरी पर दौड़ती हुई, दूसरी ट्राली से जा टकराई। फँसी हुई टेम्पलेट छिटककर बाहर आ गिरी।

फिर सू-सू का क्रम चलने लगा। इस चक्कर में तीन-चार शीटें, ज़रूर बरबाद हो गईं।

चंदा ने मेरा हाथ पकड़ा और जनरल ऑफिस की ओर ले चला। वहाँ सिर्फ़ दिन में ही काम होता था। जब कभी बाहर वाला टेलीफोन आऊट-ऑफ-ऑर्डर रहता था, हम जनरल ऑफिस खुलवा लिया करते थे। बड़ा-सा हॉल था। लकड़ी के पार्टीशन खड़े करके अलग-अलग लोगों के बैठने की जगहें बना दी गई थीं। यहाँ पी.बी.एक्स. के टेलीफोन हर टेबल पर रखे थे। दो टेलीफोन बाहर भी थे। वाच एण्ड वार्ड वाले एक आदमी ने दरवाज़ा खोला और सलाम करके चला गया।

अन्दर बन्द हवा की गर्माहट हमें अच्छी ही लगी। हम लोगों की खुली ड्राअरों की तलाशी लेने लगे। किसी में, कोई खत या मैगज़ीन या ऐसी ही कोई चीज़ मिल जाती तो हम नहीं छोड़ते। कुछ विशेष काम की चीज़ हाथ नहीं लगी-एक मेज़ से बिजनेस मैनेजमेंट की एक विदेशी पत्रिका ज़रूर मिली। जिसके कवर पर ही एक मिनी स्कर्ट पहने लड़की सेक्रेट्रीनुमा स्टाइल से बैठी अपने (प्रदर्शित) बाँस को अपनी एफ़ीसैंसी दिखा रही थी। इसे मसालेदार होने के प्रमाण समझकर मैगज़ीन को मैंने कोट की जेब के हवाले किया। चंदा एक टेबल से बरामद हुए खत को जल्दी में टटोल रहा

था। परन्तु उसका निराश चेहरा बता रहा था कि खत में कोई ख़ास बात नहीं थी।

ऐसा लगा, कोई खिड़कियों के पीछे खड़ा हमारी गतिविधियों को देख रहा था। सिक्स्योरिटी गार्ड भी हो सकता था। हम फ़ोन के पास पहुँच गये। फ़ोन तो किसे करना था, यह तो वक्त काटने की, हमारी तरकीबें थीं। डाइरेक्ट्री खोलकर किसी 'मिस' या 'डॉक्टर मिस' का नाम ढूँढते। उसका नम्बर बड़ी आशा से डायल करते और घंटी, दूसरी ओर देर तक बजती रहती। कोई नहीं उठता। अक्सर झल्लाकर हम कनेक्शन काट देते। कुछ प्रयत्न सफल भी हो जाते अलसाई हुई आवाज़ में "हेलो!... कौन है" सुनने को मिला। उस समय फ़ोन पर मैं था। आवाज़ का कुछ खुमार मुझे चढ़ा। मेरी कल्पना में पारदर्शक नाइटी पहने एक जवान औरत की तस्वीर थी और हाथ में रिसीवर। इससे आगे कुछ हो नहीं सकता था। "रॉंग नम्बर!" कहकर सिलसिला तोड़ दिया। चंदा नाराज हो गया। उसने मुझ पर भरोसा छोड़ कर खुद फ़ोन सँभाला। दो-तीन जगह ट्राई करने पर एक मछली फँसी-सुनवाई हुई (रजाई से एक मुलायम हाथ निकलकर टेलीफोन उठाता है।) ज़रूर मधुर आवाज़ रही होगी। चंदा बहुत खुश नज़र आया। बड़े विश्वास भरे स्वर में उसने उस अनजानी को कहा "डार्लिंग! स्वीटहनी! आइ एम चंदा। यू आर बिलव्ड..." उधर से प्रतिक्रिया में रॉंग नम्बर का फतवा मिल गया। परन्तु चंदा जल्दी निराश होने वाला नहीं था! कोशिश करता रहा। उसी को दो-तीन बार परेशान किया।

उस बड़े हॉल की सिर्फ़ कुछ ही लाइटें उस समय जल रही थीं। तीन चौथाई हिस्सा अंधेरे में डूबा हुआ था। यह साउन्डप्रूफ़ बिल्डिंग बड़ी राहत देने वाली जगह थी। फिर भी मैं, खड़े-खड़े थक गया था। एक कुर्सी पर बैठ गया। पीले रंग की मोटी टेलीफोन डाइरेक्ट्री का कवर चमक रहा था। कुछ ख़ास नम्बर कवर पर दिये गए थे। मेरे मन में एक विचार कौंधा-ट्रंककाल। मैं उत्तेजित हो उठा। अपनी समस्त दूरियों के रहते हुए भी हम उतने मजबूर नहीं थे। कोटा के लिए ट्रंक-काल बुक किया जा सकता था। रात का आखिरी पहर था। आसानी से लाइन मिल भी जाती।

उसको देखे, उससे बात किये एक अरसा गुज़र गया था। मैं खत पर खत लिखे जा रहा था। उसकी ओर से कोई

भूला-भटका जवाब भी नहीं आता था। इस समय गहरी नींद से उसे जागना पड़ेगा। सुनता था- पहले इन्टीमेशन दी जाती है, अमुक जगह से आपका ट्रंक-काल है। वह आश्चर्य से भर उठेगी। इस ख्याल से मुझे बड़ी खुशी हुई। जिसे दबाकर मैंने चंदा से अनुरोध-सा किया। वह मान ही नहीं गया था, उसने खुद काल बुक कर दी।

पता लगा आगरा होकर लाइन मिल सकेगी। सीधा सम्बन्ध नहीं था। समय लग सकता था। कुछ मिनट हम वहीं खड़े प्रतीक्षा करते रहे। फिर लगा यहाँ खड़े रहना ठीक नहीं। किसी को यहाँ खड़ा कर दें। प्लांट पर पहुँचकर चंदा ने इलेक्ट्रीशियन के हेल्पर को वहाँ भेज दिया। वह किसी मिनिस्टर के सोर्स से था और अक्सर इजाजत लेकर ट्रंक-काल मिलाया करता था। उसे हिदायत दे दी गई कि जैसे ही उधर से खबर आए, भागकर हमें सूचित करे।

मैं प्लांट पर इधर-उधर घूमता रहा। सब ठीक चल रहा था। मशीन बढ़िया चल रही थी। पाँच राउंड में। पाँच राउंड के मतलब थे सवाया आउटपुट। न कोई पम्प लीक कर रहा था, न ही लिफ्टिंग में टेम्पल गिर रही थी। ट्रालीमैन बराबर, एक टेम्पलेट के उठते ही दूसरी पर तेल का कपड़ा फिरा देता था। रात ढलने को जा रही थी। परन्तु मुझे अपनी शिफ्ट के वर्कर चेतन नज़र आ रहे थे। विजय शीटों का आवरली रिकार्ड लाया। प्रोडक्शन बहुत अच्छा था। मन हल्का हो गया। सुबह फ़ोन पर रिपोर्ट देते समय तक सत्ताइस टन से ऊपर ही रहना था।

प्लांट से जनरल ऑफ़िस तक सीधा रास्ता था- एक प्रकाशित गैलरी के रूप में। उस मोजाइक की पट्टी पर मेरी निगाह फिसल रही थी। फ़ोन के पास खड़ा हेल्पर किसी समय भी चल सकता था। मैं अपनी सीट पर जाकर बैठ गया। खूब सोचने को जी कर रहा था। परन्तु आँखें सामने ही लगी रहीं। वह जैसे ही ऑफ़िस के दरवाज़े पर दिखाई देगा, मैं लपक लूँगा। ट्रंक पर अधिक समय कहाँ मिलता है सिर्फ़ तीन मिनट।”

सहसा इस सुख में बाधा-सी पड़ी। मैंने कोई बेवकूफी से भरा बचपना कर डाला था। इस समय कौन-सी तुक होती थी फ़ोन करने की। सारा घर बेवजह जाग उठेगा। वे लोग साचेंगे जाने क्या है? परन्तु फ़ोन वाले कमरे में

अनुराधा और अनिल ही तो सोते थे। शर्मा जी को दूसरे कमरे में होना चाहिये था। हो सकता था कि वे टूर पर बाहर गए हों। जो भी हो, जीजी की तरफ़ से मुझे चिंता नहीं थी- वे सब समझती थीं।

मैं सिगरेट पी रहा था। मन में तनाव सा था- फ़ोन की बात को लेकर। जाने क्या रिपरक्शन्स होंगे- मैंने सोचा। चंदा कब का आकर बैठ चुका था। मुझे मालूम था इस समय वह बोलेगा नहीं। मुझे सोचने का मौका देना उसका फर्ज़ था। उसने धीरे-से मेरे सिगरेट के पैकिट से एक सिगरेट निकाली।

शायद आदी न होने के कारण, सिगरेट का धुआँ उससे बर्दाश्त नहीं हुआ था। वह बोल ही पड़ा “राज! आज तुम उससे सब-कुछ सेटल कर लो... यू एश्योर हर। बहुत हो चुका। नहीं तो बेटा पछताओगे, तुम!” कहते-कहते वह उठ खड़ा हुआ। उसके प्लांट पर क्रास कटर में शीट फँस गई थी। कन्वेयर रुका हुआ था। ड्रम से कट-कटकर शीटों का कच्चा ढेर बढ़ता जा रहा था। वह सिगरेट पीता हुआ ही उस तरफ़ चला गया। मेरा प्लांट साफ़-सुथरा चल रहा था।

दोनों प्लांटों के बीच बैठे हुए मुझे महसूस हुआ कि एक जैसे दिखने वाले ये प्लांट एक जैसे नहीं हैं। एक बड़ा फ़र्क़ था। जिस पर कोरू-गेटेड शीटें बन रही थीं, वह मेरा प्लांट था। दूसरे पर प्लेन बोर्ड बन रहे थे यह चंदा का था। ये दोनों विशाल प्लांट, दो दैत्य थे। फ़र्श पर लेटे हुए। रोज़ सैकड़ों आदमियों को निगल जाते थे और फिर उगल देते थे। साबित था कि हम इन्हें काबू करते थे। पर ये हम पर हावी थे। होशियार शिफ्ट इंचार्ज कभी प्लांट का भरोसा नहीं करते। चाहे वह कितना ही अच्छा क्यों न चल रहा हो। चंदा अपने प्लांट पर जुटा हुआ था। उसके पास जैसे व्यर्थ की बातों के लिए अवकाश न हो। अवकाश तो मेरे पास था। मैंने जाने कितने विश्वास जाने-अनजाने में इसके कर लिए थे। उन्हीं के सहारे ज़्यादातर निष्क्रिय बैठा रहता था। सिगरेट फूँकता रहता। अनु को काल बुक करते समय भी मुझे झिझक नहीं हुई। बाद में मैंने सोचा मेरे प्लांट का ब्रेक डाउन हो गया तो क्या होगा? यही चंदा मुझे झाड़ेगा। जब तक मैं वहाँ से आऊँगा, सब यहाँ अविश्वसनीय हो उठेगा। अजीब विरक्ति से मैं भर उठा।

सामने जनरल ऑफिस के दरवाजे से निकलकर भागता हुआ वह हेल्पर आ रहा था। मैं उठा। मेरे चलने में तेज़ी आती गई। आपरेटर के साथ खड़े चंदा ने, जाने कैसे एक बार पीछे मुड़कर मुझे देखा। मैं भागने लगा।

— हेलो! एस.एम. शर्मा स्पीकिंग फ्राम कोटा।

— हेलो! अंकल, मैं राजकुमार बोल रहा हूँ। नमस्कार!

— कौन, राजकुमार! कहाँ से बात कर रहे हो?

— मैं यहाँ फ़ैक्ट्री से बोल रहा हूँ। मेरी नाइटशिफ्ट चल रही है।

— अच्छा। हाँ, तुम तो आजकल दिल्ली में हो। कहो, कैसा चल रहा है।

— जी, सब ठीक है। बहुत दिन हो गए। सोचा आज आप लोगों से बात करें।... जरा अनु और अनिल से बात करवा दीजिये।

— हाँ हाँ? होल्ड किए रहो। मैं उन्हें उठाता हूँ। (अरे अनु... अन्नू! उठो भई। सुनती हो, जरा उठाना अनु को। दिल्ली से राज का फ़ोन आया है।)

— (खट!)

— हेलो! कौन? अनु!

— (अनु उठो जल्दी। अनिल तब तक तुम बात कर लो।)

— हेलो!

— नमस्ते राज भाई साहब! हम अनिल बोल रहे हैं। दीदी अभी आती हैं।

— नमस्ते अनिल जी! कहिये, क्या हालचाल हैं, आप तो हमें बिल्कुल भूल गए हैं। कभी चिट्ठी-विट्ठी तो लिखा करिये।

— भाई साहब- आपने भी तो हमें नहीं लिखी... लीजिए दीदी आ गई। बात कर लीजिए।

— कौन? अन्नू!

— हाँ, मैं अनुराधा बोल रही हूँ।

— हेलो अन्नू। कैसी हो।

— ठीक हूँ।... आप कहाँ से बोल रहे हैं?

— मैं। यहाँ, फ़ैक्ट्री से। रात की ड्यूटी है। आज जी में आया, अनु से बात करें। दरअसल अपने को रोक नहीं सका।

— अच्छा!... और, क्या हालचाल हैं।

— हालचाल बाद में। पहले ये बताओ तुम चिट्ठी क्यों नहीं लिखती हो?... हद होती है किसी चीज़ की... बोलो। अनु! चुप क्यों हो। समय बहुत कम है।

— अब क्या कहूँ।

—अनु! मैंने सोच लिया है।

— क्या सोच लिया है? हमेशा सोचते ही रहते हैं या और भी कुछ होता है।

— और भी होता है। बताएँ?

— क्या!

— वहाँ तुम्हारे नज़दीक कोई है तो नहीं?

— नहीं, अनिल है।

— अनु! याद बहुत आती है। हर समय-बस, तुम्हारा ख़याल और...।

— हूँ.....

— अनु! तुम्हें तो किसी की याद नहीं आती।

— पता नहीं।

— क्यों? (एक्सटेंड प्लीज। श्री मिनट्स... ओ. के.) क्या शरमा रही हो? अरे भई, आपरेटर किसी से कहेगी नहीं।

— छोड़िये। और कोई बात नहीं है क्या! करने के लिए।

— है। वहाँ, कोटा में कौन-सी पिक्चर लगी है?

— 'बहारें फिर भी आयेंगी।'

— पिक्चर का नाम बता रही हो, या और कुछ?

— मज़ाक करने के लिये ये जगह ठीक नहीं है।

— अच्छा। अनु! मेरे पास कब आओगी।

— कह नहीं सकती। शायद... रहने दीजिये।

— कह डालो, अनु! प्लीज़!

— बेकार। आपका मूड खराब हो जाएगा।

— नहीं अन्नु। कहो। मेरी कसम।

— क्या है? फालतू-सी बात के पीछे।... सुन लीजिए।
आखिरी समय में मैं आऊँगी, आपके पास।

(ओवर। सॉरी नो मोर एक्सटेंशन पासिबुल नाऊ)

— अनु! पगली अनु... गुडनाइट। ख़त लिखना।

— अच्छा। गुड नाइट

जो बातें मैं कह नहीं पाया था, उनके काँटे हलक में गड़ रहे थे। प्लांट अपनी गति से चल रहा था। आधे आदमी सो रहे थे, बाकी काम पर थे। वे पहले सो चुके थे। चंदा के प्लांट पर फटी हुई कच्ची शीटों का ढेर लगा था। लिफ्टिंग के आसपास की एक चैन टूट गई थी। फ़िटर चैन का स्पेयर स्टेपुल ले आया था। मैं चंदा के बिलकुल नजदीक खड़ा रहा। उसने नज़र उठाकर मेरी ओर देखा तक नहीं। फ़िटर अपना काम कर रहा था। उस समय उसके उतना व्यस्त होने की ज़रूरत नहीं थी। मुझे चंदा की यह बेरुखी अखर गई। मैं सीधा, अपनी सीट पर जाकर बैठ गया। हीटर को पैरों के नीचे सरका लिया।

मैं, गहरी प्यास के दायरे से लौटा था। आपा खो चुका था- कच्ची शीटों के ढेर की तरह। मैं एक अनचाहा, अस्वीकृत व्यक्ति बन गया था। मेरे बारे में मीलों लम्बी दिलचस्पियाँ लोगों को नहीं थीं। मैं काम पर था। परन्तु मन नहीं था। यह रोज का क्रिस्सा था। नौकरी जाने कैसे चल रही थी। अनु और नौकरी, दोनों ही कभी मेरी समझ में नहीं आ पाये थे। मुझे लग रहा था- मैं ज़लील होता जा रहा हूँ। अब

मैं सिर्फ सम्पर्क का बोझा ढो रहा था।

और भी लोग थे- चतुर्वेदी, टंडन, सहगल। सब अपना बैलेंस बनाए रहते थे। मेरे जैसा निकम्मा इनमें शायद कोई नहीं था। मेरी शुरुआत ही ग़लत हुई थी। मेरा प्लांट भी हमेशा ठीक चलता रहा। प्रोडक्शन, क्वालिटी और वाटर परसेंटेज सब ठीक ही रहते थे। परन्तु और लोगों को भी क्या खाक आता था। वह एक ऑटोमेटिक प्रोसेस था। इसमें कोई भी क्या कर सकता था। सुबह होने में बहुत देर नहीं थी। चंदा का बराबर प्लांट पर रहना और मेरा कुर्सी पर आराम से बैठे रहना इस बात का द्योतक था कि हमारे सम्बंध कुछ तनावपूर्ण होने वाले हैं। झल्ला उठा। साला जहन्नुम में जाए। उसके एल.टी. लगाना मेरे बस का नहीं था। घड़ी देखी पाँच बजे थे। मैंने विजय को देखा। वह सिर्फ कमीज़ में था। यहाँ तक कि स्वेटर भी नहीं था। कमीज़ के नीचे एक और कमीज़ पहने था। जो छुपाने की लाख कोशिशों के बावजूद दिखाई दे रही थी।

जाड़े के मारे उसके रोंये खड़े हुए थे। उसे ठिठुरने का अच्छा अभ्यास रहा होगा, वरना इस समय वह किसी कोने में और वर्करो के साथ बैठा आग ताप रहा होता। वह शीटों की गिनती कर रहा था। नीले रंग की कमीज़ उसके गोरे-चिट्टे रंग पर खूब जम रही थी। परन्तु बेकार- जाड़ा तो जाड़ा था। मेरा मन हुआ उसे अपने पास बुला लूँ। मेरे आगे पीछे हीटर जल रहे थे। मैंने एक इरादा ये भी किया कि इस बार पुराने काट्सवूल की कमीज़ उसे दे दूँगा।

मैंने उसे बुलाया और हीटर के पास बैठने को कहा। परन्तु वह शरमा गया। मना करने लगा। मैंने हाथ पकड़कर उसे हीटर के पास बिठा दिया। वह ज़मीन पर बैठा था, हीटर के पास-कृतज्ञता को चेहरे पर ओढ़कर। प्लांट के सब वर्कर इस ओर देख रहे थे- मैंने उपन्यास में आँखें गड़ा लीं। परन्तु दो मिनट भी न बीते होंगे कि अंधेरा छा गया। शोर-गुल मच गया। एमरजेंसी लाइट्स जल उठीं। दो, खम्भों से फूटती सीधी-मोटी प्रकाश की लकीरें। जगह-जगह से पानी गिरने की धड़धड़ाहट आने लगी- फ़िटरों ने ग्लैड्स खोल दी थीं। दो बड़े पनाले अलग गिर रहे थे। फ़र्श पानी से भरता जा रहा था।

प्लांट पर तो हालत और भी बुरी थी। चारों सीव सिलिंडरों को जाने वाले होज पाइप खोल दिये गए थे। उनसे फूट-फूटकर गाढ़ा सीमेंट और फ़ाइबर का घोल बह रहा था। छींटों से कपड़े तर हो गए।

पावर ब्रेक-डाउन के समय यह सब होता ही था। इसके हम आदी हो चुके थे। एमरजेंसी लाइट्स की मद्धम पीली रोशनी में प्लांट पोस्ट-मार्टम किये शव से नज़र आ रहे थे। मैं रस्मी बातों को निपटाते कई जगह भीगा। जूते तो बिल्कुल सन गए थे। मैं अपने-आपको बेहद थका हुआ महसूस कर रहा था। सीट की ओर जा रहा था कि चंदा ने मुझे टार्च से स्पॉट किया और ज़ोर से चिल्लाकर मुझे बुलाया। मैं उसकी ओर बढ़ा। मेरी टार्च विजय के पास थी। वह फ़ोन पर इलेक्ट्रीसिटी बोर्ड वालों से पूछने गया हुआ था। चंदा और मैं उसी की फिराक में टाइम ऑफ़िस की ओर चले।

रास्ते में विजय ने बताया- पावर दस-पंद्रह मिनट बाद ही आ सकेगी। किसी पोल पर जम्पर कट रहा था। हम बाहर के दरवाज़े पर खड़े होकर बातें करने लगे। चंदा बहुत उत्सुकता से पूछ रहा था- फ़ोन पर क्या बातें हुईं? मैंने किसी तरह उसे बताया। मुझे बेहद सर्दी महसूस हो रही थी। वह संतुष्ट न हो सका। उसने निराशा-सी प्रगट की। हो सकता था सहानुभूति ज़ाहिर करने की कोशिश की हो, क्योंकि वह समझने भी लगा था। मैं ख़ामोश रहा। मेरे कानों पर मफलर लिपटा था (जो अनु ने उपहार में दिया था) शब्द छन-छनकर आते लग रहे थे।

‘अनुराधा मेरे इस अभागे जीवन में आकर क्या करेगी!’ इस अहसास के सिवा, मेरे पास उस समय और कुछ नहीं बचा था। आखिरी वक़्त में यह ब्रेकडाउन! शिफ़्ट का प्रोडक्शन अब चौपट ही था। मैं दुखी ही हो सकता था। था भी।

सुबह छः बजे पाँवर आई। हमने क्लीनिंग करवाई। क्लीनिंग के लिए ठेकेदार के आदमी आते थे। उन्होंने लग कर आधे घंटे में सारा फ़र्श साफ़ कर डाला। फिर, एक जगह बैठकर आग तापने लगे। प्लांट चालू होते-होते साढ़े छः बज गए। शिफ़्ट कुछ देर बाद ख़त्म होने वाली थी। इस बीच सूरज की किरणें अंदर आ गई थीं। हम इतना व्यस्त रहे

कि आभास तक नहीं हुआ। हमारे कपड़े, कोट और बाल छींटों और सीमेंट से भरे थे।

आँखों की दुखन स्थिर हो गई थी। पेट में अजीब गैस जमा थीं। मैं वाशबेसिन से कुल्ला करके वापस प्लांट पर आया। कैटीन खुल गई थी। चाय का सेट हमारी टेबल पर रखा था। मैंने विजय को चाय बनाने के लिए कहा और चंदा को बुलाने चला गया।

हमने साथ बैठकर चाय पी। काफ़ी ताज़गी महसूस हुई। चाय के सुनहरे रंग में सुबह ने थोड़ी-सी खुशी मिला दी थी। आज का दिन ऑफ़-डे था। प्लांट को बंद करवा के जाना था।

ऑफ़-डे को प्लांट की पूरी ओवर हालिंग और क्लीनिंग होती थी। एक-एक हिस्सा खोलकर अलग कर दिया जाता। सीमेंट में सने रबर के ठोस प्रेशर रोल यूँ ही फ़र्श पर पड़े रहते थे- फ़िटर्स की मेहरबानी पर। जगह-जगह नये नट-बोल्ट, होज पाइप के टुकड़े, क्लिप और ब्रेकेट बदले जाते। सेल्फ़ एलाइनिंग बेयरिंग्स में ग्रीज लगाया जाता। फ़ेल्ट लम्बा का लम्बा ऐसे पड़ा रहता जैसे उठने का दम ही न हो। फास्फर-ब्राज की जालियों वाले सीव सिलिंडर, लकड़ी के स्टैंडों पर नज़दीक रखे जाते थे और आपस में बातें करते मालूम होते थे। पूरे चौबीस घंटे प्लांट यूँ ही बिखरा पड़ा रहता था। और हम ऑफ़-डे मना रहे होते। अक्सर दिल्ली चले जाते या पीली कोठी में बैठकर उल्टियाँ आने तक पीते जाते। कुछ लोग फ़्लाश में ही भिड़े रहते थे।

ऑफ़-डे की रौनक शिफ़्ट के वर्करों पर छाने लगी थी। रात-भर थके-माँदे, अलसाए- लोग सुबह होते-होते जाने कैसे बदल गए थे। वे सब तेज़ी से शकलें बदलते जा रहे थे। एक-एक करके जाते और साफ़-सुथरे होकर बाथरूम से लौटते। अधिकतर वर्कर जाते समय फिर से उन साफ़ कपड़ों को पहन लेते थे जो काम पर आते ही उतार दिये जाते थे। मगर विजय वैसा ही था। वह कपड़े नहीं बदलता था। सिर्फ़ मुँह धो लेता था। फिर भी उसके कोमल चेहरे पर आभा थी। रात-भर जागने के असर भी ख़ूबसूरत नज़र आ रहे थे। वाकई, उसका चेहरा शानदार था।

साढ़े सात बजते-बजते प्लांट बंद हो चला था। पानी लगवा दिया गया था। खाली फ़ैल्ट (कम्बल) चल रहा था। अब सीव सिलिंडरों में कोई रेशों भरी सीमेंट की तह-उस पर नहीं चढ़ रही थी। स्प्रे-पाइपों की असंख्य, तीव्र जलधाराओं में वह अमेरिकन-नाइलोन और ऊन का मोटा कम्बल नहा रहा था। रबर के प्रेशर रोलस उसे निचोड़ते जाते थे। अभी छः दिन और खींच ले जाएगा- मैंने सोचा। उसका एक भी धागा अभी बाहर नहीं आया था।

मशीन ड्राइवर रबर होज लेकर जगह-जगह धार मार रहा था। चंदा ने जोर से 'होय!' की आवाज़ निकाली, और ताली बजाकर सबको जाने का इशारा किया। वर्कर जाने लगे। हम शिफ्ट रिपोर्ट भरते रहे थे।

टाइम ऑफ़िस से बाहर निकलते समय हम बहुत घुल-मिलकर बातें कर रहे थे। सहमतियाँ जैसी नरम बातें।

बाहर खूबसूरत लॉन जाड़े की धूप में चमक रहा था। माली खुरपी लिए जुटा था। चंदा ने उसे इशारा किया। उसने दौड़ कर दो गुलाब के फूल लाकर हमें दिये। उनकी खुशबू से मन कुछ हल्का हुआ। नहीं तो शरीर का जोड़-जोड़ दुख रहा था। मैं भी शरीर को प्लांट की तरह खोल देना चाहता था। सर्दी अब इकट्ठी होती जा रही थी। त्वचा पर ही नहीं अंदर गोश्त में भी।

एक कल्पना थी। जाते ही ब्रश करके नाश्ता करेंगे और रजाइयों में दुबक कर सो जायेंगे। लेकिन शक भी होने लगता था।

सहसा खेतों के बीच से भागते हुए एक गिरगिट को देखकर चंदा रुक गया। कुछ सोचकर गंभीरता से बोला "राज! अनुराधा इज ए मोस्ट सिंसियर गर्ल। यू मस्ट मैरी हर।" गिरगिट अचकचाकर भाग गया। मुझे उसके लौटने का रास्ता पता नहीं चला।

पीली कोठी पर सुनहला सूरज चमक रहा था। शरीर थके थे। सूरज की ताज़गी बनावटी लग रही थी।

चलो, मैं आता हूँ

केशव को जानते हैं आप। वही अपना केशव हरीराम दाते। नए ज़माने का पढ़ा-लिखा सद्गृहस्थ। सुंदर-सुशील पत्नी, दो प्यारे-प्यारे बच्चे और ममतामयी माँ। एक सरकारी कारखाने में सीनियर टेक्नीकल असिस्टेंट है। उसके काम से ऊपरवाले खुश हैं, उसकी तरक्की हर तरह से सुनिश्चित है। पिताजी अपने जीवनकाल में एक ठो घर बनवा गए थे सो केशव को कोई खास महानगरीय संत्रास नहीं झेलना पड़ा। आमतौर पर वह एक खुशदिल प्राणी है।

आप कहेंगे, जब केशव के साथ सबकुछ ठीक-ठाक चल रहा है तो फिर किस्सा छेड़ने की ज़रूरत कैसे हुई। वही तो बताना है कि कैसे बक्से से मौज लेते-लेते यकायक वह उलझन में पड़ गया है। एक बच्चे द्वारा की गई एक मासूम-सी टिप्पणी क्या उसके दिल को जा लगी या उसके सोचने का ढंग ही बदल गया। बक्से से उसका लगाव था, वह कैसे एकदम जाता रहा? उसे बक्से से चिढ़ हो गई। इतनी कि उसका बस चलता तो बक्से को उठाकर गंगा जी में बहा आता।

केशव दूसरों की भावनाओं की परवाह करनेवाला आदमी था। उसने अपनी खीज या ऊब को परिवार के सदस्यों या सहकर्मियों पर थोपने की कोशिश नहीं की। मन-ही-मन घुटता रहा। वह चाहता था कि उसके प्रियजन स्वयं उन निष्कर्षों पर पहुँचें, जिन पर वह पहुँच चुका था। बक्सा अब उसके लिए खेल-तमाशे का साधन नहीं रह गया था। उसने बक्से के सामने बैठना बंद कर दिया था। खेल-तमाशे और बीच-बीच में फुलझड़ियों की तरह छूटते साबुन, टूथपेस्ट और हेयर रिमूवर के दिलफरेब विज्ञापन चलते रहते: मगर वह दूसरे कमरे में बैठकर चुपचाप किताबें पढ़ा करता। घर के लोग इस आश्चर्यजनक बदलाव को ठीक से समझ नहीं पाए। दरअसल उन्हें सोचने-समझने की फुरसत ही नहीं थी। शाम होते ही तो बक्सा खोलकर सब बैठ जाते थे।

बक्से के प्रति उपजी विरक्ति केशव को महँगी पड़ रही थी। कहाँ तो भरापूरा जीवन था, जिसमें फुरसत ही नहीं थी और कहाँ यह खालीपन! सहसा अकेलेपन ने उसे घेर लिया था। घर-परिवार, पड़ोस और कारखाने के सहकर्मी सब बक्से से बुरी तरह जुड़े हुए थे। अकेले उसी का तार टूट गया था। अब उसकी हर शाम सूनी थी। पुस्तक और पत्रिकाओं से इस शून्य को भरना संभव नहीं था, क्योंकि बक्से से निकलकर फैलती आवाज़ें एकाग्र होने ही नहीं देती थीं।

सबसे गरू होता था रविवार का दिन। बक्सा सुबह नाश्ते के समय से खुल जाता था। ख़बरें, कसरत, ख़बरें, विज्ञापन, धारावाहिक, विज्ञापन, क्रिकेट... एक अंतहीन सिलसिला था जो सर्वग्रासी बन गया था। माँ, पत्नी, बच्चे एक क्षण के लिए भी बक्से के सामने से हटने को तैयार नहीं लगते थे। साबुन और डिटर्जेंट की तारीफ में कहे गए खूबसूरत जुमले आत्मा की गहराई में तीरों की तरह धँसे जाते। इसके चलते किसी यार-दोस्त के घर भी जाया नहीं जा सकता था। महफिलें ख़त्म हो गई थीं। छुट्टी के दिन भी किसी को बक्से से छुट्टी नहीं मिलती थी। कभी भूले-भटके किसी के घर पहुँच जाओ तो मेजबान और मेहमान दोनों के लिए धर्म संकट। सीरियल छोड़े तो सिलसिला टूट जाए, मेहमान से न बोले तो वह रूठ जाए। ऐसे में कर्तव्यपरायण लोग एक साथ दोनों काम करते हुए बड़े अजीब और अजनबी-से लगने लगते।

केशव अकेलेपन से डरने लगा। रविवार की शाम वह नितांत अकेला सुनसान सड़कों पर भटकता रहता। आदमी नज़र आए, न आदम जात! फ़ीचर फ़िल्म के समय किसी मित्र या परिचित के घर चले जाओ तो ऐसा लगता जैसे किसी के बेडरूम की प्राइवैसी में दाखिल हो गए। उस घर के लोग हतप्रभ हो जाते। आपसी संबंध गंभीर और गहरे होते तो सजा बेचारी गृहिणी को भुगतनी पड़ती। वह मन मारकर बक्से के सामने से उठकर 'भाई साहब' के लिए चाय बनाने जाती। केशव को एकाध बार ऐसी स्थिति में पहुँचकर लगा कि उससे कोई अपराध हो गया है। गृहिणी उसे मन-ही-मन श्राप दे रही होगी; जैसे द्रौपदी ने उस कुत्ते को दिया था जो उसके शयनकक्ष के बाहर से जूता उठाकर ले गया था... फ़ीचर फ़िल्म के समय सभी दरवाज़े बंद होते थे।

बक्से के लिए उलझाव में कई चीज़ें गड्डु-गड्डु हो गई थीं। मसलन उसके और पत्नी के बीच के मौन संलाप में। माँ या बच्चों की उपस्थिति में क्रदम फूँक-फूँककर रखने पड़ते थे; मगर उन्होंने एक मूक भाषा विकसित की हुई थी। अगर सुबह नाश्ते में पराँठे के साथ लाल मिर्च रखी जाती थी तो उसका कुछ खास मतलब होता था। सुबह ही तय हो जाने से यह सुविधा होती कि दिनचर्या को स्वाभाविक ढंग से मोड़ा जा सकता था। इसी क्रम में शाम को चाय के बजाय काफी मिलने से भी एक ज़रूरी संदेश चुपचाप उसे मिल जाता था। इधर वह देख रहा था कि उनकी दिनचर्या अब उन लोगों की मर्जी से नहीं बल्कि बक्से के दिन-प्रतिदिन बदलते रहने वाले कार्यक्रमों के हिसाब से ढलने लगी है।

पिछली रात बक्से को लेकर पहली बार उसने अपनी कटुता परिवार पर ज़ाहिर की। भरी थाली छोड़कर उठ गया। और कोई वक़्त होता तो इस पर काफ़ी हाय-तौबा घर में होती, मगर उस समय बक्से में कोई ऐसा दिलचस्प खेल आ रहा था कि सब उसी से चिपके बैठे थे। किसी को पता ही नहीं चला कि वह भूखा उठ गया है और गुस्से में है। खेल में नौकर की भूमिका में पलटू ने सबको इतना हँसाया इतना हँसाया कि उनकी आँखों में आँसू झलकने लगे। पत्नी के पेट में दर्द होने लगा। वह बरालगन की गोली लेने अंदर आई तो देखा, खाने की थाली ज्यों-की-त्यों रखी है। फिर भी वह नहीं समझी। उसने सोचा, तबीयत खराब है... इस नासमझी का भला क्या इलाज हो सकता है!

फ़ैक्टरी से साइकिल पर लौटते हुए वह सोच रहा था कि यह कोई अनहोनी तो है नहीं। बक्से की मार से कौन बचा है! मोहल्ले-के-मोहल्ले, शहर-के-शहर बक्सेबाजी में डूब गए हैं। घर हो या फ़ैक्टरी-दफ़्तर, हर जगह इसी के चर्चे सुनाई पड़ते हैं। पहले जिसे देखो, राजनीति पर बहस किया करता था। भूख-बेरोजगारी, बाढ़-सूखा जैसी समस्याओं पर बड़े तीखे-तीखे जुमले सुनने को मिलते रहते थे। कश्मीर या भ्रष्टाचार जैसे ज्वलंत प्रश्नों पर बातचीत करने का रिवाज था। मगर बक्से पर सीरियल क्या आए, ये सारे विषय एक किनारे हो गए।

बक्से से मोहभंग होने के बाद, उसके अपने मौलिक चिंतन की कढ़ी में उबाल आने लगा। उसे लगा कि देशवासी

बड़ी-बड़ी मारक समस्याओं से घबरा गए हैं और बक्से की आड़ में मुँह छुपाने लगे हैं। नहीं तो ऐसा क्या है इन लगभग एक जैसे नाम और एक जैसी कहानी वाले धारावाहिकों में कि शहर-दर-शहर लोग अपनी वैचारिकता खो बैठें। उनके चिंतन की मशीन में जंग-मुरचा लग जाए।

अपने विभागीय संगी-साथियों को यह सब कहा तो उन्हें यक्रीन ही नहीं हुआ कि यह केशव बोल रहा है। जो सबसे पहले लोन लेकर बक्सा खरीदकर लाया था और उन शुरुआत के दिनों में बक्से पर चर्चा का विषय-परिवर्तन वही किया करता था। एक दोस्त ने उसे समझाया कि यह बक्से के खिलाफ़ तुम नहीं बोल रहे, तुम्हारा फ्रस्ट्रेशन बोल रहा है। अरे भई! समस्याएँ तो हमेशा से रही हैं। हमेशा रहेंगी भी; लेकिन क्या इसके चलते कोई अपना दिल नहीं बहलाएगा घड़ी दो घड़ी!

दो-तीन बार लंबी बहस के बाद उसने महसूस किया कि बक्सा-प्रेमियों के उस नक्कारखाने में उसकी तूती की आवाज़ कोई नहीं सुनेगा। उसने हारकर अपना मुँह बंद कर लिया; लेकिन फिर भी छुटकारा कहाँ था। यह तो सदाबहार राग था। सुबह हाज़िरी के रजिस्टर पर दस्तख़त करने के बाद कोई-न-कोई पूछ बैठता, “क्यों, कल ‘दूर-पास’ देखा?”

“नहीं, कल जरा बाज़ार चला गया था।”

“अरे, तब तो ‘दूर-दूर’ भी मिस कर दिया होगा। कल तो कमाल कर दिया पलटू ने। हँसा-हँसाकर मार डाला।”

उसके बाद पूरा एपीसोड सुनना पड़ता। उनके विभाग में चपरासी से लेकर मैनेजर तक सभी बक्से के रसिया थे। बस जिक्र छिड़ा चाहिए। लंच में चार लोगों के बीच बैठने का मतलब ही था कि लगभग एक दर्जन सीरियलों के तुलनात्मक अध्ययन पर लंबी परिचर्चा में हिस्सा लेने की बाध्यता। दिखावे के लिए वह अक्सर उसमें शरीक होता तो यह दिक्कत थी कि हफ़्तों से कुछ न देखने की वजह से उसे पता ही नहीं था कि किस सीरियल में मामला कहाँ तक पहुँच गया है। एकाध बार हाँ-हूँ करके वह चर्चा से बाहर हो जाता, जो इस तरह चला करती थी।

“यार, यह ‘दूर-दूर’ वाला बुलाकीराम सबसे हरामिस्ट है। जब देखो, किसी-न-किसी की जड़ काटने की फिराक में लगा रहता है।”

“बेचारे छेदालाल का तो जीना हराम हो गया है उसके मारे। ऊपर से खुदा की मार देखो, उसकी बीवी मुंदर भी बुलाकी के चंगुल में है।”

“छेदालाल हर जगह सीधा आदमी ही बनता है। देखा नहीं, ‘तोता-मैना’ में राजा बना है वह और दुष्ट बुलाकीराम मंत्री बनता है।”

“गुरू, कुछ भी कहो, मजा ‘तोता-मैना’ में ही आता है। हर दफे एक नई लौंडिया लाते हैं। देखकर ही तबीयत मस्त हो जाती है।”

“नहीं, असली बात बताओ! तोता-मैना में राजा-रानियों का पुराना ज़माना दिखाते हैं। तब ब्लाउज-अलाउज का रिवाज नहीं था। इससे क्या है अगल-बगल सब दिखाई पड़ता है।”

ऐसी बातों में उसे, खुद किसी समय, रस आया करता था। अब ऐसा लगता कि कुएँ में भाँग पड़ गई है। सुनते-सुनते उसके कान पकने लगते थे। लोगों को बेशुमार पेंचोखमवाली, शैतान की आँत-सी लंबी, धारावाहिक नाटिकाओं का चस्का चढ़ गया था। नशे की यह आदत क्या आसानी से छूट पाएगी? वह हैरान होकर सोचता था। हालाँकि बेटे की कही हँसी की एक बात से उसका नशा ज़रूर हवा हो गया था।

साइकिल चलाते-चलाते वह पिछली रात की बात सोच रहा था। उसने बक्से से पहली बार दंगल में हाथ मिलाया था कि बक्से ने उसे एक ही दाँव में चारों कोने चित कर दिया था। घर के लोगों ने उसकी नाराजगी की रत्ती-भर परवाह नहीं की थी। हुआ यह कि जब से उसने बक्से के सामने बैठना छोड़ा था, तब से उसकी शामों में एक अजीब-सा खालीपन आ गया था। घर के लोग पूरे जोशोखरोश से ‘दूर-दूर’ या ‘पास-पास’ देखने में जुटे रहते। यही हाल आस-पड़ोस के लोगों का था। वह पुस्तक या पत्रिकाओं में मन लगाने की कोशिश तो करता था, मगर बक्से के शोरगुल में ध्यान बँट-बँट जाता था।

पिछली रात उसके सिर में दर्द हो रहा था। उसने दो-तीन बार पत्नी को इसके बारे में बताया। चादर ओढ़कर लेट भी गया। उसे आशा थी कि पहले के दिनों की तरह पत्नी उसके माथे पर बाम मल देगी और सौंफवाली चाय लेकर आएगी। वह उसे बाम की शीशी पकड़ाकर चली गई; क्योंकि 'दूर-पास' नामक जोरदार कार्यक्रम आने का समय हो गया था। वह बाम लगाकर लेटा रहा। उधर बक्से को ऊँची आवाज़ में चलाया जा रहा था। उसमें वही कमबख्त बुलाकीराम दाँत पीस-पीसकर संवाद बोल रहा था, जो कि तीर की तरह उसके सिर के आर-पार निकले जा रहे थे। उसे बेहद गुस्सा आया। मन हुआ कि एक डंडा लेकर उन्हें और बक्से के टुकड़े-टुकड़े कर डाले। लेकिन नुकसान तो मेरा ही होगा, उसने सोचा।

पत्नी खाना लेकर आई, लेकिन बक्सा बंद नहीं किया गया। उसने एक कौर मुँह में डाला ही था कि बक्से पर पलटू आ गया। चीख-पुकार से तंग होकर वह खाना छोड़ उठ गया। उधर काले रंग को गोरापन बखानेवाली आयुर्वेदिक क्रीम की विरुदावली गाई जा रही थी। पलटू को बक्से पर दिखाया जाता था, क्योंकि इससे क्रीम बिकती थी। केशव को शुरू के दिनों की अपनी बेवकूफी याद हो आई।

उसका रंग गहरा साँवला था। पत्नी और बच्चे गोरे थे। और तो और माँ का भी रंग साफ था। बक्से पर गोरापन लानेवाली क्रीम का विज्ञापन देखकर उसके मन में हिलोर उठी। क्रीम खरीद लाया। संकोचवश उसे छुपाकर रखा। नहा-धोकर लगा लेता था। अब चूँकि क्रीम में खुशबू थी, इसलिए बात छुप नहीं सकी। गोरापन तो नहीं आया, मगर वह पीलिया का बीमार-सा लगने लगा था।

सुबह नाश्ता भी उसने बेमन से किया, क्योंकि बच्चे उस समय बुलाकीराम के पिछली रात के अभिनय की चर्चा में व्यस्त थे। माँ और पत्नी का मन भी उसमें ही अटका था। उसे मालूम था कि उसके जाते ही दोनों बक्से की बातों में डूब जाएँगी।

फ्रैक्टरी में वह अपने काम में उलझा रहा। चुपचाप। किसी से बातचीत करने का मन नहीं हो रहा था। इससे उसे सोचने का मौक़ा मिला।

सीरियलों के बारे में सोचते हुए वह इस निष्कर्ष पर जा पहुँचा कि हिन्दी फ़िल्मों की तरह सीरियल भी इस विश्वास के तहत बनाए जाते हैं कि बहुसंख्य दर्शक बुद्धिजीवी नहीं हैं या यों कहें कि मोटी अक्लवाले हैं। उनके लिए 'किस्सा अलिफ लैला' या 'बेताल पच्चीसी' जैसी कहानी से टपकती कहानियाँ चाहिए। चूँकि अपनी स्वभावगत मूर्खता के कारण वह, यानी दर्शक एक बार देखकर कहानी को उसकी कुछ-न-कुछ बारीकियों की वजह से पूरी तरह नहीं समझ पाता, इसलिए उन्हीं कहानियों को बार-बार दोहराया जाता है नाम बदल-बदलकर। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह नज़र आता था कि कोई भी अभिनेता या अभिनेत्री, पहले पहल किसी सीरियल में, किसी पात्र विशेष की भूमिका करता था तो लोग उसे उस पात्र विशेष के नाम से ही पुकारने लगते थे; फिर चाहे अन्य किसी सीरियल में वह अन्य कोई भी भूमिका करे, उसका नाम पहले वाला ही चलता था। 'पास-पास' के बुलाकीराम जब 'तोता-मैना' में मकरंद सिंह बनते थे तब भी बुलाकीराम के नाम से ही पहचाने जाते थे।

लेकिन ये बक्साई धारावाहिकों का मूर्खतापूर्ण अभियान आखिर कहाँ ले जाएगा हमें! मूलभूत और तात्कालिक ज़रूरतों को भूलकर साबुन, टूथपेस्ट और दो मिनट में तैयार होने वाली सिंवइयों को बेचने को बेताब, दैत्याकार फेरीवालों की आवाज़ों के जंगल में! क्या साबुन और लिपस्टिक की खपत बढ़ाने के चक्कर में एक पीढ़ी की पूरी बौद्धिकता खप जाएगी? यह क्या चक्कर है? विकास हो रहा है या विकास को स्थगित किया जा रहा है? ऐसे बौद्धिक सवालों को मन-ही-मन उठा पाने की अपनी क्षमता पर उसे संतोष हुआ। हालाँकि बक्से के फेरीवाले उसके घर में पहले ही बुरी तरह अतिक्रमण कर चुके थे। अब बच्चे मिठाई या समोसे नहीं माँगते थे, दो मिनट में तैयार होने वाली सिंवई पर जान छिड़कते थे। पत्नी ने हेयर रिमूवर का ब्रांड बदल दिया था, क्योंकि नए ब्रांड के साथ भौंहों के बाल उखाड़ने वाली चिमटी प्री मिलती थी।

खुद केशव ने पुराने ढंग के आरामदेह कच्चे पहनना छोड़ विलायती चड्डियाँ पहननी शुरू कर दी थीं, जो कि बेहद कसी-कसी रहती थीं और दाद की शिकायत बराबर बनी रहती थी। उसकी माँ रोजाना च्यवनप्राश लेने लगी थीं।

यही सब सोचते-सोचते उसका दिन बीत गया। उस दिन उसने अपना काम बड़ी संलग्नता से किया। वह कारखाने में गुणवत्ता निरीक्षण विभाग में था। उसने उस दिन ढेर सारे जॉब रिजेक्ट कर दिए। यही नहीं, उत्पादन में आ गई सामान्य कमियों के बारे में उत्पादन विभाग को एक लंबा मीमो लिखा। बाद में उसे लगा कि इन कमियों को दूर न भी किया जाए तो भी विज्ञापन के सहारे माल को आसानी से बेचा जा सकता है। गुणवत्ता को बनाए रखना महंगा सौदा है।

उसने बाजार से साग-भाजी खरीदी, कुछ खाने-पीने का सामान लिया। उसे महसूस हो रहा था कि रात को बक्से को लेकर हुई उसकी नाराजगी से पत्नी मन में दुःखी होगी। बच्चे कुछ सहमे-सहमे होंगे। माँ उसे गौर से देखकर अंदाज़ लगाने की कोशिश करेगी कि रात की कितनी नाराजगी बाकी है। उसने तय किया कि घर पहुँचकर वह सबसे हँस-बोलकर माहौल को एकदम बदल डालेगा। सब लोगसाथ बैठकर नाश्ता करेंगे, फिर वह स्वयं पूछेगा, 'पप्पू, बक्से पर आज कोई अच्छा कार्यक्रम है क्या?' और पहले की तरह सबके बीच में बैठकर खेल देखेगा। देखेगा, बुलाकीराम की दुष्टता, मुंदर का सुंदर मुखड़ा, छेदालाल की बेचारगी। देखें, कैसे मज़ा नहीं आएगा। अरे, मज़ा तो मन की मौज़ पर मुनहसिर है। पहले भी तो आता ही था।

तो ऐसा था अपने केशव हरिराम दाते का मन। उस दिन पप्पू की जरा-सी बात पर उसका मूड उखड़ गया तो हफ्तों उखड़ा रहा। बक्से से खुंदक हो गई उसे। देखना ही छोड़ दिया, मगर बीबी-बच्चों के लटकते चेहरे भी तो वह देख नहीं पाता था। वह उनकी मनोभावनाओं के प्रति अतिरिक्त रूप से संवेदनशील था। साइकिल पर घर लौटते में उसका मन धुल-पुँछकर एकदम साफ़ हो गया।

उसकी आशा फलीभूत नहीं हुई। वह घर में घुसा तो देखा, बक्सा खुला था, सब आराम से बैठे देख रहे थे। बच्चे-पत्नी-माँ सब बक्से से लौ लगाए थे। वह सामान के झोले उठाए हुए वहाँ से गुजर गया, मगर किसी ने उस पर ध्यान नहीं दिया। शायद कोई (बहुत जोरदार खेल चल रहा था। कोई बात नहीं, उसने मन में सोचा। अभी वह पिछले दरवाज़े से आँगन के लिए निकला भी नहीं था कि अचानक सब ठठा करके हँसे। बच्चे तो हँसते-हँसते लोट-पोट होने

लगे। उसे मालूम था कि चाय बनाने के लिए न तो पत्नी उठेगी, न माँ। इसलिए वह सीधा रसोईघर में गया, सब्जी के झोले पटके और गैस जलाकर चाय बनाने लगा।

शायद उसकी खटर-पटर सुनकर पत्नी चेती। उसने वहीं से ऊँची आवाज़ में कहा, "रुक जाओ दो मिनट। अभी आती हूँ। जरा-सी देर है इसमें... चाय खुद मत बनाने लगना।"

उसने चाय बनाने का काम जारी रखा।

चाय का गिलास लेकर वह सोने वाले कमरे में चला गया। तभी बच्चों के दौड़ने की आवाज़ आई। बक्से पर एक खेल खत्म हुआ होगा और दूसरा शुरू होने वाला होगा। रसोईघर से उसकी लाई चीज़ें लेकर वे सब फिर बैठक में चले गए। पत्नी एक प्लेट में नाश्ता लेकर आई, "आपने चाय खुद क्यों बनाई? मैं तो आ ही रही थी। चलिए, वहीं चलते हैं। 'दूर-दूर' आने वाला है। आज सुंदर का बाप जो घर से भागकर साधू हो गया था लौटकर आएगा। आज बुलाकीराम का कच्चा चिट्ठा खुलेगा। चलिए, चाय वहीं पी लेना।"

उसने कहा, "मेरी तबीयत ठीक नहीं है। तुम जाकर देखो।" वह चली गई।

वह हारे हुए खिलाड़ी की तरह चाय का गिलास पकड़े अकेला बैठा रहा। बैठक से आवाज़ों का सैलाब उमड़ रहा था। बक्से में चल रहे खेल की ओर देखने वालों की उत्तेजना भरी आवाज़ों से उसे कोफ्त महसूस होने लगी। लगा कि कानों को उबकाई आ रही है। उन चीखती हुई आवाज़ों से, जो शाम से देर रात गए तक उसके घर की दीवारों से सिर टकराया करती थीं। अब वह उन्हें रोक पाने में असमर्थ था। इसके लिए वह किसी और को दोष नहीं दे सकता था, क्योंकि आँख और कान के रास्ते से घुसने वाले इस घरघुसरे भूत को लाया तो वही था। वह अपने आप पर व्यंग्यपूर्वक मुस्कराने लगा।

उन दिनों जब शहर में बक्से बिकने शुरू हुए तो ज़्यादातर लोगों ने मुँह बिचकाकर कहा, 'अरे, छोड़ो भी। ये सब अमीरों के चोंचले हैं, अपने लिए तो बाजा पेटी ही ठीक है।' पूरी बस्ती में सिर्फ केशव हरिराम दाते था जो प्रॉविडेंट

फंड से रिफंडेबल लोन लेकर, साढ़े तीन हजार रूपए में, बक्सा लेकर आया। उसकी इस बुद्धिमत्ता से न तो माँ प्रभावित हुई, न पत्नी। उसने किसी की परवाह नहीं की। फ़ैक्टरी से घर पहुँचते ही बक्सा खोलकर बैठ जाता था, चाहे कार्यक्रम न भी चल रहा हो। तभी सीरियल आने लगे। धीरे-धीरे उसके परिवार को भी बक्से से लगाव होने लगा। महीने-दो महीने में एकाध सिनेमा देखने का रिवाज था, वह भी जाता रहा।

फ़ीचर फ़िल्म, चित्रहार और क्रिकेट मैच देखने में तो दिमाग की कोई खास ज़रूरत नहीं थी; मगर सीरियलों के सिलसिले को समझने-बूझने में बच्चों को कुछ समय लगा। बस, फिर क्या था, उन्होंने खेल-कूद और पढ़ाई से जी चुराना शुरू कर दिया। केशव की पत्नी की उबाऊ-एकरस ज़िंदगी में तो नई बहार आ गई। माँ ने बच्चों की पढ़ाई के नाम पर प्रतिरोध किया तो तमाशे में कटौती की बातें सोची जाने लगीं। लेकिन बच्चों ने धीरे-धीरे दादी को पटाना शुरू किया और सीरियलों के क्रिस्से सुना-सुनाकर उसको भी बक्से का चस्का डाल दिया।

केशव की माँ को सीरियल ऐसे भाए कि वह दिन-भर उन्हीं के बारे में सोचा करती- 'हाय रे, छेदालाल का अब क्या होगा! ये कमबख्त बुलाकी और मुंदर उसे चैन से जीने नहीं देंगे।' चूँकि आस-पड़ोस में बक्से आने लगे थे, इसलिए मोहल्ले की औरतों में सीरियल के प्रसंग रोजमर्रा की सामान्य चर्चा के स्थायी विषय बन गए। यदि सीरियल का कोई एपीसोड किसी वजह से कोई देखने से वंचित रह जाता तो अगले दिन चर्चा के समय उसे बुद्धू की तरह दूसरों का मुँह बाना पड़ता था; इसलिए यथासंभव आबालवृद्ध सभी की यह कोशिश रहती कि किसी भी कीमत पर सीरियल मिस नहीं किए जाएँ। उधर उनकी संख्या बढ़ती जा रही थी। आस-पास, पास-पास, दूर-पास दूर-दूर... नित नए सीरियल शुरू होते गए।

पत्नी को चूँकि खाना-चाय-नाश्ता बनाने के लिए बार-बार उठना पड़ता था इसलिए वह झल्लाई हुई रहने लगी। वह सब्जी काटने और दाल बीनने जैसे काम तो बक्स के सामने बैठे-बैठे कर लेती थी, मगर पकाने के लिए तो रसोई में जाना ही होता। ऐसे समय उसका मूड बहुत खराब हो जाता और वह देर तक किसी से सीधे मुँह बात नहीं करती

थी। बाद में उसे अपनी नासमझी पर पछतावा होता। उसने अपनी सास की सलाह पर अपनी दिनचर्या में रद्दोबदल करके खाना जल्दी बनाना शुरू कर दिया। बक्सा खुलने के समय वह घोषित कर देती कि जिसको चाय-काफी कुछ चाहिए, अभी बता दो, बाद में मैं नहीं उठूँगी।

इसी क्रम में केशव और उसकी पत्नी के बीच के अंतरंग क्षणों में भी काफ़ी कटौती हो गई। शनिवार और छुट्टी के दिनों में बक्सा आधी रात तक खुला रहता था। बैठे-बैठे सबके घुटने जाम हो जाते थे। तन-मन थके-थके से हो जाते। बाद में ओढ़कर चुपचाप सोने के अलावा कुछ भी सोचा नहीं जा सकता था। हफ़्तों ऐसे ही गुजर जाते। पत्नी उसे नाश्ते में मिर्च का अचार देने का नाम भी नहीं लेती। कभी-कभी वह माँगता तो तुनककर कह देती, "आज नहीं, आज दूर-दूर के बाद अंग्रेज़ी फ़िल्म दिखाई जाएगी।"

"लेकिन तुम्हें तो अंग्रेज़ी आती नहीं। क्या करोगी देखकर?"

"नहीं, देखकर सब समझ में आ जाता है। माँजी तक समझ जाती हैं तो मैंने तो इंटर तक पढ़ी है अंग्रेज़ी।"

"अच्छ, मेरे कहने से आज की फ़िल्म छोड़ दो। चुपचाप मिर्च का अचार ले आओ। एक अंग्रेज़ी फ़िल्म नहीं देखोगी तो कोई गजब नहीं हो जाएगा।"

"क्या फायदा! माँजी तो देखेंगी, बच्चे भी देखेंगे। सब लोग जगे रहेंगे। हम लोग उनसे अलग कैसे एक जगह हो सकते हैं। आज तो आम के अचार से ही खा लो।"

और वह चुप लगा जाता। उसे खुद तमाम तमाशों में मज़ा आता था। ऐसा लगता था जैसे ज़िंदगी का ख़ालीपन बड़े रोचक ढंग से भर गया है। काम पर जाओ, लौटकर खाओ, देखो और सोओ। न कोई फिकर, न चिंता। फालतू की बातें हुईं! सोचने-सुनने कहने का वक़्त ही कहाँ था! तभी एक दिन वह आघातकारी घटना हुई अनायास।

पास-पास, दूर-दूर जैसे सीरियल उन सबको इसलिए पसंद आए, क्योंकि उनमें घर-परिवार की कहानियाँ थीं। खाते-पीते परिवारों की। इनमें बच्चे, माँ-बाप, दादा-दादी के अलावा रिश्तेदार, मित्र और घरेलू नौकर जैसे पात्र होते

थे। शायद यही वजह थी कि सारे खेल एक जैसे लगते थे। सबमें हँसाने वाली ढेर-सी बातें होती थीं। नई विधा होने के कारण गिने-चुने अभिनेता उपलब्ध रहे होंगे; क्योंकि ज्यादातर कलाकार सभी सीरियलों में काम कर रहे थे। सुविधा के लिए उन्हें खास क्रिस्म की भूमिकाएँ बाँट दी गई थीं। पति-पत्नी के जोड़े और नौकर-नौकरानी ऐसी ही स्थायी क्रिस्म की भूमिकाएँ थीं। बड़ी-बूढ़ी स्त्रियों ने इस व्यवस्था को पसंद किया, क्योंकि कोई अभिनेत्री यदि अलग-अलग तमाशे में अलग-अलग अभिनेता की पत्नी बनती तो उन्हें अटपटा लगता। यह छिनारपन उनकी आँखों में चुभता। तर्क से उन्हें समझाया नहीं जा सकता था। यह तो सीरियल बनाने वालों की बुद्धिमानी थी कि उन्होंने पति-पत्नी के जोड़े तोड़ने की कोशिश नहीं की। इसी तरह, नौकर की भूमिका भी एक ही अभिनेता लगभग सभी सीरियलों में कर रहा था। वह ऐसा गजब का हँसोड़ और बातूनी था कि बच्चों और औरतों के मन को खूब भा गया। खूब जोर-जोर से गँवई क्रिस्म की एक अनोखी बोली में संवाद बोलता और मजे लगाता। उसकी लोकप्रियता का आलम यह था कि हर सीरियल में उसे नौकर का रोल मिलने लगा। पहले वाले में उसका नाम 'पलटू' रखा गया था, इसलिए सब उसे पलटू ही कहते थे। उसे लेने की मजबूरी ऐसी हो गई कि सीरियल में अगर गरीब परिवार भी दर्शाया गया हो तो भी नौकर के रूप में पलटू को दिखाया जाता। परिवार के अन्य सदस्यों की तरह वह भी भूख, गरीबी और अभाव का सामना करता, मगर रसोईघर में पूड़ियाँ बनाता रहता। इसमें ज्यादा परेशान होने की कोई बात नहीं, क्या गरीब-से-गरीब परिवार का गरीब नौकर पूड़ियाँ नहीं बेल सकता?

खैर, यहाँ इतना बताना है कि आम दर्शकों की तरह केशव हरीराम दाते का परिवार भी पलटू का दीवाना था। उसकी चर्चा बुलाकीराम, छेदालाल या मुंदर की तरह तो गंभीरता से नहीं की जाती थी, मगर उसको देखते ही हँसी के फव्वारे छूटने लगते। बच्चे तो हँसी के मारे पेट थामकर लोट-लोट जाते।

एक रात एक नया सीरियल शुरू हुआ। उसकी घोषणा तीन-चार दिनों से बार-बार की जा रही थी। लोगों की उत्सुकता का कोई अंत नहीं था। हाय, क्या होगा इसमें! कैसा होगा यह!

देखें, कौन-कौन काम करने वाले हैं। उसी रात 'दूर-दूर' का भी एक अंक आना था, जिसमें बुलाकीराम छेदालाल से कोई नई चाल खेलने वाला था। लोगों को यह देखना था कि उसमें मुंदर किसका पक्ष लेती है।

शाम को छोले-भटूरेवाला खोमचा आया तो मोहल्ले वाले उस पर टूट पड़े। डबलरोटी और छोले खरीद लिये जाएँ तो गृहिणी को एक शाम खाना पकाने से मुक्ति मिल जाती थी। केशव की पत्नी ने भी एक डोंगा भरवा लिया छोलों से। पप्पू बाजार से तीन डबलरोटियाँ ले आया। प्याज-टमाटर-अचार थे ही। इस तरह पूरा परिवार खाने-पीने का सामान लेकर बक्से के सामने बैठ गया।

केशव एक ऊँची कुरसी पर पालथी मारकर बैठा था। बाकी लोग दरी बिछाकर जमीन पर। खूब हा-हा ही-ही होती रही। कभी जादू का खेल चलता था तो कभी प्रश्नोत्तरी। नशाबंदी की प्रेरणा देने वाले भयावह विज्ञापन बीच-बीच में बच्चों को डरा देते। केशव सोच रहा था कि देखो, आदमी ने कितनी तरक्की कर ली है। उसे अपने बचपन के बाइस्कोप वाले की याद आ रही थी। उन दिनों एक अधन्नी देकर वह बड़े शौक से बारह मन की धोबन और दरारोंवाला ताजमहल देखा करता था। उसी में मजा आता था। अब उसके सामने उसके बच्चे थे। पप्पू और बबली, जो कैसे ठाट से घर में बैठकर दुनिया का तमाशा देख रहे थे।

खबरें आने लगीं। खबरें क्या थीं, अलग-अलग तरीके से बेमौत मरने वालों के आँकड़े थे। मसलन बस दुर्घटना में बहत्तर, गोलीकांड में साढ़े छह, कथित आतंकवादियों द्वारा चार, भूस्खलन में दो हजार दो सौ पच्चीस, बम विस्फोट में साढ़े तीन, जहरीली शराब पीने से तेरह और जाड़े में ठिठुरकर दो व्यक्ति मारे गए। केशव और परिवार के लोग खबरें सुनते-सुनते ही डबल रोटी और छोले खाते रहे। बाद में सीरियलों के बीच खाने से सिलसिला टूट जाने का डर रहता था। फिर खाते हुए न तो कोई खुलकर हँस सकता है, न रो सकता है। खबरों में ऐसी कोई खास ध्यान देने वाली बात तो होती नहीं, इसलिए भोजन के लिए सबसे अच्छा समय वही था।

'दूर-दूर' में पात्रों की धमाचौकड़ी के बाद कुछ हेयर रिमूवर के विज्ञापन दिखाए गए और नया सीरियल शुरू

हुआ। उन सबकी आँखें बक्से के परदे से चिपककर रह गई। मजा यह रहा कि बुड़े-बुढ़िया वही बने थे, जो बाकी सब सीरियलों में दादा-दादी या नाना-नानी बनते थे। बेटा-बहू कोई नए लोग थे, मगर उसी तरह चुहल कर रहे थे जैसे कि हुआ करती है। वैसे ही डाइंगरूम और डाइनिंग रूम के दप्टी-प्लाइवुड के बने सेट थे। नया सीरियल खूब जमेगा, ऐसा सोच ही रहा था केशव कि नौकर की भूमिका में पलटू भी आ गया। फिर क्या था, सब तालियाँ बजाने लगे। हँसी-खुशी का वातावरण हो गया चारों तरफ।

“भई, इस मरे पलटू के बिना तो कोई भी सीरियल अच्छा नहीं लगता।” उसकी माँ ने कहा।

“सच्ची, कित्ती अच्छी एक्टिंग करता है यह! इसे फ़िल्मवाले क्यों नहीं ले जाते पकड़कर?” उसकी पत्नी ने सराहना के भाव से पूछा तो केशव ने पुलकित होकर कहा, “जाएगा, जाएगा ये भी फ़िल्मों में।”

बबली और पप्पू तो मानो पलटू की एक-एक हरकत को आँखों से पी रहे थे। नाटक में घर के सब लोग बाहर चले गए तो पलटू आराम से सोफे पर बैठकर अखबार पढ़ने लगा जैसे घर का मालिक वही हो; हालाँकि उस समय भी झाड़न उसके कंधे पर रखा था। हँसते-हँसते उसकी आँखें छलकने लगीं। तभी जाने पप्पू को क्या सूझी कि उसने अपनी माँ का पल्ला खींचकर कहा, “मम्मी-मम्मी, यह पलटू देखने में बिलकुल पापा की तरह लगता है ना?”

भोलेपन से कही गई इस बात पर केशव की माँ और उसकी पत्नी जोर से हँसीं। वह खुद भी हँसा। मगर उसका ध्यान भंग हो गया। सहसा उसकी दिलचस्पी जाती रही। आगे क्या हो रहा है, यह देखने के बजाय वह आँखें फाड़-फाड़कर पलटू की मुखाकृति को ध्यान से देखने लगा; जैसे पहचानने की भरपूर कोशिश कर रहा हो।

जितना वह उसे देखता गया, उतना ही उसे लगता कि उनके चेहरे-मोहरे में साम्य है। पप्पू ने बड़े मार्के की बात कही थी। वेशभूषा का फ़र्क हटा दिया जाए तो कहना मुश्किल था कि कौन केशव है और कौन पलटू। उसका दिल बैठने लगा। उसे लगा कि विधाता ने सूरत-शक्ल के मामले में उससे सौतेला व्यवहार किया है। बचपन से ही यह अनुभूति

उसे हो गई थी। लेकिन उसने पढ़ाई में मन लगाया, कड़ी मेहनत की और अच्छे नंबर ले-लेकर अपने को हीन भावना से भरसक दूर रखा। उसके सहपाठियों में कई सुंदर लड़के थे, लेकिन वह उनसे कभी दबकर नहीं रहा।

छैल-छबीले सहपाठियों के मुकाबले उसे जल्दी ही अच्छी नौकरी मिल गई, वह भी बगैर सिफ़ारिश के, तो अच्छी सूरत न पाने का जन्मजात मलाल उसके मन से लगभग निकल ही गया। शादी हुई तो सुंदर पत्नी पाकर उसे लगा कि वह खुद पहले से ज्यादा अच्छा दिखने लगा है। इतने साल बीत गए, कभी भी उसके मन में अपने व्यक्तित्व को लेकर हीन भावना नहीं जागी।

संयोग की बात कि उस रात नए सीरियल को देखते हुए अबोध पप्पू की एक मासूम-सी टिप्पणी को सुनकर वह विचलित हो उठा। थोड़ी देर बाद वह चुपके से उठा और बिस्तर पर लेटकर यह सोचने लगा कि अगर पलटू से मेरी सूरत मिलती-जुलती है तो इसमें इतना बुरा मानने की क्या बात है!

उस दिन के बाद बक्से के प्रति उसका रुख बदलता गया। उसके आस-पास के लोग बक्से से मानसिक रूप से जुड़ते जा रहे थे और वह चाहता था कि बक्से को इतना महत्व नहीं दिया जाए। बक्से के दर्पण में वह अपना चेहरा देख चुका था, एकदम पलटू जैसा। उधर पास-पास, दूर-दूर, बहुत पास, थोड़ी दूर-दूर और पास जैसे सीरियल बक्से पर छाए हुए थे। बुलाकीराम, छेदालाल और पलटू युगपुरुष हो गए थे। उसने अपनी जान-पहचान के लोगों को गौर से देखना शुरू कर दिया था, देखें, और किस-किसकी शक्ल पलटू से मिलती-जुलती है? कोई भी ऐसा नहीं मिला। कई घरेलू नौकरों का मुआइना करके उसने पाया कि वे सब पलटू से जुदा लगते हैं।

उनके घर में शामों और रातों को बक्सा देखना लगभग एक नियम बन गया था। इसे तोड़ दिया जाता तो फिर से एक मारक ख़ाली-ख़ालीपन उन्हें धर दबोचता। व्यर्थता का अहसास भी। अब पहले वाली सीधी-सादी ज़िंदगी नहीं लौट सकती थी, जब पत्नी चौके में गरम-गरम रोटियाँ सेंककर उनकी थालियों में डालती जाती थी और माँ भजन भाव में

डूबी रहती थी। दीया-बाती का समय होते ही बच्चे अपने-अपने बस्ते खोलकर बैठ जाते थे।

वह अक्सर बक्से के सामने से अनुपस्थित रहने लगा। चुपके से उठकर सोने वाले कमरे में आ जाता और किताबों में मन लगाने की कोशिश करता। कुछ दिन तक बात-बात पर बच्चे या पत्नी बुलाने आते रहे, 'चलिए, 'दूर-दूर' आ रहा है।' या 'देखिए तो, पलटू बड़े मजे लगा रहा है।' कभी-कभी वह उठकर चला भी जाता था, लेकिन अब उसका मन नहीं रमता था। थोड़ा-बहुत देखता कि पलटू चला आता। उसे लगता कि पप्पू-बबली-पत्नी माँ-सब चीख-चीखकर कह रहे हैं कि देखो, केशव आया! पापा आए! पप्पू के पापा आ गए!

उसने बक्से के विरुद्ध सोचना शुरू कर दिया था। एकदम निर्वैयक्तिक होकर। उसे सोचने पर हैरतअंगेज निष्कर्ष मिलने लगे। बौद्धिकता उपजने लगी। उसका मन करता कि किसी मंच पर बक्से पर जमकर बहस हो और उसमें वह एक जोरदार तकरीर करे। उसका बस चलता तो वह इस पर राष्ट्रीय स्तर की बहस करवा देता। आखिर क्या मकसद है इसका? लोगों को भुलावे में रखना। उनका सोचने-विचारने का समय पूरी तरह हथिया लेना। उनके मन में उठते प्रश्नों के अंकुर मिट्टी के तले दबा देना। हर सोचने-समझने वाला आदमी नाटकों का आदी होता जा रहा है। और वह भी कैसे नाटक, जिनमें वक्त को हलाल किया जाए। क्या होगा इस खतरनाक खेल का अंजाम? लोगों को गठिया मार जाएगा, बैठे-बैठे उनके घुटने बेकार हो जाएँगे। उनकी इच्छा-शक्ति मर जाएगी। हर दूसरे आदमी को बवासीर जैसी बीमारी हो जाएगी... सोचते हुए वह इतना उत्तेजित हो जाता कि दिमाग की नसें फड़कने लगतीं। मन में आता कि एक डंडा लेकर निकल पड़े परशुराम की तरह। चुन-चुनकर, गिन-गिनकर एक-एक बक्से को चकनाचूर करता जाए- जब तक घर, मोहल्ले, शहर का यह ध्वनि प्रदूषण जड़ से साफ न हो जाए। तब, उसे लगता कि लौट आएँगे पुराने दिन, रविवार की चहल-पहल और शोर-शराबे से भरी सुहावनी शामें। सबके पास कुछ-न-कुछ समय होने लगेगा टहलने, बोलने-बतियाने और प्यार-मोहब्बत करने के लिए। उसकी पत्नी पूर्ववत् नाशते में मिर्च का अचार रखकर मन-ही-मन मुस्कराया

करेगी। बच्चे फिर से पढ़ने-लिखने और खेलने में जुट जाएँगे। उनका शारीरिक-मानसिक विकास इस तरह अवरुद्ध नहीं हो जाएगा।

लेकिन यह ख्याली पुलाव होता था। उसे बराबर यह अहसास सालता रहता था कि उसकी यह बगावत महज वैचारिक कारणों से नहीं है, कहीं-न-कहीं अपनी शक्त पलटू जैसी होने की कटु प्रतीति से जुड़ा है। वह अगर खुद सुंदर-सलोना होता तो भला उसे बक्से से विरक्ति कैसे होती? वह अपने आप पर व्यंग्यपूर्वक मुसकुराकर रह जाता। उसे मन-ही-मन यह भी संदेह था कि पत्नी और माँ उसके मन के चोर को देख चुकी हैं। अनजान बनी बैठी हैं। माँ स्वयं काफ़ी सुंदर थीं, पत्नी का तो कहना ही क्या! दोनों जानती हैं कि बक्से से उसका मन क्यों विमुख हो उठा है। यह अनुभूति होते ही उसका सारा आक्रोश टंडा हो जाता था। वह बक्से के मुकाबले अपने आपको लाचार पाने लगता था। वह आकुल होकर खुद से कहता, सोचो, यदि सचमुच तुम्हारी जीवनसंगिनी ऐसा समझने लगे कि उसे एक मामूली से दिखाई देने वाले आदमी से ब्याह दिया गया है, जो किसी तरह भी उसके पति के रूप में नहीं जमता, एकदम बेमेल जोड़ी; ऐसा आदमी तो सिर्फ पलटू की तरह एक घरेलू नौकर की भूमिका में सोहता है, सबको हँसाता रहे, बस, स्वामी के रूप में, तो... वह इस ख्याल से मन-ही-मन बहुत परेशान हो जाता था। तब उसे यही अच्छा दिखाई देता कि उसकी पत्नी बक्से का तमाशा देखने में ही तल्लीन रहे। कुछ सोचने-वोचने का समय ही नहीं हो उसके जीवन में। जैसे भी उसे चाहती आई है, वैसे ही चाहती रहे।

वह दबे पाँव उठकर देखता, बक्से के सामने बैठकर मटर छीलती या आलू काटती अपनी पत्नी को। उसे लगता कि जो कुछ हो रहा है, ठीक ही हो रहा है। मुश्किल यह थी कि ऐसी मनःस्थिति भी थोड़ी देर ही टिकती थी।

अपनी बनाई ज्यादा चीनी वाली चाय पीकर उसने कुछ देर तक अखबार को उलटा-पलटा, फिर आँधे मुँह चारपाई पर पड़ गया। युद्धरत सिपाही की तरह। बक्से से निकल रही तीखी आवाज़ की गोलियाँ अब उसके सिर के ऊपर से निकलने लगीं।

बक्से की चर्चा के चक्कर से बचने के लिए वह फ़ैक्टरी में सारे दिन काम में जुटा रहा था, इसलिए उसका तन-बदन थका हुआ था। भूख अलग सता रही थी। उसे अपने ऊपर हैरानी हो रही थी कि शाम को बाज़ार से मनपसंद सब्जियाँ ख़रीदते समय उसके दिमाग़ में सिर्फ़ एक शानदार डिनर था और कुछ नहीं। यह नहीं सोचा कि आज रात को कम-से-कम चार सीरियल आने हैं। पत्नी अगर खाना पकाने लगेगी तो सीरियलों की कड़ियाँ उससे छूट जाएँगी। इसका खामियाजा वह अगले दिन पड़ोस की औरतों से होने वाली बातचीत में भुगतेंगी। सब औरतें अपने-अपने विचार व्यक्त करेंगी, क्योंकि उन्होंने पिछली रात के प्रसंग बक्से पर देखे होंगे। बस उसकी पत्नी बुद्ध की तरह सबका मुँह ताकेगी और 'फिर क्या हुआ बहनजी' पूछती रहेगी।

उसने अपनी स्वार्थपरता को लानत भेजी। पत्नी होने का मतलब यह तो नहीं कि औरत कोल्हू का बैल होकर रह जाए। तभी उसे छोले-भटूरेवाले ठेले की आवाज़ सुनाई दी। उसे लगा कि बरतन लेकर कोई छोले लेने जा रहा है। चलो छुट्टी हुई। उसके सीने से एक बोझ-सा उतर गया। लेटे-लेटे वह कब सो गया, उसे पता ही नहीं चला।

पत्नी ने प्यार से हिला-डुलाकर उसे जगाया। छोले-भटूरे की प्लेटें उसके आगे लगा दीं। उसे ज़ोरदार भूख लगी थी, इसलिए बग़ैर ना-नुकुर किए बैठकर खाने लगा। खा चुका तो वह एक प्लेट में मिठाई ले आई।

वह हाथ धोने के लिए उठने को था कि पत्नी ने बड़े उत्साह से कहा, "अभी दस पचास से हैंसोड़ कवियों का कार्यक्रम होगा। आप भी देख लीजिए। बहुत मज़ेदार होता है।"

उसने मुसकुराकर कहा, "अरे, कवियों को मारो गोली। मुझे नींद आ रही है, तुम भी जल्दी निपटकर आ जाओ।"

वह आँचल मुँह पर रखकर बोली, "यह कैसे हो सकता है। कवि सम्मेलन के मारे माँजी और बच्चे अभी तक जाग रहे हैं। इसीलिए तो कह रही थी कि आप भी आ जाए।"

वह कुछ नहीं बोला। हाथ धोकर आया और बिस्तर पर लंबा हो गया। मुँह के ऊपर चादर ओढ़ने जा रहा था कि पत्नी पैर धमकाती हुई आई और उसकी चादर खींच ली, "आपको क्या हो गया है? क्या बक्सा न देखने की कसम खा ली है? पप्पू ने मजाक में कुछ कह दिया तो आप ऐसा बुरा मान गए। सीरियल देखना ही बंद कर दिया है। ऐसा भी क्या! चलो, कवि सम्मेलन में तो नहीं होगा वह कमबख्त पलटू। चलो, आपको मेरी कसम है।"

उसका चेहरा झेंप और लज्जा से आरक्त हो उठा। बचे-खुचे आत्मसम्मान की रक्षा में वह उठ बैठा। उसने आत्मसमर्पण की मुद्रा में कहा, "अच्छा भई, तुम चलो, मैं आता हूँ।"

उसकी पत्नी जाते-जाते पलटकर उसके नजदीक आई और उसका मुँह अपने हाथों में लेकर माथा चूम लिया।

छोटा अफ़सर

अंग्रेज़ों के ज़माने से उनकी आदत थी कि आख़िरी हूटर बजने से दस मिनट पहले शॉप में पहुँच जाते थे। उस रोज़ देर हो ही गयी। मुन्नी को तेज़ बुखार था, सुबह-सुबह ही डॉक्टर के यहाँ जाना पड़ गया।

वे शॉप में पहुँचे, तो काफ़ी वर्कर आ चुके थे और कपड़े बदल रहे थे। रंग-बिरंगे कपड़े खूंटियों पर टांगे जा रहे थे। उनकी जगह तेल ग्रीज में सने ओवरऑल पहनने की जल्दी किसी को नहीं थी। कुछ देर कच्चे-बनियान में धींगामस्ती होती थी। जैसे ही उन्होंने अपने केबिन में जाने के लिए उनकी तरफ़ पीठ फेरी, दो-तीन आवाज़े आर्यो, “आये लम्भड़, लम्भड़ आ गया!”

आठ से साढ़े आठ बजे तक कारीगरों के लिए कपड़े बदलने और भगवान की फ़ोटुओं के आगे अगरबत्तियाँ जलाने का समय होता था। इस बीच किसी के बाप की मजाल नहीं थी, जो बर् के छत्ते को छेड़ता। मगर आठ-चालीस होने पर भी जब मशीनें नहीं चलीं, तो वे अपने केबिन से निकल आये। सुपरवाइजर रामलाल के पास जाकर उन्होंने कहा, “जरा देखो तो, काम क्यों नहीं शुरू हो रहा।।..”

रामलाल उठकर खड़ा हो गया, “देखिए, आप मेरे पीछे पड़ने के बजाय वर्करों को क्यों नहीं समझाते! मेरा कहा तो कोई सुनता नहीं- सबके पास गज भर लंबी जुबान है। भलमनसाहत से बोलो, तो ठट्ठा करते हैं। टेढ़े होकर बोलो, तो पिछली सात पुरतों तक को गालियाँ देते हैं। कौन इनके मुँह लगे!”

“गालियाँ देते हैं, तो लिखकर रिपोर्ट क्यों नहीं देते ? जब तुम इन्हें हैंडिल कर ही नहीं सकते, तो फिर तुम्हारे यहाँ होने का फायदा ही क्या है !”

“गालियाँ तो आप को भी देते हैं, आप क्यों नहीं देते ऊपर लिखकर ? हैंडिल करके भी दिखा देता, अगर कोई तगड़ा अफ़सर मेरी पीठ पर होता। जब भी आपसे किसी की रिपोर्ट की, आपने हीला-हवाला करके टाल दिया। एक दफे भी एक्शन लिया है आपने ?”

“रामलाल, मुझे भी नौकरी करते तीस साल हो गए, मगर तुम्हारे-जैसा सुपरवाइजर मैंने नहीं देखा ! जरा मेरे पिछले सेक्शनों में जाकर पूछो, वहाँ क्या माहौल बनाया हुआ था मैंने ! लेकिन जिस दिन से इस जगह आया हूँ, एक घड़ी को चैन नहीं मिला। तुम हो कि बजाय कोआपरेट करने के, उल्टे कायदा सिखाते हो। सिन्हा है, तो हफ़्ते में तीन दिन छुट्टी पर रहता है। जाओ, जाकर काम शुरू करवाओ। अभी भी ढाई सौ आइटम शॉर्ट हैं। बहुत कहुँगा, तो एक दिन की मोहलत मिल जाएगी। अब इसमें भी तुम जॉब-ऑडर पूरा नहीं करवा सकते, तो फिर मुझे न चाहते हुए भी... समझे !”

“हाँ, समझ गया ! मेरी सालाना रिपोर्ट खराब कर दोगे, और ? यही न ! तो क्या वह पहले से अच्छी चली आ रही है ! मेरे सामने-सामने इस शॉप में छह अफ़सर आये और चले गये। सबके सब प्रमोशन लेकर गये, मगर हर कोई, जब तक रहा, मेरे पीछे हाथ धोकर पड़ा रहा। अब आपकी बारी है ! अरे, मैं कोई बैल हूँ कि हल में जोतेंगे मुझे ? किसी ने मेरी तरफ भी देखा होता। दस साल से इसी ग्रेड में पड़ा सड़ रहा हूँ, स्टेगनेशन हो गया है। नसबंदी-सी कर डाली है मेरी। अब क्या चाहते हो ? साहब जी, मैंने भी सोच लिया है, जब तक मेरा कुछ नहीं होता, मैं खटने-वाला नहीं। बहुत देख लिया उल्लू बनकर !”

उसका मुँह लाल हो उठा, माथे पर नसें उभर आयीं। वर्कर इस बहस को सुन रहे थे। मशीनों के पीछे से पों-पों होने लगी। कोई ज़ोर से बोला, “अबे देखो, भुसुंडी आज लम्बड़ से भिड़ रहा है !...”

उन्होंने रामलाल के कंधे पर हाथ रखकर नर्मी से कहा, “भाई मेरे, मैं इसमें क्या कर सकता हूँ। मुझे यहाँ आये

मुश्किल से तीन महीने हुए होंगे, मगर मेरे पहले वाले सेक्शनों में जाकर पूछो, मैंने अपने एक-एक आदमी के प्रमोशन के लिए लड़ाई लड़ी है- नतीजा तुम्हारे सामने है ! तुम तो आज स्टैगनेट हुए हो, यहाँ तो पिछले चार साल से घड़ी की सुई रुकी पड़ी है। मेरे जूनियर लोग एक के बाद एक प्रमोट होते जा रहे हैं। मगर मैंने परवाह छोड़ दी है। मेरी सर्विस के दो साल कुछ महीने रह गए हैं, प्रमोशन दो तो ठीक है, नहीं दो तो ठीक है- समझे मेरे प्यारे !”

वे आगे बढ़ गये। उन्हें देखकर मशीन के पीछे बैठे वर्कर खड़े हो गए।

बड़ी मुलायमियत से एक नेता टाइप को संबोधित किया, “ओये खन्ने ! काम क्यों नहीं शुरू कर रहे हो ?”

“देखो साब, इधर आकर जरा देखो। ये देखो, वो देखो। अब जरा बताओ कि यह शॉप है या कूड़ाखाना ? माइयाँ दुनिया की साली गंद इकट्ठा है यहाँ-यहाँ आदमी काम कर सकते हैं ! स्वीपर के हाथ जोड़ लिए, मिन्तें कर लीं, मगर नहीं आता। कहता है, जब टाइम मिलेगा, तब साफ करेंगे जाओ, कर लो जो करना है ! आज मजबूर होकर हमने काम रोका है। आप ये गंद यहाँ से हटवा दो, तो हम काम शुरू करते हैं। आप कहो तो आगे से झाड़ू भी हमीं लगाने लगें !...”

सचमुच बहुत किचपिच मची थी। लोहे की छीलन, तेल, कूलेंट, सूत के गुच्छे, बीड़ी-सिगरेट के टूँठ वगैरह। उन्हें ताज्जुब हुआ कि इस बात पर उनका ध्यान पहले क्यों नहीं गया। अफ़सर की निगाह से ऐसी चीजें छूटनी नहीं चाहिए...

कहाँ है स्वीपर ! उसे ढूँढ़ने निकले। कायदे से उस समय स्वीपर को शॉप में सफ़ाई के काम पर होना चाहिए था, मगर उसका कोई पता नहीं था। दूसरी शॉप के एक स्वीपर से तरकीब से पूछा तो पता चला कि कैंटीन के पीछे, पीपल के नीचे उसका अड्डा था।

पीपल के पेड़वाली जगह झाड़ियों और लकड़ी के खाली बक्सों से इस तरह घिरी थी कि बाहर से कुछ नज़र नहीं आता था। उन्होंने झुरमुट में जाकर देखा, चार आदमी पीपल के नीचे बैठे ताश खेल रहे थे। वह लंबा-तगड़ा स्वीपर भी उनमें था।

बहुत जोर से गुस्सा आया उन्हें, हरामखोरी की हद थी। उन्होंने बिगड़ना शुरू किया, तो ताश के पत्तों पर अटकी नज़रों ने हैरानी से उनको देखा। वह स्वीपर अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से एकटक उनकी ओर देख रहा था। उनका पारा ज्यादा चढ़ते देखकर एकाएक ज़मीन पर लेट गया और 'हाय मरा, हाय मरा' करने लगा जैसे उसके पेट में भयंकर दर्द हो रहा हो। बाकी तीनों उसका पेट सूतने लगे। ताश के पत्ते गायब हो गए।

खैर! गुस्से को पीकर उन्होंने एक सीधे-से स्वीपर को पकड़ा, उसे चाय-पानी के लिए पचास पैसे दिए और शॉप की सफाई करवायी।

नौ बजे काम शुरू हुआ।

मशीनों के समवेत स्वर में उन्हें सुरक्षा का आभास होता था। यह सुरक्षा की भावना दिनोदिन कम-ज्यादा होती रहती थी, क्योंकि उनके मन में समाया हुआ था भय-

ऊपर के अफ़सर का भय,

नीचेवालों का भय।

यह भय बढ़कर आतंक में परिवर्तित हो जाता था- अनिवार्य सेवानिवृत्ति का भय! फिर क्या होगा? मेरा, मेरे बच्चों का क्या होगा? तीस साल की सेवा के बाद यह भय ही उनका प्राप्तव्य बन गया था। उनकी उम्र पचपन साल से तीन महीने ज्यादा हो चुकी थी। जब भी ऊपरवालों का दिल चाहता, उन्हें दूध से मक्खी की तरह निकाल फेंका जा सकता था।

इस कारखाने में तीस साल पहले वे बी ग्रेड चेकर की हैसियत से आये थे। तब बड़े अफ़सर सब अंग्रेज़ थे। बी ग्रेड से ए ग्रेड हो गये, क्योंकि मैट्रिक पास थे। फिर सुपरवाइजर, चार्जमैन, असिस्टेंट फोरमैन, फोरमैन यहाँ तक सब ठीक चला। मगर अफ़सर होकर उन्होंने दरअसल अपने लिए लाग-डॉट मोल ले ली थी। उनकी कद्र घटने लगी। नये-नये मैनेजर आ गए, जो बहुत ज्यादा पढ़े-लिखे थे। उनके मैनेजर को न उनका हुलिया पसंद था, न रंग-ढंग। वह उनकी जगह किसी डिग्री होल्डर इंजीनियर को चाहता था। उसने तंग करना शुरू किया, तो वह भी ईट का जवाब पत्थर से देने लगे।

उनकी ए.सी. आर. खराब होने लगी, उनको इधर से उधर फेंका जाने लगा, कभी किसी सेक्शन में, कभी किसी शॉप में। जितनी लिखा-पढ़ी और फरियाद उन्होंने की, उतनी ही वितृष्णा उनके ऊपरवालों में जागी। एक-एक कर के उनसे जूनियर लोग प्रमोशन पाते गये।

इस लगातार उखाड़-पछाड़ से उनका मनोबल टूट गया, उन्होंने विरोध करना तज दिया, लिखा-पढ़ी बंद कर दी। अफ़सर की अगर ए.सी.आर. खराब होती रहे, तो वह बिना दौत-पंजों वाले शेर की तरह हो जाता है। उससे कोई नहीं डरता। न ऊपर उसकी पूछ रहती है न नीचे। इस सूरत में लाजमी था कि वे निरपेक्ष हो जाते। उन्हें हर पहली तारीख़ को साढ़े ग्यारह सौ रुपये मिल जाते थे, ए.सी. आर. अच्छी हो या खराब!

उनका यह जीवन-दर्शन चलता रह सकता था, अगर सरकार अफ़सरों की सेवानिवृत्ति के नियम में यह और न जोड़ देती कि 'पचपन साल की उम्र के बाद उन्हें कभी भी रिटायर किया जा सकता है।' संयोगवश इस नियम के आने के साथ ही उनके पचपन वर्ष हो गये थे। आगे के तीन साल अब थे भी और नहीं भी। यह उनकी ए.सी.आर. पर निर्भर था। नौकरी अब उनका हक नहीं रह गयी थी, बल्कि किसी की मेहरबानी थी।

और कोई होता, तो इतनी फ़िक्र नहीं करता; मगर उनके हालात ही कुछ ऐसे थे कि नौकरी के एक-एक दिन की कीमत थी। उनके पाँच बच्चे थे- तीन लड़कियाँ, एक लड़का और फिर एक लड़की-मुन्नी। बड़ी दोनों बी.ए. करके बैठी थीं और तीसरी कर रही थी। लड़का आठवीं में और मुन्नी चौथी में पढ़ते थे। कुल जमा-पूँजी और रिटायरमेंट पर जो कुछ मिलने वाला था, उसे मिलाकर तीन लड़कियों के हाथ पीले करना भी मुश्किल दिखाई दे रहा था। दो फिर भी बच जाते, पालने के लिए।

पिछले एक साल से वे भाग-दौड़ कर रहे थे। ऐसा नहीं कि लड़के न मिलते हों। अच्छे-अच्छे लड़के देखे; सुनें लेकिन लड़कों के घर वाले सुरसा की तरह मुँह खोलते थे कि आओ, समा जाओ डाढ़ में माल-मत्ता समेत। उनकी लड़कियाँ पढ़ी-लिखी थीं, देखने भालने में सुंदर ही कही जातीं, मगर

रंग साँवला था तीनों का। इसी वजह से माँग में सिन्दूरी रंग के मुआवजे की रकम और बढ़ जाती। रकम ही नहीं, साथ में स्कूटर फ्रिज, टी.वी.-बार-बार हिम्मत करते और लागत का तखमीना देखकर हार जाते। खाने-पीने के शौकीन रहे थे, इसलिए जमा-पूँजी कोई खास ज़्यादा नहीं थी। उनकी दोनों बड़ी लड़कियाँ आम की तरह पकती जा रही थीं। कभी-कभी मन में पछताते कि पहले से भागदौड़ क्यों नहीं की...

लंच तक एक मिनट के लिए भी वे नहीं बैठे। यूँ भी दफ़्तर में बैठना उन्होंने छोड़ दिया था। उनके सिर पर घोड़े के बाल में बंधी तलवार जो लटक रही थी। ज़्यादातर समय शॉप-फ्लोर पर ऊर्ध्वाधर रहते। जाने कब कोई राउंड पर आ जाए!

सबसे बड़े अफ़सर के राउंड के समय पुराने जमाने के मुग़ल-दरबारों जैसा दृश्य प्रस्तुत किया जाना ज़रूरी समझा जाता था। दौरे के समय सब खड़े हों, चाक-चौबंद। अफ़सरों के फ़्लोर पर खड़े होने का उत्पादन या अनुशासन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता था, क्योंकि उस कार्य के लिए सुपरवाइजर ही काफ़ी थे; मगर जाने कब से यह अलिखित नियम चला आ रहा था।

इस शॉप के वर्कर जाने क्यों इतने मुँहफट और दबंग थे। यहाँ कोई अफ़सर टिकता नहीं था। जो भी आता, मानो सजा काटने के लिए आता और चला जाता। इस चक्कर में वहाँ के वर्करों और सुपरवाइजरों का हित देखने की फुरसत भी शायद ही किसी को मिली हो!

उन्होंने हिसाब लगाकर पाया कि जॉब-शेड्यूल से बहुत पीछे चल रहे थे। कहीं-न-कहीं गड़बड़ थी, हालाँकि किसी मशीन विशेष पर सुस्ती नहीं थी। शायद पूरी शॉप ही एक रफ़्तार से सुस्त चल रही थी। उन्हें किसी सुनियोजित षड्यंत्र का आभास हुआ। उन्होंने रामलाल की तरफ देखा-वह काम में जुटा हुआ था। स्वभाव से कितना ही अक्खड़ हो, मगर मेहनती और धुन का पक्का आदमी था। नौकरी में ज़्यादा अक्खड़पन ठीक नहीं होता; सो अफ़सरों की लेखनी से जब भी पड़ी, लाल स्याही की ही छींट पड़ी। वह चिड़चिड़ा होता गया। वैसे भी उस शॉप में सुपरवाइजर का कोई वजूद नहीं समझा जाता था।

उन्होंने सोचा, लंच के बाद वर्करों से दो-टूक बात की जाए। अपने अनुभव से वे जानते थे कि आदमी का पेट अगर भरा हो, तो उसे गुस्सा ज़्यादा नहीं आता... लंच के नाम पर उन्हें अपनी बीमार बच्ची का खयाल आ गया। सारे बहन-भाइयों में एक वही गोरे रंग की थी। उसके बुखार में तपते, भोले-मासूम चेहरे की तसवीर जेहन में आते ही वे फिर कमजोर होने लगे... मान लो, उन्हें दूसरे दिन ही अनिवार्य सेवानिवृत्ति और तीन महीने की तनखाह का चेक मिल जाए, तो क्या हो! रिटायर तो एक-न-एक दिन होना ही था; लेकिन उस समय वे मानसिक रूप से इसकी कल्पना भी नहीं कर पाते थे। फंड-ग्रेच्युटी की रकम में आखिर क्या-क्या हो जाएगा? तीन लड़कियों की शादी, और उसके बाद चार व्यक्तियों के परिवार का अनवरत पोषण... रिटायर होने के बाद कहीं ढूँढ़ने जाएंगे भी, तो डेढ़-दो सौ से ज़्यादा पर कोई रखेगा नहीं। उनके पास डिग्रियाँ नहीं थीं, कोई विशेष योग्यता भी नहीं थी... वे द्रवित हो उठे- जाने कैसी गुजरेगी? हाँ, ये तीन साल किसी तरह उन्हें मिल जाएँ, तो बहुत कुछ किया जा सकता था। नहीं होते, तो नौकरी के तीस साल भी कुछ नहीं होते; और होते हैं, तो तीन साल भी बहुत होते हैं...

लंच में खाना खाकर ज़्यादातर वर्कर शॉप के फर्श पर ही लुढ़क जाते थे। कुछ तो गाढ़ी नींद सो भी जाते। इसलिए लंच का समय थोड़ा खिंच जाता था। दस-पंद्रह मिनट व्यवस्थित होने में लग ही जाते थे... दस मिनट बाद वे बाहर निकले। काम शुरू नहीं हुआ था और आपसी छेड़छाड़ चल रही थी। नेता लोग गायब थे। लंच के बाद वर्करों से बात करने में यह भी एक सुविधा रहती थी; क्योंकि जितने नेता-टाइप लोग थे, किसी-न-किसी बहाने शॉप से प्रस्थान कर जाते थे। किसी दिन वे ना जाएँ, तो शॉप में कोई-न-कोई बवाल पैदा हो के रहता था। यहाँ नेता से मुराद हर उस वर्कर से होती थी, जो किसी-न-किसी यूनियन के इलेक्शन में कम-से-कम एक बार जीत गया हो। फिर भले ही वह बराबर चुनाव हारता रहे, मगर उसकी नेतागिरी और काम न करने का अधिकार कोई छिन नहीं सकता था। दरअसल इन लोगों पर अनुशासन का कोई नियम या पाबंदी लागू ही नहीं होती थी।

उन्होंने ध्यान से देखा, चारों-पाँचों नेता गायब थे, मगर डौली फर्श पर पसरा पड़ा था। डौली बहुत दबंग आदमी था, और उसे दौरा चढ़ता तो चीख-चीख कर एक ही बात दोहराने लगता, 'सारे अफसर चोर हैं- सारे-के-सारे अफसर चोर हैं।' चाहे प्रसंग कुछ भी रहा करे, वह अपनी बात इसी तकियाकलाम से शुरू करता था।

वे खुद डौली से बहुत डरते थे, क्योंकि डौली हमेशा अफसरों की दुखती रग पर हाथ रखने का आदी था। दो-तीन बार वह परोक्ष रूप से उनकी बड़ी लड़कियों के बारे में, उनको सुनाकर छींटाकशी कर चुका था। गनीमत थी कि वह उस समय सोया हुआ था। उन्होंने इशारे से कुछ खास-खास लोगों को अपने पास बुला लिया। मगर धीरे-धीरे पूरी शॉप उमड़ आयी। कुछ आँखों में टूटी हुई नौद का खुमार था, तो कुछ में शरारत भरी चमक।

जॉब-ऑर्डर के बारे में बातचीत होने लगी। वे अपने स्वर में ज़रूरत से ज़्यादा चाशनी मिलाकर उन्हें समझा रहे थे। उन्हें क्या, अपने आप को ज़्यादा समझा रहे थे... अगर ये ढाई सौ आइटम का जॉब विलंब से पूरा होगा, तो दूसरी शॉप में काम रुक जाएगा, क्योंकि इन कल-पुर्जों के पहुँचने के बाद वहाँ काम शुरू होना था, एक निर्धारित तिथि को। वहाँ काम रुकने का मतलब सीधे शब्दों में यह कि अगली प्रोडक्शन-मीटिंग में उनकी खाल खींची जाएगी।

जब उन्होंने अपनी बात खत्म की, तो एक तकनीशियन ने कहा, "ये तो सब ठीक है, मगर हम लोग तो काम कर रहे हैं। आप यह सब हमें क्यों सुना रहे हैं?"

उन्होंने चाशनी को पतला करके कहा, "जी हाँ, मैं भी देख रहा हूँ कि आप काम कर रहे हैं। ये बाल ऐसे ही धूप में सफ़ेद नहीं हुए हैं। जॉब-ऑर्डर कितना लेट हो रहा है, यह क्या दिखाई नहीं देता! क्या आप लोग मन से काम कर रहे हैं? बताइए!"

वह तकनीशियन बोला, "काम तन से होता है, साहब! आठ घंटे के लिए तन को बेचते हैं, मन को नहीं। और तन चलता है पेट से। बोलिए, चलता है कि नहीं?"

"हाँ भाई, पेट के लिए ही तो हम सब यहाँ आते हैं।"

"तो जब पेट ही खाली रहे, तो क्या काम होगा तेज़ी से साहब?"

"भाई, तुमको तनख्वाह किसलिए मिलती है! और पेट क्या सिर्फ़ वर्कर के पास ही होता है? हमारा भी तो पेट है।"

"देखिए, तनख्वाह किसी की मेहरबानी नहीं है। खटते हैं, तो पाते हैं।..."

उसकी बात को बीच में ही काटकर एक नौजवान हेल्पर भड़ककर बोला, "अरे तनख्वाह तो आप भी पाते हैं, हजार रुपये से ऊपर ही पाते हैं। जरा बताइए, आप क्या काम करते हैं? सारे दिन हमारे सिर पर चढ़े रहने और ऊपर वालों को तेल लगाने के लिए आपको इतनी मोटी रकम मिलती है! आप हमसे तनख्वाह की बात करते हैं।"

उन्होंने जब्त से काम लेकर उस लड़के को प्यार भरे स्वर में झिड़कते हुए कहा, "बेटे, तुम जब पैदा भी नहीं हुए थे, तब से मैं इस कारखाने में काम कर रहा हूँ- तुम्हारे जैसे मेरे पाँच बच्चे हैं। अब तुम्हें कैसे समझाऊँ कि पूरी जिंदगी झोंक देने के बाद, ये ग्यारह सौ रुपये मेरे लिए क्या हैं! मगर काम नहीं करेंगे, तो कैसे चलेगा।..."

वह लड़का उनके डायलॉग से प्रभावित तो हुआ, मगर फिर जैसे उस प्रभाव को झिड़ककर बोला, "साहब! आप जब से इस शॉप में आए हैं, किसी को एक घंटा भी ओवरटाइम नहीं मिला- तीन महीने हो गए! आपको कई बार कहा गया, मगर कोई असर नहीं। एक कान से सुना, दूसरे से निकाल दिया। अब यह अर्जेंट जॉब फँसा है; जाइए मैनेजमेंट से कहिए, हमारे लिए ओवरटाइम लेकर आइए- जॉब तभी समय पर पूरा होगा!"

ऊपर से सख्त हिदायत आ चुकी थी कि विशेष परिस्थितियों को छोड़कर कहीं भी ओवरटाइम नहीं लगाया जाएगा। यह भी संयोग ही था कि तीन महीने पहले जब उनके पचपन साल पूरे हुए थे, और जब उन्हें इस शॉप में भेजा गया था, तभी यह आदेश भी आया था। यह बात सबकी जानकारी में थी, फिर भी यह ज़िद!

वे बड़े कायदे से, लम्बी-चौड़ी भूमिका बाँधकर वर्करों को समझाने लगे। उन्होंने अपने पिछले सेक्शनो का

हवाला देकर कहा कि वे यहाँ भी अपने वर्करो के लिए मैनेजमेंट से लड़ेंगे और उन्हें प्रमोशनें दिलवाएँगे। ओवरटाइम पर से रोक हटी नहीं, कि वे सबसे पहले इस शॉप के लिए ओवर टाइम लेकर आयेंगे। मगर...

सामने खड़े लोग अर्द्ध सहमति में सिर हिला रहे थे, मगर पीछे खुसुर-पुसुर हो रही थी। किसी ने मशीन के पीछे से कहा, “अबे चमचे, डरता क्यों है, जोर से बोल कि साला लम्बड़ है। ऊपर- वालों के पास जाते नानी मरती है, और यहाँ लेक्चर पिलाता है।...”

डौली उठकर आ गया था, चुपचाप सब देख-सुन रहा था। छुपकर ताना कसने वाले को फटकारकर जोर से बोला, “अबे चल, लम्बड़ को लम्बड़ कहना है, तो सामने आकर कह। चोरों की तरह क्यों छिपा है? ये क्या तुझे खा जाएगा!”

उनका चेहरा तन गया खून की एक घूँट चुपचाप पी गए।

डौली फिर उनको सुनाकर बोला, “अरे, ये ऊपर वालों से क्यों डरेंगे! इनके पास तो चमड़े का सिक्का है, जो हर महफिल में चलता है। जरा टाइम करो इन्हें, फिर देखो, कैसे आता है ओवरटाइम!”

शॉप में बड़ी जोर का ठहाका लगा।

उनको काटो तो खून नहीं। उनका जी कर रहा था कि डौली का मुँह नोच लें, मगर नपुंसक क्रोध की थरथराहट में पत्ते की तरह कंपकंपाते वे तेज़ कदमों से अपने मैनेजर के दफ्तर की ओर बढ़ गए। उन्होंने एक शब्द भी नहीं कहा, मुड़कर देखा भी नहीं। उनके अन्दर धू-धू करके आग जल रही थी। न उन्हें शेष पौने तीन साल नौकरी की परवाह रही थी, न बेटियों के ब्याह की चिन्ता और न ए.सी.आर. की। बस, यह कि कुछ करना है, कुछ... कुछ...

मैनेजर ने छूते ही कहा, “क्या झगड़ा करके आ रहे हो?”

उन्होंने भरसक आत्मसंयम बनाए रखने की कोशिश करते हुए अवरुद्ध कंठ से किसी तरह पूरी बात कह सुनायी। अपमान, अवमानना और बेहद गलीज आक्षेप का असर

होकर रहा- बात कहते-कहते वे रो पड़े। मगर उनके लाल-सुर्ख चेहरे और आँसू भरी आँखों की लगभग पूर्ण उपेक्षा करते हुए मैनेजर ने पैकेट में से एक फिल्टर सिगरेट निकालकर जलायी, और इस सिगरेट जलाने की प्रक्रिया में सोचने का समय पाकर बड़े अन्दाज से कहा, “सक्सेना! तुम वर्कर्स को हैंडिल करना नहीं जानते- इसके लिए बड़े गट्स की ज़रूरत पड़ती है। एनी हाऊ, मेरी सलाह यही है कि इस बार अगर तुम दब जाओगे, तो फिर उठ नहीं सकोगे, उनसे काम नहीं ले पाओगे। तुम्हें अब जरा मजबूती से काम लेना ही होगा।...”

वे उसका इशारा समझ रहे थे- डौली और किसी दूसरे वर्कर के खिलाफ लिखित रिपोर्ट- ओवरटाइम के बगैर काम करने से मना करना, गाली-गलौज और दूसरे वर्करों को उकसाना। अगर वे यह रिपोर्ट लिखकर दे देते, तो उसका सर्पेंशन निश्चित था। बाद में इक्वायरी चलती रहती।

और कोई वक्त होता तो वे टाल जाते, सौ हीले-हवाले करते; लिखकर देना भी होता, तो दस दफे सोचते-समझते। लेकिन उस समय उनमें छटपटाहट थी, कुछ करने की। स्थिति का तनाव उनकी बर्दाश्त से बाहर था, उन्होंने कलम उठायी, तो हाथ काँपने लगा, लिखते न बना। मैनेजर ने डिक्लेट कर नपी-तुली कानूनी भाषा में उनसे रिपोर्ट लिखवायी, दस्तखत करवाए और कहा, “अब तुम देखो, मैं ठीक करता हूँ इनके दिमाग। बहुत दिनों से मैं मौके की तलाश में था कि यह कम्बख्त डौली का बच्चा फँसे। अब इसे पता चलेगा कि क्या नतीजा होता है, लिमिट क्रॉस करने का!”

मैनेजर कारखाने के डायरेक्टर के पास रिपोर्ट लेकर चला गया। वे कुछ देर वहीं बैठे रहे। धीरे-धीरे वे अपने-आपे में लौट रहे थे।

वहाँ से उठकर अपने दफ्तर में पहुँचे, तो एक बुजुर्ग क्रिस्म का तकनीशियन आ गया। उनसे हाथ जोड़कर बोला, “सक्सेना साहब, बुरा मत मानिएगा। ये लोग पागल हैं; डौली तो सबसे ज़्यादा पागल है। आप अभी जाइए, उसके कान पकड़कर दो जूते मार दीजिए। मगर कलम मत चलाइएगा हुजूर!”

उन्होंने भरिये गले से कहा, “रहीम, पिछले तीस साल में ऐसी बेइज्जती नहीं हुई थी। जूते खाने बाकी थे, आज वो

भी हो गया। अब मुझे क्या समझाना चाहते हो? कुछ इंसानियत बाकी बची है, इन लोगों में!”

रहीम ने और ज़्यादा नम्रता से कहा, “सक्सेना साहब! यही मैं समझाना चाहता हूँ कि तीन-चार साल से बराबर ओवरटाइम चलता आया है। सबको हर महीने सौ-सवा सौ रुपये तनख्वाह से अलग मिल जाते हैं। आप तो जानते ही हैं हुजूर, कि इन लड़कों में ज़माने भर की शौकीनी घुस गयी है। ओवरटाइम से ये लोग कुछ-न-कुछ शौक पूरा कर लेते हैं-अलमारी ले आते हैं, डाइनिंग-सेट ले लेते हैं किस्तों में। न हुआ, तो बीवी को एकाध गहना बनवा देते हैं। नहीं तो इस घनघोर महँगाई में खाली तनख्वाह में क्या होता है! यही बात है हुजूर, कि लड़के जरा भड़क गए थे। आप पुराने दयानतदार अफ़सर हैं, इन्हें अपना बच्चा समझकर माफ़ कर दें। और.. हो सके, तो थोड़ा-बहुत ओवरटाइम दिलवा दें। ये सब आपकी जै बोलते नहीं थकेंगे...”

कह-सुनकर रहीम चला गया। उनके मन में आया कि डायरेक्टर के ऑफ़िस में टेलीफ़ोन करके मैनेजर से अपनी रिपोर्ट वापस माँगा लें; मगर इससे तो उनकी बची-खुची साख भी जाती रहेगी। मामला डायरेक्टर तक पहुँच गया होगा। अब वापस लेने का मतलब है, थूककर चाटना। न जाती होगी, नौकरी तो चली जाएगी। और आखिर क्यों माफ़ कर दें? कैसा सलूक किया है उन उजड़ड लोगों ने...

टेलीफ़ोन उनके सामने था, मगर उनका हाथ नहीं उठा।

बहुत देर तक घंटी बजती रही, तो उन्होंने टेलीफ़ोन उठाया। डायरेक्टर के ऑफ़िस से उन्हें सूचना दी गयी कि उनकी शॉप के दो वर्कर्स को सस्पेंड कर दिया गया है- डौली और वह हेल्पर छोकरा।

वे प्रस्तर-प्रतिमा की तरह निर्जीव-से अपनी कुर्सी पर बैठे रहे। शॉप में शोर-गुल बढ़ता जा रहा था।

पाँच बजते ही वे साइकिल-स्टैंड की ओर चल दिए शॉप की तरफ़ देखा भी नहीं उन्होंने। जाने क्यों, जी बहुत घबरा रहा था, बुखार में तपती बिटिया और सेवानिवृत्ति का नोटिस, शॉप में बढ़ता कोलाहल, गालियों की बौछार, मुर्दाबाद, जाने क्या-क्या प्रेतछायाएँ उनके गिर्द मंडरा रही थीं। उनके माथे पर पसीने की बूँदें छलछला रही थीं...

साइकिल हाथ में पकड़े वे गेट से बाहर निकले। उनकी कमीज पसीने से तर थी। बाहर वर्कर्स की भीड़ जमा थी, मगर कोई कुछ नहीं कह रहा था। एक रहस्यमयी ख़ामोशी-सी छायी थी।

उन्होंने सड़क पर आकर साइकिल पर सवार होना चाहा कि पीछे से किसी ने कॉलर पकड़कर खींचा, बहुत ज़ोर से। वे लड़खड़ा गए। मुड़कर देखते कि हवा में एक हाथ लहराया, और उनके हाथ से साइकिल छूट गयी। उनका टिफिन खुलकर खनखनाता हुआ बिखर गया। अब वे ज़मीन पर थे, और उन पर कई हाथ चल रहे थे, “मारो साले को, मार साले को!”

कुछ देर वे युद्ध में मारे गए सिपाही की तरह ज़मीन पर पड़े रहे। उनका चश्मा टूटकर दूर जा गिरा था। साइकिल और छितराया हुआ टिफिन-कैरियर। कुछ देर बाद लोगों ने उन्हें उठाया, डिस्पेंसरी ले गए। मगर ऐसी कोई चोट नहीं थी, जो दिखायी देती। डॉक्टर ने उन्हें घायल होने का प्रमाणपत्र नहीं दिया, लेकिन वे अन्दर-ही-अन्दर कितने घायल हो गए थे, इसका भी अनुमान किसी ने नहीं लगाया।

इस मामले को उन्होंने आगे नहीं बढ़ाया। यूनियन वालों ने सात दिन तक दौड़-धूप करके डौली और दूसरे वर्कर का सस्पेंशन-ऑर्डर वापस करवा दिया।

कीर्तन

मैं घर से तैयार होकर निकला था। बन-ठनकर, चौराहे तक भी न पहुँचा था कि देखा, पिताजी साइकिल पर कीर्तन का सामान लादे चले आ रहे थे। वह अभी कुछ दूर थे। सड़क चूँकि नंगी थी, इसलिए दूर तक साफ दिखायी देता था। उनके कंधे पर मृदंग लटक रहा था। पीछे, कैरियर पर हारमोनियम। वह नीली जीन का झोला हैंडिल पर टँगा था, जिसमें मंजीरे, काँसे का घंटा और लकड़ी का हथौड़ा रखा होता था। मृदंग को एक लाल अंगोछा बटकर दोनों सिरों से बाँधा गया था, कंधे से लटकाने या गले में डालने के लिए।

पिताजी पैदल चल रहे थे। कंधे पर लटका हुआ मृदंग बराबर हिलडुल रहा था और सीधा उनके बदन के साथ डोलता हुआ बड़ा अजीब-सा लग रहा था। लकड़ी के हथौड़े का दस्ता भी बदसूरत नीली जीन के झोले से बाहर निकला हुआ था। यह दृश्य देखकर मैं लज्जित हो उठा।

कॉलोनी में बंगाली कीर्तन जोर पकड़ गया था। यू.पी. वाले भी उसमें शामिल हो गए थे। पहले हमारे यहाँ नियमित रूप से करीब साल भर पंजाबी कीर्तन होता रहा। उसमें कई देवानन्दकट हसीन लड़के आते थे। फ़िल्मी तर्जों पर जमकर गलेबाजी होती। स्वेटर और कमीजों के अच्छे-अच्छे नमूने देखने को मिलते। कीर्तन के बाद दिलचस्प बातों का सिलसिला छिड़ जाया करता था। परन्तु ज़माना बदल गया। पंजाबी पार्टी में फूट पड़ गई। उधर बंगाली कीर्तन की कुछ ऐसी धूम मची कि हर रोज किसी-न-किसी के यहाँ जमने लगा। पिताजी भी उसी रंग में थे। हमारे यहाँ हर मंगलवार को हफ़्ते-के-हफ़्ते कीर्तन होने लगा।

पिताजी सीधे दफ्तर से आ रहे थे। रास्ते में गांगुली दादा के घर से कीर्तन का सामान लिया होगा। बड़े संतुष्ट भाव से आ रहे थे। मन-ही-मन मगन। कॉलोनी भर में वह भक्तराज के नाम से प्रसिद्ध थे। बमुश्किल ड्यूटी और रोज़मर्रा के कुछ ज़रूरी काम निबटाते और शेष समय उपासना-पूजा में व्यतीत करते। उन दिनों उनकी कीर्तनप्रियता सीमा से बाहर होती जा रही थी। कई बार तो वह ऐसी बातें कर बैठते थे, जिन्हें हम लोग सहन नहीं कर पाते थे।

मैंने सड़क छोड़ दी और एक ब्लाक के पीछे को निकल गया। नहीं तो कीर्तन का सामान घर तक पहुँचाना पड़ता। उसके साथ-साथ इस मामले में शिप्रा की गाड़ी निकल जाती और मुझे चौबीस घंटे और इंतज़ार करना पड़ता।

मेरी चाल में मस्ती आने लगी। मेरा खयाल था कि मैं काफी जंच रहा था। मैं अपनी सबसे उम्दा पेंट पहने हुए था। हरे स्टेप वाली बुशर्ट थी। खिलते हुए रूखे बाल। गणेश पनवाड़ी के शीशे में मैंने देखा, मेरा चेहरा चमक रहा था। मैंने सिगरेट ली। उसने मुझे सिगरेट-माचिस थमाते हुए व्यंग्यपूर्वक देखा। मैं घर से छुपाकर सिगरेट पीता था। बस्ती-भर में पिताजी के साधु स्वभाव और सज्जनता की धाक थी। लोग उन्हें बहुत मानते थे, खास तौर पर दुकानदार, यद्यपि वह प्रायः कर्ज में डूबे ही रहते थे। और मैं खूब सिगरेट पीता, रंगबाजी करता, जुल्फें बना-बनाकर निकलता, तो लोगों को तकलीफ होना स्वाभाविक ही था।

छुट्टी वाले दिनों को छोड़कर रोज़ वह शाम वाली गाड़ी से लौटती थी। गाड़ी से उतरकर वह सीधे घर की राह पकड़ती। मैं स्टेशन से उसके पीछे-पीछे घर तक जाता था। यह रोज़ का सिलसिला बन गया था।

हमारी बस्ती में इंटर कॉलेज नहीं था। हाईस्कूल के बाद पास वाले शहर में दाखिला लेना होता था। हम लोग ट्रेन से आते-जाते थे। दुर्भाग्य से टाइम अलग-अलग था। डिग्री की क्लासों सुबह की शिफ्ट में लगती थीं। अतः मैं चार वाली गाड़ी से ही आ जाता था। शाम होते-होते मैं सज-सँवर कर स्टेशन की ओर निकल पड़ता था। पिछले दो-तीन बरस से मुझे उससे प्रेम था, परन्तु उससे खुलकर, जी भर बातें करने

का अवसर नहीं मिल सका था। हाँ, नयनों की भाषा में हम कई बार बातें कर चुके थे।

अक्सर वह सिर झुकाये, किताबें वक्ष पर दबाए चलती रहती। उसकी एक झलक देख पाने के लिए मैं घंटों प्रतीक्षा करता था, परन्तु वह हमेशा इसी तरह गुज़र जाती। कभी-कभी जब वातावरण स्तब्ध होता और पीछा करते हुए सिर्फ़ मेरे क्रदमों की आवाज़ ही सुनाई देती रहती, तो वह एकाध बार मुड़कर पीछे देख लेती। यह एक अजीबोगरीब क्षण होता। उस दिन भी वह अकेली थी। उस दिन मैं तय करके आया था कि उससे हालेदिल कहकर ही रहूँगा। उसने प्लैटफ़ार्म के अन्तिम सिरे को छोड़ते हुए मुड़कर मुझे देख लिया। सूरज अभी पूरी तरह छुपा नहीं था। मुझे लगा कि वह मुसकरा रही है। यह एक नई बात थी। एक नई कामयाबी। वैसे मैं उसे दो पत्र अब तक दे चुका था। एक बार तो पत्र उसके आगे गिरा कर तेज़ी से बढ़ गया था, दूसरी बार उसे काँपते हाथों से दिया था।

सिर्फ़ दो क्रदम आगे वह जा रही थी। उसकी सैंडिलों और मेरे जूतों के स्वर मिल रहे थे। बिजली का तीसरा खंभा भी गुज़र गया। नाला आ गया। यह नाला फ़ैक्ट्री से निकला था। मुझे सहसा पिताजी का ध्यान हो आया। मैं ढीला पड़ने लगा। इतने शरीफ आदमी का लड़का एक लौंडिया को छेड़ रहा था! शिप्रा का भरोसा नहीं। बिगड़ गई तो कल सुबह हर घर में यही एक चर्चा सुनाई देगी।

वैसी हालत में मैं किसी को मुँह दिखाने लायक नहीं रह जाऊँगा। घर पर उस समय कीर्तन हो रहा था। और यह दूसरा कीर्तन चालू हो जाएगा। हो सकता है कि पिताजी जान देने पर उतारू हो जाएँ या सबको छोड़कर घर से भागने का नाटक करने लगें। ऐसा वह दो-तीन बार, माँ से झगड़ा होने पर, कर भी चुके थे।

हम दोनों बिल्कुल अकेले पड़ गये थे। सोचा, आज तो खिसक ही जाऊँ। परन्तु जाने क्या-क्या इरादे करके मैं आया था। मौका सुनहरा था। उस कच्चे, सुनसान रास्ते पर एकदम अन्धेरा रहता। एक बार उसे आलिंगन में कसने की अदम्य इच्छा थी। उसके बाद शायद चुम्बन लेने की भी।

इससे आगे बढ़ने के मैं बेहद खिलाफ़ था, क्योंकि मुझे अपने प्यार की पवित्रता पर नाज़ था। वह अप्रभावित चली जा रही थी।

उसने फिर न तो मुड़कर देखा और न अपनी चाल बदली।

घर पहुँचा, तो आठ बजने वाले थे। मेरा मन तो मरा हुआ था ही, घर में घुसते ही मैं बिल्कुल मुरझा-सा गया। मैं रसोई में पराँटे सेंक रही थी। पिताजी कमरे में दरी बिछवा रहे थे। वह पूजा से निबट चुके थे। मैं दिखावे को एक दफा कमरे में गया। अभी भगवान् की झाँकी सजनी बाकी थी। दरी अभी भी ठीक से बिछ नहीं पायी थी। रोज़ बिछाई जाने के कारण दरी से एक अजीब भबका-सा उठ रहा था। दीवार पर एक नई बेडशीट लगाकर बैक-ग्राउण्ड बनाया जाता था। उसके आगे दो टेबलें मिलाकर रखी जाती थीं, एक टेबल कुछ नीची पड़ती थी। हम लोग चार ईंटें उठा लाते और दोनों का लेवल बराबर हो जाता। अभी यह सब होना था।

मैं रसोई में माँ के पास जा बैठा। भूख लग रही थी। अभी खा लिया, तो ठीक, नहीं तो कीर्तन शुरू होने के बाद देर तक ठहरना पड़ता था। रसोई में कुछ जूठे बरतन एक कतार में रखे थे। मेरे छोटे भाई-बहन खाना खा चुके थे। अक्सर वे लोग देर तक खाना खाते और बहुत शोर मचाते थे। एक-एक पराँटे के पीछे झगड़ा होता था। माँ उन्हें मारती, मैं भी चिल्लाता, परन्तु आज सब चुपचाप खाकर पड़ोस में कीर्तन का बुलावा देने चले गये थे।

माँ ने बिना कुछ बोले खाना रखा। मैं चुपचाप खाने लगा। बच्चे किसी सहमे हुए उत्साह से दौड़ते हुए आये और सीधे उस कमरे में चले गए, जहाँ कीर्तन की तैयारियाँ हो रही थीं। कीर्तन में पिताजी के अति-उत्साह के कारण कई तमाशे खड़े हो जाते थे, इसीलिए सब सहमे हुए थे। सहमी हुई तो माँ भी थी, परन्तु प्रकट में आक्रोश दर्शाने के बहाने अपने को छुपाए थी। जिस दिन कीर्तन होना होता, एक तनाव-सा पूरे घर पर छा जाता था। माँ किसी से सीधे मुँह बात नहीं करती थीं। पिताजी चिल्लाते, गुस्सा होते और कीर्तन का इन्तजाम करते जाते। ऐसे समय मैं घर से कट-सा जाता। कभी सिगरेट

पीने गणेश की दुकान तक चला जाता, तो कभी बाहर किसी चारपाई पर तकिया लगाकर लेट जाता। आते-जाते लोग बड़ी हिकारत भरी नज़रों से मुझे देखते। आलोचना करने लगते।

मैं निरीह बना बैठा खाना खा रहा था। माँ का चेहरा अँगोठी की आँच में दमक रहा था। वह गुस्से में थी इसके कुछ कारण मैं जानता भी था। हम लोग कर्ज से दबे थे। हर महीने तनख्वाह के दिन एक मोटी रकम देनदारी में निकल जाती। राशन-पानी सब उधार आता था। सब्जी वाले और नाई तक के यहाँ हमारा खाता चलता था। मुझे इस व्यवस्था से काफ़ी सुविधा थी। जो चीज़ चाहता, बिना पूछे पिताजी के नाम पर ले आता, क्योंकि घर का सामान अमूमन मैं ही लाया करता था। माँ चाहती थी, उधार लेना बन्द कर दिया जाए। पिताजी इससे सहमत तो होते, और धार्मिक आयोजनों पर बहुत ज़ोर देते। यह एक बँधा हुआ फालतू खर्च था। इसमें तमाशेबाजी भी बहुत थी। माँ की चिढ़न पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी। मेरा छोटा भाई वहाँ आया। पिताजी ने उसे नई चादर लाने माँ के पास भेजा था। वह आकर माँ से चादर निकालने को कहने लगा। माँ के हाथ में चिमटा था। वह उसी को नचा-नचाकर पिताजी को कोसने लगी- अरे, ये हमारे प्राण क्यों खाये जाता है! हमें चैन से जीने क्यों नहीं देता? हमारी छाती पर मूँग दलता है, मूँग! अरे, यहाँ धरी हैं चादरें तेरे बाप ने लेकर! बड़ा आया नई चादर वाला।

पिताजी ने सुन लिया! आँगन में आकर गरज उठे चादर निकालती है, या नहीं?

गुस्से के बावजूद उनका स्वर कुछ दबा-दबा था। माँ ने मौका नहीं छोड़ा- ऐसा नई-नई चादरों का शौक रखता है, तो खरीद क्यों नहीं लेता दस-पाँच! सारी कमाई तो इन रांड-रोहनों में उड़ा देता है। पापी! इन बच्चों के मुँह की रोटी छीन कर तूने उन संड-मसंडों को खिलाई है! भगवान करे, तेरे कोढ़ फूटे!

पिताजी आग होकर भभके- तो क्या तेरे बाप ने खरीदी हैं ये चद्दरें? हरामजादी! कैसी जुबान चलाती है! अधर्मिन! देखता हूँ तुझे... तुझे भी दाने-दाने को तरसाकर

मारूँगा! और लपककर बाहर जाने लगे, जैसे कोई आदमी घर छोड़कर जा रहा हो। यह हम लोगों के लिए उनकी एक परिचित मुद्रा थी! लड़ाई का क्लाइमेक्स। फिर भी मेरे छोटे भाई-बहिन, जो यह तमाशा डरे-डरे से देख रहे थे, जोरों से रोने लगे- बाबूजी! बा... बू... जीऽऽ! घर छोड़कर मत जाओ, बाबूजी। अम्मा... बाबूजी को मना लो... अम्माऽऽ!

बच्चों के जोरों से रोने-चीखने के कारण बाबेला-सा मच गया। पड़ोस के लोग कुछ देर तो जब्त किये रहे, फिर सेन दादा निकलकर आए। बाकी लोग दरवाज़ों पर खड़े हमेशा की तरह देखते रहे। पिता जी सिर्फ अंडरवियर-बनियान में थे। सैंडोकट बनियान से जनेऊ बाहर निकलकर झाँक रहा था। उन्होंने बच्चों को हटाया, धकियाया। सड़क तक पहुँच गए। सेन दादा अपने हाथ की सिगरेट फेंककर लपके। पिताजी उनके पहुँचने पर भागने लगे, परन्तु वे भी उतनी ही तेज़ी से भागकर उनसे लिपट-से गए। और उन्हें खींचकर, समझाते हुए वापस लाने की कोशिश करने लगे। पिताजी रुआँसे स्वर में प्रतिरोध कर रहे थे। उन्हें वापस लाया गया। वह उस समय अर्द्ध-विक्षिप्त-से लग रहे थे।

मेरे सामने इतना सब नाटक हो गया, लेकिन मैं हमेशा की तरह चुप बैठा था। खाना मेरे लिए ज़हर हो गया था। हाथ दबाते-दबाते रुक गए थे। हाथ धोये। किचन की ओर बढ़ा। माँ अँगीठी के पास बैठी फफक रही थी। अंगारों की दहक के वीभत्स उजाले में माँ का चेहरा बहुत स्पष्ट दिखाई दिया। झुर्रियाँ रेशा-रेशा करके साफ़ दिखाई दे रही थीं। मैंने माँ को सहारा देकर उठाया और उन्हें ट्रंकों की कतार तक ले गया। उन्होंने आँसू पोंछते हुए ट्रंक से दो नई चादरें निकालकर मेरे सामने डाल दीं। मैं उन्हें कीर्तन-स्थल तक पहुँचा आया।

इतने में फूफा जी ने आकर साइकिल अन्दर खड़ी की। वह काफ़ी मधुर भाषी, हँसमुख और मोटे आदमी थे। उनके आने से चैन-सा मिला। माँ से बातें करने लगे। मैं हलका हो उठा। माँ को बातें करते देख मुझे लगा, जो कुछ अभी हुआ था, वह एक दुःस्वप्न मात्र था।

और भी लोग आने लगे। बंगाली कीर्तन मंडली के काफ़ी लोग आ गये। वे सब बाहर पड़ी हुई चारपाइयों पर जमते गए। ज़्यादातर लोग सिगरेट फूँक रहे थे और गप्पें मार रहे थे। अन्दर पिताजी अपने काम में जुट गये। मैं एक बार दिखावे के लिए वहाँ गया। झाँकी सज चुकी थी। दीपक तैयार था। देसी घी एक कटोरी में पिघला रखा था। मैं कुछ देर यूँ ही खड़ा देखता रहा। उन्होंने मुझे कोई काम नहीं बताया और न मेरी ओर देखा। मैं सिगरेट पीने के लिए चुपके से बाहर निकल गया। गणेश की दुकान के कुछ पहले ही गुप्ता जी मिले। सपरिवार हमारे यहाँ आ रहे थे। मैंने देखा, लता भी थी और खूब चहक रही थी।

मैं लौटा, तो सब बैठ चुके थे। और लोगों के साथ शिप्रा के बाप को बैठा देखकर मुझे आश्चर्य हुआ। धोती-कुरते में थे और आराम से बैठे थे। उनके माथे पर चर्चित चंदन का लम्बा टीका बता रहा था कि वह भी पूजा-पाठ वाले आदमी थे। औरतें दूसरे कमरे में थीं। लगा, कहीं शिप्रा भी साथ न आई हो। मैंने उड़ती नजर औरतों पर डाली। सब वही हमेशा वाली थीं। शिप्रा नहीं थी। मैं आश्वस्त हुआ। फिर भी उसके बाप को देखकर अजीब सिहरन-सी हो रही थी। मैंने सोचा, किसी तरह इन्हें यहाँ इस कदर प्रभावित कर दिया जाए कि यह मुझे प्यार से घर आने का निमंत्रण दें, परन्तु सिर्फ नमस्ते करके ही रह जाना पड़ा।

पिता जी ने उठकर अगरबत्तियों का एक गुच्छ जला दिया। यह शायद सिगनल था। बंगाली लोग अपनी-अपनी कमीजें उतारने लगे। कमीजें खूँटियों पर टाँग दी गईं। मृदंग वाला अपने काम में लग गया। मेरे छोटे भाई काँसे का घंटा हथियाने के लिए झगड़ने लगे। एक बंगाली सज्जन ने दोनों को डाँटा और घंटा-हथौड़ी कब्जा ली। फूफा जी के हाथ मजीरे लगे, दत्ता हारमोनियम बजाता था।

आखिर में गांगुली दादा आ ही गए। वह फ़ायर ब्रिगेड के अफ़सर थे। सपत्नीक आये थे। आते ही दरबार को उन्होंने साफ़्टॉग प्रणाम किया 'हरि-हरि' कहकर बैठ गये। उन्होंने भी कमीज उतार दी। वह एकदम गोरे-चिट्टे थे। कमीज उतारने पर बहुत अच्छे मालूम देते थे। उनकी त्वचा चिकनी

और रोमहीन थी। छाती पर एक भी बाल नहीं था। हाँ, मुँहों मक्खीकट रखने से वह कुछ अजीब-से ज़रूर लगते थे। उधर उनकी श्रीमती जी भी प्रणाम करके बैठ गई थीं। दत्ता जैसे बहुत आत्मविभोर होकर कीर्तन करने वालों में से था, परन्तु जब भी मिसेज गांगुली आकर बैठती थीं, वह एक नज़र उस ओर ज़रूर डालता था।

अभी कीर्तन प्रारम्भ नहीं हुआ था, फिर भी उपस्थित समुदाय स्पष्टतः विभाजित दिखाई देता था। एक ओर आठ-दस कमीजें उतारे हुए तत्पर लोग थे, जिनकी शक्ति खर्च होनी थी, दूसरी ओर गुप्ताजी, शिप्रा का बाप वगैरह अन्य लोग थे। जो तटस्थ रहते थे, सिर्फ़ श्रोता, सिर हिलाने की सीमा तक ही सीमित। ऐसे लोग दीवार का सहारा लेकर आराम से बैठे थे, अन्दर औरतें बतिया रही थीं। उनका धर्म-लाभ सीधा था। उन्हें कुछ विशेष नहीं करना था। बैठकर धीरे-धीरे फुसफुसाना, अपने-पराये मर्दों को कीर्तन करते देखना, बाद में आरती खूब श्रद्धापूर्वक लेनी, प्रसाद पाना और रात के एक बजते-बजते पुनः सांसारिक हो जाना था। मैंने इस कारोबार से निर्लिप्त रह कर, सबको पानी पिलाने के लिए बाहर एक टेबल पर शीशे के एक दर्जन गिलास मय ट्रे के रखवा लिए थे।

स्वर सबसे मधुर गांगुली दादा का था। कीर्तन वह ही प्रारम्भ करते थे। स्टेमिना के लिए चट्टोपाध्याय और हरिपद मजूमदार विख्यात थे। इन्हीं दोनों के सहारे यह दो-ढाई घंटे का कीर्तन अविकल रूप से चल पाता था। मृदंग वाले ने एक बार जोर के हाथ चलाए और तैयार हो कर बैठ गया। गांगुली दादा ने नेत्र मूँद लिए, ध्यान किया और उठते हुए स्वर में गुरु-वंदना आरम्भ की:

- गुरुब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
- गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः।।

पिताजी भी ध्यानावस्थित हो चुके थे। उनका मोटा, बेसुरा स्वर भी गांगुली दादा के स्वर के साथ गूँजने लगा। यह बेमेल मिश्रण लोगों को पसन्द नहीं आया, किन्तु सब चुप बैठे रहे। स्वरद्वय आगे बढ़ता गया:

अखंड मंडलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्,
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः।

स्वर के गिरते ही सबके हाथ जुड़ गये, गुरु-महिमा में सब डूब गये थे। सहसा स्वर का एक लहरदार झरना फूटा।

श्रीकृष्ण चैतन्य प्रभु नित नंदा,
हरे कृष्ण हरे राम राधे गोविन्दा!

अब पुनरावृत्तियों का सिलसिला चालू हुआ। प्रवाह को नियंत्रित करता था हारमोनियम। गांगुली दादा गाकर प्रथम पंक्ति उच्चारित करते थे। शेष सब प्रत्युत्तर के रूप में आवेग सहित द्वितीय पंक्ति का योगदान देते थे। गति मंद थी। समाँ ठहरा हुआ था। धीरे-धीरे लय और स्वर एक विशिष्ट दिशा में जाने लगे। कीर्तन-नुमा शक्ल उभरने लगी। तेज़ी बढ़ती ही गयी। गेय पद कुछ ऐसा था कि लौटते में 'राधे गोविन्दा' आकर तीर की तरह लगता था।

काँसे का घंटा कुछ खास शब्दों पर बजता था। हारमोनियम और मृदंग की ध्वनियाँ घुल-मिल गई थीं। उन्हें अलग-अलग करके सुनना कठिन था। करीब आधे घंटे तक यही कीर्तन चलता रहा। मैं बैठे-बैठे झनझना उठा। उधर कीर्तनकारों का आनंद माथे पर हलके पसीने की बूँदों के रूप में छलछला उठा था। मैं पानी लाने के लिए उठ गया।

मैं ट्रे में पानी से भरे गिलास रख ही रहा था कि लता आयी और बगैर पूछे ट्रे उठाकर चलती बनी। मैं झुँझला उठा। थोड़ी देर बाद वह खाली गिलासों वाली ट्रे लेकर आयी। मैं तब तक वहीं खड़ा उसके लौटने की प्रतीक्षा कर रहा था।

- सॉरी भाई साहब! उसने धीरे से कहा और गिलास धोने लगी। मेरा गुस्सा उतर गया। लता बहुत भड़कीली ड्रेस पहने थी। मुझे लगा कि वह बच्ची नहीं रही। उसका वक्ष अच्छी तरह उभर आया था। मैं अनुमान लगाने लगा, उसने ब्रेसरी पहनी हुई है कि नहीं। मैंने पहली बार यह अनुभव किया कि वह बेहद खूबसूरत थी- इसके पहले अक्सर उसे फ्रॉक में ही देखा था। इस समय चुस्त कुरते-पजामे में उसकी बदलती सीमाओं के निकट से दर्शन हुए। अच्छा लगा।

गिलासों से ट्रे भरकर मैं अन्दर ले गया। शिप्रा के बाप से मैंने शुरुआत की। उन्होंने पानी का गिलास उठाकर 'थैंक्स' कहा, मैं मानो धन्य हो गया। इस समय उनसे बातें कर पाना असम्भव-सा था। वरना मैं इन्हें थोड़ा-बहुत तो प्रभावित कर ही लेता। चुपचाप लोगों को पानी पिलाता रहा। सब निपट गए, तो ट्रे और गिलास रख आया और कीर्तन में आकर बैठ गया। मैं बाहर चला भी जाता, परन्तु मैं यह नहीं चाहता था कि शिप्रा के बाप पर कोई गलत इम्प्रेसन पड़े। उन्हीं की तरह भक्तिभाव से पूरित-सा बैठा रहा। मैं उन्हीं के पास बैठा था। उनके बालों से कैंथरडाइन की खुशबू छूट रही थी। इसका मतलब था कि शिप्रा भी कैंथरडाइन ही लगाती होगी। मैंने तय किया कि दूसरे दिन कैंथरडाइन की एक शीशी मल्होत्रा स्टोर्स से खाते में ज़रूर लेकर आऊँगा।

पानी की फरमाइश फिर शुरू हो गई थी। आखिर गर्मी का मौसम था। अन्दर भी औरतें पानी माँग रही थीं। बाल्टी का पानी खत्म हो गया था। रात के दस बजे थे। नल चले गए थे। अब पानी की पूर्ति बाथरूम वाली हौदी से ही हो सकती थी।

मैं बाल्टी उठाकर बाथरूम की ओर बढ़ा। बाथरूम आँगन के दूसरे कोने में था। आँगन का बल्ब फ्यूज हो गया था। अंधेरे में बाथरूम जैसे खोया हुआ था। वहाँ भी लाइट नहीं थी। वहाँ का बल्ब निकालकर कहीं और लगा दिया गया था। अन्धेरे में बाल्टी लेकर, मैं अन्दर घुसा। कुछ तो मेरा अभ्यास था। और कुछ हौदी में पानी के तल पर चमक, मुझे असुविधा न हुई। धीरे-धीरे खूँटियों पर लटके तौलिये और कपड़े भी दिखाई पड़ने लगे। जब मैं एक सिगरेट पड़ी थी, माचिस भी थी। सोचा, खड़े-खड़े यहीं दो-चार कस लगा लिए जायें।

माचिस जब से निकाल ही रहा था कि बाहर आँगन में लता की आवाज़ सुनायी दी। वह किसी बच्चे से पूछ रही थी पानी भरने की हौदी कहाँ है? मैंने झट से सिगरेट और माचिस जब में रख ली। दिल धड़कने लगा। वह शायद औरतों को पिलाने के लिए पानी लेने आ रही थी।

लता एक जग लेकर अन्दर आयी। मैं सोच रहा था, कहीं वह अँधेरे में घबराकर वापस न चली जाए, परन्तु वह बड़े विश्वास से आगे गढ़ी। मेरी छायाकृति को देखते ही चौंकने की बजाय धीरे से उसने पूछा-कौन? भाई साहब? और मेरे 'हूँ' कहने के पहले ही वह पास आकर खड़ी हो गई।

मैंने बाल्टी धीरे से नीचे रख दी। मुझे लगा, हमेशा की तरह वह अँधेरे में ही मुस्करा रही है। मैंने निःसंकोच उसे छूकर देखा। वह सीधी खड़ी रही। मैं उसे तो नहीं, परन्तु उसके अंग-अंग को महसूसने को उत्सुक था। मैंने सीधे उस ओर हाथ बढ़ाया। वह साँस रोके खड़ी रही। मैं मन-ही-मन खिल उठा।

हाय, सुन्दर लता! मैंने अपनी मुट्टियों को अच्छी तरह भर लिया था। एक कौतूहल शाँत करने के लिए, जो कई बरसों से मुझसे चिपका हुआ था। वह कँपकँपा उठी उसके मुँह से मीठी-सी आह निकली। वह दोहरी होने का प्रयत्न करने लगी। मेरी कनपटियाँ तमतमा आई थीं। मैंने उसके पूरे शरीर को भरकर ज़ोर से भींच लिया।

उसके हाथ से जग छूटकर गिर पड़ा। हम घबराकर अलग हो गए, परन्तु कुछ ही क्षणों में सहजता फिर लौट आई, क्योंकि कीर्तन अनवरत चल रहा था। कंठ स्वर जैसे बँध चुके थे। मैंने उसे आलिंगन में लेकर चूम लिया। इस क्रिया में इतनी मादकता और सनसनी थी कि मैं उसका अनुमान लगाने में असमर्थ रहा। इसमें जो था, वह था। भरी बाल्टी लिए मैं लौटा। वहाँ, अन्दर महामंत्र चल रहा था।

होरे रामो...होरे रामो...राम रामो...होरे होरे,

होरे कृष्णो...होरे कृष्णो...कृष्ण कृष्णो होरे...होरे!

बार-बार एक जैसा ही नहीं दोहराया जाता था। आरोह, अवरोह और समय के अन्तर से हर बार स्टाइल बदल जाती थी। चट्टोपाध्याय लम्बे चौड़े डील-डौल वाला मर्द था। औरतें कीर्तन के मामले में उसकी काफ़ी तारीफें किया करती थीं। उसकी आवाज़ भी ऐसी ही थी... सौ-दो-सौ पर भारी हो सकने वाली। परन्तु पिताजी का स्वर सबसे बेसुरा था। जोश में गाते भी गला फाड़कर थे। शिप्रा का बाप

भी वहाँ बैठा था। मुझे बड़ी लज्जा लग रही थी। मैं जानता था, अन्दर कई औरतें उनके बेसुरेपन पर हँस रही होंगी। मैं विवश था।

मुझसे एक भूल हो गई थी। जो बार-बार कचोट रही थी- लता को एक बार और वहीं मिलने के लिए बोल आना चाहिए था। उसके स्पर्श ने मुझमें आनन्ददायक उत्तेजना भर दी थी। परन्तु मन नहीं भरा था। उठकर बाहर आया। पानी की बाल्टी अभी आधी से अधिक भरी हुई थी। समझ में नहीं आया, क्या किया जाये। कुछ खाली गिलास भर डाले। परन्तु फिर भी बाल्टी खाली नहीं हुई।

लता बाथरूम की तरफ जा रही थी। उसने एक छोटे लड़के की बाँह पकड़ रखी थी। शायद टट्टी कराने ले जा रही थी। बाथरूम की बगल में ही लैट्रिन थी। लता ने उसे अन्दर बिठाना चाहा, परन्तु वह तैयार न हुआ। अँधेरे से डर रहा था। हारकर वह उसे बाहर दरवाजे के पास नाली पर बिठा आई। मैं बाथरूम की ओर बढ़ा। उसने दरवाजे पर खड़े-खड़े ही मुझसे पूछा- पानी काहे में ले जाऊँ ?

मैंने उसे बाथरूम में रखे लोटे की ओर इशारा किया। हम दोनों ही जैसे लोटा उठाने को अन्दर बढ़े। अन्दर बढ़ा सुख था, नर्माहट, गर्मी और गुदगुदे कसावों का। इस बार उसने कुछ ऐसी शैतानी की कि मैं बहुत बेचैन हो उठा। इतने में उसे बच्चे ने बाहर नाली से ही आवाज़ दी जिज्जीSS! और उसने एक बार लिपटकर मुझे चूमा और भाग गई।

बरामदे में खड़े होकर मैं उसे टट्टी धुलाते देखता रहा। और मन-ही-मन सोचता रहा कि उसके अंग अधिक सुडौल और अधिक मृदुल थे! वह झुककर एक हाथ से पानी गिरा रही थी और दूसरे हाथ से उस लड़के टट्टी साफ कर रही थी। उसके छह-सात छोटे भाई-बहन थे और लगता था वह ऐसी बातों की अभ्यस्त थी। झुकने के कारण उसके कुछ अंग मेरे सामने स्पष्ट थे। लड़का खड़ा हो गया था। धुलाई हो चुकी थी। लता ने फिर हाथ गीला किया और उसके आगे के अंग पर फिराया, मुझे उसकी यह हरकत कुछ अश्लील प्रतीत हुई।

मैंने देखा शिप्रा के बाप जा रहे थे। बाहर निकलकर उन्होंने जूते पहने और एक बार फिर कीर्तन की ओर माथा झुकाकर प्रणाम किया। मैं बढ़कर उनके सामने आ गया।

अच्छा, चलता हूँ! कहकर वह चल दिए। मैं उन्हें छोड़ने दरवाजे तक गया।

इस बार मैं जोश-खरोश से जाकर बैठा। कीर्तन में मेरा मन रमने लगा था। मैं और लता भी तो बाथरूम में कीर्तन ही कर रहे थे। मैंने मन में सोचा और इस कल्पना पर खुश हुआ। बड़े अच्छे स्तर पर महामंत्र चल रहा था। चट्टोपाध्याय ने दत्ता से हारमोनियम ले लिया था और झूमकर गा रहा था। लग रहा था, सब आनंदविभोर हुए जा रहे हैं।

सहसा एकदम-से रंग बदल गया। चट्टोपाध्याय भावावेश में गाते हुए हिचकियाँ लेने लगा था। वह लीड कर रहा था, अतः अन्य लोग भी दोहराते समय अलग-अलग ढंग से, जगह-जगह हिचकियाँ लेते थे। हिचकियाँ मिलजुलकर कीर्तन को एक नयापन दे रही थीं, परन्तु इसमें कृत्रिमता का पुट था। चट्टोपाध्याय बुरी तरह उभर आया था। गांगुली दादा का चेहरा सफ़ेद लग रहा था, उनके नेत्र बन्द थे। पिताजी हिचकियाँ ठीक से ले नहीं पा रहे थे। गला उनका भी रूँधने लगा था। मैं बहुत पीछे छूट गया था। उनसे तादात्म्य बनाए रखने में अपने-आपको असमर्थ पा रहा था। और भी कई लोग पीछे टूट गये थे। कीर्तन बराबर हिचकियों के साथ चलता रहा।

होरे रामो...होरे रामो

राम-ओ राम-ओ...होरे होरे!

हिचकियाँ लेते-लेते कुछ लोग रोने भी लगे थे। गांगुली दादा और पिताजी के नयन-कोरों से आँसू बहने लगे थे। चट्टोपाध्याय लय में था, परन्तु आँखें नम थीं। दो-तीन आदमी फूट ही पड़े। रोते-रोते कीर्तन करने लगे। बाकी ऐसा भाव दिखा रहे थे, मानो छाती पर पत्थर रख कर अपने को सँभाले हुए हों। औरतों की तरफ सन्नाटा था। मर्दों के इस तरह भक्ति-विह्वल होकर रोने की उन पर इतनी ही प्रतिक्रिया हुई थी।

सहसा मुझे लगा कि लता उठकर बाहर गई है।

लता का शरीर मेरे लिये उस क्षण का सत्य था। शिप्रा के आकर्षण में आवारा-से फिरते हुए शायद मैं अपने शरीर से कुछ दूर हो गया था। लता मुझे वापस ले आई। परकीय स्पर्श इतना प्रिय और जगा देने वाला था कि मुझे पहली बार महसूस हुआ कि मैं एक आदमी हूँ... एक भरपूर आदमी!

अपने को रोकने की क्रिया भी चल रही थी, इसलिए सारे बदन का जोर ओठों तक आकर रह गया था। हमारे होंठ बार-बार दबाव में आते। किसी चरमोन्मेष तक पहुँचने की कोशिश में... और वह स्थिति अभी दूर थी। नैसर्गिक चिकनाहट और अवयवों की कोमलता ने मुझे मुग्ध कर दिया था। इसके पीछे उस प्रबल लय का भी हाथ था, जो हमें घेरे हुई थी। एकाएक मैंने अनुभव किया कि लता अपनी उत्सुकता के एकमात्र केन्द्रबिन्दु पर सकुचाते हुए पहुँचकर रह जाती थी। उसकी इस प्यारी उत्सुकता को शांत करने का प्रयास करते समय मैं उदार होता जा रहा था। जैसे कोई सर्वस्व समर्पित करता है, मैंने अपने को समर्पित करते, उसकी उँगलियों में और भी थरथराहट महसूस की।

वह कह रही थी- यहाँ नहीं! कोई और जगह मिलने का वादा करिए, जहाँ आराम से... यहाँ बस...

मैंने सोचने की कोशिश की। कोई जगह समझ में नहीं आई। मैंने उससे कहा कल शाम को स्पोर्ट्स ग्राउंड के पैवेलियन में मिलें! वहाँ बैठकर सोचेंगे।

कितने बजे? उसने पूछा

मेरे मुँह से निकला-साढ़े छह बजे। परन्तु दूसरे ही क्षण मुझे शिप्रा की याद हो आई। अपने पवित्र प्यार की, मैंने झट से समय संबंधी संशोधन प्रस्तुत किया- साढ़े सात बजे। तब तक अँधेरा भी हो जाता है। मौका लगा, तो हम वहीं... कहते समय मैं निश्चित रूप से आवेश में था।

कीर्तन के स्वर वैसे ही आ रहे थे, जैसे आरा मशीन लगातार चलती रहे। बड़ी खरखराहट से भरे स्वर थे। पिताजी

की मोटी और उन्मादित आवाज़ कानों में सनसनाहट-सी पैदा करती थी।

वह बेवकूफ लड़की फुसफुसायी- हाय, कोई देख न ले यहाँ!

महामंत्र-आलाप का एक लम्बा दौर समाप्त हो गया था। वे धोतियों के सिरों से पसीना पोंछते हुए मुख्य कीर्तनकर्ताओं को प्रशंसात्मक दृष्टि से देखते रहे। निश्चित था, इसलिए पल-भर पसीना पोंछने के बहाने वे विश्राम कर रहे थे। पिताजी घुटनों के बल उठंग होकर दीपक में देशी घी डाल रहे थे। फिर उन्होंने नयी अगरबत्तियाँ सुलगा दीं। अब वह भी निश्चितता से पसीना पोंछ सकते थे। परन्तु आयोजक जो ठहरे। जोर से चीखकर दो-तीन नाम एक साथ लेकर उन्होंने हम लोगों को पुकारा। पानी लाने को कहा। सब प्यासे थे। हालाँकि प्यास का स्तर अब भिन्न होता जा रहा था।

मिश्री की डलियों और सौंफ-इलायचियों वाली तश्तरी घूम रही थी। अब इस दौर में गांगुली दादा को सूत्रधार बनना था। चैतन्य महाप्रभु की तरह कीर्तन करते-करते उन्मत्त हो उठना होगा। वैसे कौन, कब और कैसे उस समय नाच उठेगा, यह अभी से अनुमान करना मुश्किल था।

हारमोनियम से सुर उठने शुरू हुए। हवा रुक गयी थी। अगरबत्तियों का धुआँ कुछ ऊपर ठहरकर जमा होता जा रहा था... एक गुबार की शकल में। मेरा जी किया, टेबल फ्रैन को उसी ओर मोड़ दूँ। परन्तु टेबलफ्रैन बंगालियों की गरम पीठों को सहला रहा था। चट्टोपाध्याय ने नसवार की चुटकी ली। दीवार के पास बैठे तिवारी जी खैनी की पीक थूकने के लिए धीरे-से उठकर बाहर चले गये। गुप्ता जी जैसे मुग्ध होकर टेबल पर सजाये गये भगवान् के चित्रों को निहार रहे थे।

मैं जानबूझकर दोनों कमरों के बीच वाले दरवाजे के पास बैठा था। दूसरे कमरे में औरतें थीं। बच्चे सो चुके थे, दरवाजे पर एक परदा अधूरा होकर लटक रहा था। मैं पिछले सब कीर्तनों में देखता रहा था कि कुछ लोग खासतौर पर इस दरवाजे के हिसाब से बैठते हैं। जब कीर्तन में नृत्य

होने लगता था, तो वह भी इस दरवाज़े को ध्यान में रखकर होता था। कुछ औरतें भी आगे सरक आती थीं। और ये औरतें नियमित रूप से कीर्तनों में आती थीं।

लता को जाने क्या सूझा, उठकर वह भी दरवाज़े के पास बैठ गयी... मेरे ठीक सामने। मैं अब बिना तिरछी निगाह किये भी उसे सुविधा से देख सकता था। वह ऐसे बैठी थी, सिर्फ़ मुझे ही देख सकती थी। बाकी सबको परदे ने अपने अधूरेपन में ढक लिया था। लता अर्थभरी निगाहों से मुझे देख रही थी। उसकी दृष्टि में एक खुलापन था। कीर्तन बहुत सावधानी और सौम्यता से चलाया जा रहा था। कंठ रेशमी हो उठे थे। गांगुली दादा झटका ले-लेकर गाते थे। वैसे ही सम्मिलित पुनरावृत्ति होती थी।

‘होरे रामो’ के बाद एक ब्रेक होता था, जैसे हिचकी। फिर दीर्घ ‘हो’ के साथ प्रबल, उत्तुंग स्वर में ‘होर...ए..रामो..’ निकलता था। पिताजी के भारी गले से ‘रामो’ का ‘मो’ इतने फ़ोर्स से निकलता था कि अल्पकालीन विराम भर में वह ‘मो’ ही झंकृत होता था। दूसरा पद भी इसी क्रम में से चलता था। अच्छा-खासा टाइमिंग दिया जा रहा था... पहले दौर वाले समय का लगभग दो गुना लग रहा था, लंबे सफर की कोई गाड़ी रात के अँधेरे में एक चाल से धड़धड़ाती चली जा रही हो।

उधर दीवार के पीछे लगी लता आँखों से इशारा कर रही थी। जाहिर था, उसे वह ‘कीर्तन’ पसंद आ गया था, जो बाथरूम के अन्दर हुआ था। जो भी हो, उसका जी किसी और तरफ़ नहीं लग पा रहा था। मुझे शक हुआ, वह मुझे किसी बात के लिए उत्तेजित कर रही थी। शायद इसलिए कि वह स्वयं भी काफ़ी उत्तेजित थी। मैंने उस ओर से ध्यान हटाने के लिए कीर्तन की ओर रुख किया लेकिन वह मुझे प्रभावित न कर सका।

मेरी दृष्टि कमला चाची पर ठहर गयी। यह अनजाने में नहीं हुआ। यह हमारी चाची तो नहीं थीं, परन्तु घरेलू सामीप्य था। उनमें कई विशेषताएँ भी थीं। जो व्यक्तित्व को अलग कर देती हैं। वह निःसंतान थीं। काफ़ी मांसल। रंग सलोना। लता के प्रसंग ने मुझे इतना उन्मुक्त कर दिया था

कि मैं कमला चाची के अंगों के बारे में अपने से लड़े बिना ही सोचने लगा था। सोचता तो काफ़ी समय से आया था। परन्तु आज कुछ नयापन-सा लग रहा था। सारी कॉलोनी में इतने अधिक कसे हुए अंग किसी भी औरत के नहीं थे। बाद में मुझे मालूम हुआ, उनके बारे में सब यही सोचते हैं।

कमला चाची के यहाँ जब भी मैं गया, मैंने अलगनी या खूंदी पर लटकती ब्रेसरियाँ ज़रूर देखीं। अक्सर आँगन में ही कपड़े सुखाने की रस्सी पर एक आध लटकी रहती। मैं बड़े लालच से उनकी ब्रेसरियाँ देखा करता। मुझे लगता था, कमला चाची की ब्रा काफ़ी बड़ी होगी। औरों के मुकाबले कम-से-कम ड्योढ़ी। वह प्रसन्न मुद्रा में बैठी थीं। उनका चेहरा हमेशा की तरह ताजगी से भरा था। आँखें लता की तरह ही बड़ी-बड़ी थीं, परन्तु अधिक गहरी और कजरारी। वह हर कीर्तन में जातीं। लोग सोचा करते थे, संतान की अभिलाषा इन्हें खींच लाती है। मेरा विचार जाने क्यों इतना गंदा था उनके बारे में। वह शायद धोती उठाकर नाचते मर्दों को बहुत शौक से नहीं देखा करती हों, परन्तु मुझे ऐसा भ्रम था। दरअसल उनका चेहरा ही ऐसा था। उभरे कपोल और हमेशा छायी रहने वाली मुसकान। वह इस समय भी किसी को देख रही थीं।

सहसा मुझे लगा, कमला चाची की आँखें मेरे चेहरे पर फिसल रही हैं। दुस्साहस करके मैंने उनकी आँखों में देखा। घबरा उठा था। मेरा वहम था। उनकी आँखें लता से भी अधिक उत्तेजक ढंग से पेश आ रही थीं। लता धूमिल हो उठी। मन में इतनी बुराई भरने लगी कि क्या कहूँ, यह तो अच्छा हुआ, उसी पल कीर्तन झटका खाकर तीव्र हो उठा।

एक्सिलेरेटर पर पाँव का दबाव एकदम बढ़ उठा था। इसका तुरन्त असर हुआ। आलाप में मादकता घुलने लगी। अब वहाँ बैठे लोगों के लिए उत्तेजित होने के सिवा कोई चारा नहीं था। गांगुली दादा किसी रहस्योद्घाटन की ओर बढ़ रहे थे। सब उनके साथ हो गये। चिर-प्रतीक्षित कोई रहस्य खुलने जा रहा था। रोमाँच होने लगा। कुछ लोग ताल मिलाने में मगन हो गये और कुछ रह-रहकर उचकने लगे थे। पिताजी उचक भी रहे थे, साथ ही ताली भी जोर से बजा रहे थे।

माँ ने मुझे बुलवाया, कहा देखना, तेरे पिताजी कहीं गिर-विर न जायें! कुछ खाया-पिया तो है नहीं...! मैं सहमति में सिर हिला कर चला तो आया, परन्तु समझ नहीं पा रहा था कि इसमें मैं क्या कर सकता था! मैं तो एक दर्शक मात्र होकर रह गया था। करना तो चाहता था... लता के साथ... कमला चाची के साथ। परन्तु क्या कर पाया था? मैंने मजबूर होकर लता का सहारा लेना चाहा। पर लता भी थक गयी थी। और कमला चाची की मादकता, घातक जान पड़ती थी। मैंने लता पर ही आँखों का जोर लगाया।

- कल! जैसे उसने निढाल होकर कहा।

मेरे लिए 'कल' बहुत दूर था। तब तक कुछ करने की ताकत बचेगी भी, या नहीं, मैं नहीं कह सकता था।

इसी बीच मृदंग मेरे उपर छाने लगा। मेरी खुद की थकान इसकी वजह बन गयी थी। मैं क्या करता! दिमाग में नसें सुरसुराने लगीं। स्वर तीव्र होकर कमरे में बुरी तरह भर रहे थे। आवाज़ का नशा था। हर एक को दूसरे की आवाज़ का नशा चाटे जा रहा था। और जब कोई नंगे बदन को चाटने लगता है, तो कैसी सुरसुरी उठती है! खून के साथ मज़ाक होने लगता है।

लम्बी भुजाएँ कमलनाल की तरह फैल रही थीं। मैंने पिताजी की ओर चोर निगाह से देखा। उनकी भी आँखें बन्द थीं। परन्तु वह बेसुध नहीं लग रहे थे। उनकी तन्मयता जिस लय के अधीन थी, वह उनके तन को सर्प की तरह चला रही थी। वह लहर में थे। बदन लहराता था। सरौते की तरह चल रहे जबड़ों की हड्डियाँ उभरकर रह जाती थीं। शब्दों को चबा-चबाकर ब्रेक दिये जा रहे थे, फिर भी लय थमने न पाती थी। ब्रेक लगाने से उसका प्रभाव कई गुना बढ़ जाता था।

चट्टोपाध्याय स्टेयरिंग सँभाले था। उसकी दशा सबसे अच्छी कही जा सकती थी। जाने कैसे दोनों कमरों को अलग करने वाला परदा हट गया था। इतनी महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारी से लदा चट्टोपाध्याय बार-बार आँख खोलकर मिसेज गांगुली को देख लेता था। वह बिल्कुल आगे बैठी थीं। इस समय उनकी नज़र मुक्त भाव से चट्टोपाध्याय के गठे हुए जिस्म पर

ठहरी हुई थी। मैं गौर से थिरकते और लहराते बदन देखता रहा। यदि मैं चाहता, तो बाहर भाग सकता था। इशारा कर के लता को एक बार और बाथरूम में बुला सकता था। बाहर जाकर जेब में पड़ी सिगरेट के कश लगा सकता था। परन्तु मैं जैसे किसी सम्मोहन में बँध गया था। मुझे दो ही चीज़ें उस समय खींच रही थीं, जिनके प्रभाव में कीला हुआ मैं वहाँ जमा था। एक तो कीर्तन की गति और दूसरे कमला चाची की छतियाँ। दोनों में से मैं पूरी तरह किसी एक तक नहीं पहुँच पा रहा था। कीर्तन में मैं लाख डूब जाता, मस्त होकर नाच उठने की स्थिति नहीं आ सकती थी।

मुझे जाने क्यों ऐसा विश्वास था कि मेरी उपस्थिति के कारण पिताजी कुछ-न-कुछ सजग अवश्य बने रहेंगे। अभी तक जितने भी कीर्तन हुए थे, किसी में भी मैं पूरे समय तक नहीं बैठा था। आज तो करीब-करीब शुरू से आखिर तक बैठा था, ठीक उनके सामने।

गांगुली दादा अभी नाच नहीं रहे थे। खड़े थे, और हाथों से अभिव्यक्तियाँ दे रहे थे। मैं खुश था। पिताजी शायद इस कीर्तन में नहीं नाचने वाले थे। साढ़े ग्यारह बज चुके थे। पिताजी का नाचना हमारे लिए संकट का विषय बन जाता था। वह वास्तव में नाचने के अभ्यस्त तो थे नहीं। जोर-शोर से, धोती थामे बिना, फर्श पर उल्टा-सीधा कूदते थे। सिर धुनते और बाल तक नोच डालते थे। अधिकतर लोग ऐसे समय दर्शक बनकर मजा लेते थे। औरतें मुँह छुपाकर हँसती थीं। आँखें मटकाती थीं। कुछ बड़े लड़के अगर कीर्तन में होते, तो इस भद्देपन पर गंदी इशारेबाजी भी करने लगते थे। मेरे मन में क्रोध, रोष और क्षोभ मिल-जुलकर उभरने लगते थे। अन्दर की बदहवासी को मैं आस्थाहीन धार्मिकता के बोझ से दबकर छुपाता आया था। ऐसा लगता कि इस आदमी का बेटा होना और शिप्रा जैसी लड़की से प्रेम करना सिर्फ बदनसीबी है। अभिशाप है। ऐसे में चंद निगाहें ऐसी थीं, जो हमें सहारा देती थीं। फूफा जी, चाचा और मिसेज गांगुली। किसी हद तक कमला चाची भी, इन लोगों की आँखों में पिताजी के उस शुभकर्म के प्रति आदर का स्थायी भाव होता था। ये सब पिताजी की भक्ति-विह्वलता को आदर्श मानते नज़र आते थे।

नाचते गांगुली दादा भी थे, परन्तु उनके पास यह कौशल था, संयम था और यथोचित रूप भी। वह सुन्दर थे। उनका नृत्यमय हो उठना सौन्दर्यबोध कराता था। उनका स्वर मधुर था। पैर हलके थे। पिता जी का इन बातों से कोई मेल न पड़ता था, परन्तु वह जमकर आखिर तक नाचते थे। अन्त में पसीना-पसीना हो जाते, या अचेत होकर गिर पड़ते।

चट्टोपाध्याय के कंठस्वर ने स्थिरता और नियंत्रण की क्षमता एक साथ ही खो दी। अब तो उसका पुलक भरा स्वर नेतृत्व कर रहा था। 'रामो' और 'कृष्णो' के आर्तनाद कई सत्संगी बंधुओं की नयन-कोरों से अश्रुबहाते हुए द्रावक हुए जा रहे थे। मेरे सिवा सब पुलकित थे। धन्य हो रहे थे।

पिता जी खड़े हो गये थे। वह दायें-बायें हिल-हिलकर फुदक रहे थे। अब ताल-बेताल कुछ शेष नहीं था। कुछ और लोग भी फुदकने लगे थे। मेरा ध्यान और लोगों की तरफ गया। पिताजी की धोती की लाँग खुल चुकी थी। वह अस्त-व्यस्त हो चुके थे। जो भी हों, यह दृश्य प्रभावशाली कर्तई नहीं था, बल्कि हास्यास्पद ही था। कुछ लोग इसके बाद होश में आ गये थे। वे समझ गये थे कि इस खेल में धोती खुल सकती है।

औरतों वाले कमरे में झाँकने की मेरी हिम्मत न हुई, परन्तु उधर से हँसने की मंद ध्वनियाँ आ रही थीं, शायद माँ को छोड़कर सब औरतें हँस रही हों। पिताजी मेर की तरह नाचने लगे। फिर उदर को गोल-मोल घुमाने लगे। यह बड़ी वाहियात हरकत थी। निश्चित था कि इसमें चूतड़ मटकते। देखने वालों को ज़रूर मजा आ रहा था। मैं लज्जा से गड़ा जा रहा था। मान मर्यादा को लात मारकर मीरा भी नाची थी, परन्तु वह मीरा थी। पिताजी के इस कर्म से मेरा खून पानी होता जा रहा था। मैं मूढ़ हो उठा था। बेवकूफों की तरह आँख फाड़ कर देखने-समझने का प्रयत्न कर रहा था, जैसे कोई समझ में न आने वाले स्तर की बात हो। परन्तु यह तो हमारी भावनाओं से बलात्कार होने का दृश्य था। मुझे लग रहा था, कोई मेरे सामने ही शिप्रा के साथ बलात्कार कर रहा था... उठकर भागने की इच्छा भी मर गयी थी। अपनी आँखों अपने बाप को पागल होते देख रहा था। मेरी इन तीव्र

प्रतिक्रियाओं के पीछे शायद माँ की पीड़ा छुपी थी। उस महिला के गौरव को बहुत ठेस पहुँची थी। वह बेचारी मुझसे कहीं अधिक मजबूर थीं, इसीलिए जब भी मौका मिलता, पिता जी को खरी-खोटी सुना देती थीं।

कीर्तन कब समाप्त हो गया, मुझे मालूम ही न पड़ा। सिर्फ एक नृत्य-भाव रह गया। पिताजी और गांगुली दादा नाच रहे थे। किसी और ताल पर। कुछ अनोखे भाव उनके चेहरों पर थे। वे पहले से कहीं अधिक मुक्त प्रतीत हो रहे थे। अब महामंत्र के स्थान पर 'निताई! गौरांगो!' सुनायी पड़ता था, या ऐसा ही कुछ दोनों में एक निताई था, दूसरा गौरांगो। कौन क्या था, इस प्रश्न की सीमा से परे, वे आसानी से यह बन गये थे। न तो उन्हें चेहरे ओढ़ने पड़े थे, न आवाजें बदली थीं। उन लोगों का भक्ति-विभोर होने के बहाने अपने परिवेश से कट जाना लोगों को भले ही न अखर रहा हो, परन्तु मेरा जी कर रहा था, कोई सीन क्रिएट कर डालूँ। अपने बाप से अपने को काटकर अलग कर लूँ और उसके अन्य बच्चों को यहाँ बुलाकर पूछूँ- क्यों बे? पहचानते हो अपने बाप को? बताओ, कौन-सा है?

मुझे मिसेज गांगुली का ध्यान आया वह बड़ी प्यासी नज़र आ रही थीं। चट्टोपाध्याय के माँसल पुट्टों का कीर्तन उन्हें धँसा रहा था। उनके पतिदेव नाच रहे थे, या जहन्नुम में जा रहे थे, इससे उन्हें कोई सरोकार नहीं दिखता था। चट्टोपाध्याय की आँखें मुझे लाल-लाल-सी लगीं। उन्मत्त की तरह। इस आदमी के मुँह ज़रूर खून लग चुका था।

पिता जी नाचते-नाचते बाहें फैलाकर गांगुली दादा की ओर बढ़े। गांगुली कुछ दूर पहुँच चुके थे, परन्तु उन्होंने भी बाहें फैला दीं। यह एक चरम परिस्थिति थी। उस कीर्तन की, जो पिछले तीन घंटों से हो रहा था। सब सराहना के भाव से इस मर्मस्पर्शी दृश्य को देख रहे थे। लगता था, अभी-अभी निताई और गौरांग, दोनों पात्र एक-दूसरे में समा जायेंगे। सुखांत नाटक की तरह।

सहसा अधबीच में ही पिताजी लड़खड़ाकर गिर पड़े। शीशे की तरह गिरकर कीर्तन टूट गया, जैसे वही इसके सूत्रधार थे। सब सन्न रह गये। कोहराम मच गया। हम लोग दौड़े।

फूफाजी ने उनका सिर अपनी गोद में रख लिया और अखबार से पंखा झलने लगे। मुझेसे बोले-दौड़कर पानी लाओ, देख क्या रहे हो! मैं लपककर गया और पानी का गिलास भरकर ले आया। पिताजी सीधे पड़े थे... लंबे-के-लंबे। जनेऊ ढीला होकर लटक रहा था। मैंने गिलास फूफा जी को पकड़ा दिया। गिलास पकड़ने के बाद मुझे लगा, मैं चीखना चाहता था। मैं सबको गालियाँ देने पर उतारू हो रहा था। यह सब, लंबा नाटक, मुझे अच्छी-खासी हरामजदगी महसूस हो रहा था। परन्तु मैं कुछ भी नहीं कर पाया।

अँगोछे से पिताजी का चेहरा पोंछने नीचे झुका, तो देखा, उनका मुख लाल हो रहा था। साँस धौंकनी की तरह चल रही थी। परन्तु पीड़ा या यातना का कोई भाव उनके मुख पर नहीं था, बल्कि एक भोलेपन की सहज मुद्रा चिपकी हुई थी। मैंने पसीना पोंछने के पहले झूकर देखा, उनका बदन गर्म था। मुझे उनके अचेत पड़े शरीर से देसी घी, पसीने और अगरबत्तियों की मिली-जुली खुशबू आती महसूस हुई। धीरे से पिताजी ने आँखें खोलीं। सामने मुझे देखा। प्यार से मेरा नाम लिया। मेरा हाथ पकड़कर अपनी छाती पर दबा लिया और रोने लगे।

उनकी लगभग दयनीय अवस्था और विवशता पर मैं कातर होता जा रहा था। पत्थर बना बैठा रहा। फूफा जी बराबर भाई साहब। भाई साहब! कहते हुए उनकी पीठ पर हाथ फेर रहे थे। मुझे लगा, वह मेरी भी पीठ सहला रहे हैं, कुछ देर बाद पिताजी उठ बैठे। वह तनिक भी लज्जित नहीं थे। उलटे उनके चेहरे पर परम तृप्ति थी। वह फिर व्यस्त हो उठे। आसन पर बैठकर उन्होंने अगरबत्तियों के पैकेट से कुछ अगरबत्तियाँ निकालीं और जलाने लगे। हाथ से झपककर उन्होंने बत्तियों की लौ को शांत किया। अगरबत्तियाँ खुशबूदार धुआँ बिखरने लगीं। आरती होनी थी। उन्होंने मुझसे कपूर ले आने को कहा। मैं कपूर लेने अंदर गया, तो देखा, माँ ज़रा भी घबरायी हुई नहीं थी। वह कमला चाची से बातें कर रही थी। मुझे अच्छा लगा। लता दीवार से टिककर सो गयी थी। उसकी माँ उसे हिलाकर आरती के लिए जगाने लगी। उसके जागने के पहले ही मैं पिताजी के पास पहुँच गया।

लोग प्रसाद ले-लेकर चले गये। मुझे लेटने की इच्छा हो रही थी। बाहर चारपाई पर जाकर पड़ गया। उधर लता बिना मिले चली गयी थी। कल के प्रोग्राम के बारे में उससे कन्फर्म नहीं कर पाया था। उसके साथ कीर्तन तो जोरदार हो गया था, परन्तु प्रसाद अभी बाकी ही था।

कमला चाची रुकी हुई थीं। उन्हे खाना हमारे यहाँ ही खाना था। रात में जाकर कहाँ पकातीं। अंदर किचन में स्टोव भरभरा रहा था। माँ, पिताजी और कमला चाची खाना खा रहे थे। बच्चे सब सोये पड़े थे। सोचा, मैं भी अंदर से बिस्तरा उठा लाऊँ, परन्तु अलसाया हुआ ऐसे ही पड़ा रहा।

माँ ने अंदर से आवाज़ दी कमला चाची को छोड़ने जाना होगा। मैं उठा। अंदर से टार्च लेकर आया। आँगन में खड़े सब लोग बातें कर रहे थे। कमला चाची अपने घर पर कीर्तन करवाने के लिए पिताजी से कह रही थीं। मुझे याद आया, उनके पति की नाइट शिफ्ट है, नहीं तो कम-से-कम लेने के लिए तो आते ही। उन्हें कीर्तन वगैरह में कोई दिलचस्पी नहीं। कमला चाची ही संतान-प्राप्ति के चक्कर में पूजा-पाठ करतीं और कीर्तन करवाती हैं। वह अपने अकेलेपन के बारे में बताती रहीं। कॉलोनी में पिछले दिनों हुई चोरियों के बारे में भी चर्चा चली। वह सहमी-सहमी लगने लगीं।

पिता जी ने मुझे रात में उनके यहाँ ही सोने का आदेश दिया। कई बार ऐसा हो चुका था। माँ ने हमेशा की तरह टालना चाहा, परन्तु वह कुछ कह न सकी। मैं नाइट सूट ढूँढ़ने अंदर चला गया। जाने क्यों। मुझे लता की याद आने लगी थी, शायद इसीलिए कुछ नयापन अनुभव हो रहा था.. . सोने के लिए उनके यहाँ जाते हुए। मुझे चाची का आँगन याद आ रहा था। हमेशा सूखने के लिए लटके हुए ब्रेसरी-ब्लाउज...

रात खासी चाँदनी थी। रास्ते भर मैं खामोश था। चाची भी चुप थीं। उसी खामोशी के साथ चाची ने मेरा बिस्तर लगाया... हमेशा से कुछ ज़्यादा साफ। चाची का बिस्तर बरामदे में था और मेरा कुछ नीचे आँगन में। आँगन चहारदीवारी से घिरा हुआ था।

चारपाई पर लेटते हुए मुझे महसूस हुआ कि घर मसालेदार गंध से भरा हुआ है। उन दिनों आम का अचार पड़ने के दिन थे। चाची के यहाँ तो एक-एक चीज़ के कई-कई तरीके से अचार डाले जाते थे। दरी-चादर भी उसी गंध से महक रहे थे। फिर सोचा, चाची का बदन भी ऐसे ही महकता होगा। पर बात ऐसी नहीं थी। उनके साथ चलते हुए मैंने पसीने की पकी गंध महसूस की थी। नज़र सामने टँगी रस्सी पर पड़ी। सचमुच एक ब्रेसरी उस समय भी वहाँ लटकी हुई थी। मुझे लगा, इस दिन बदली जाने वाली यह चौथी और आखिरी ब्रेसरी होगी।

कमला चाची गुमसुम थीं। शायद थक गयी हैं। मैंने सोचा। उनकी तरफ करवट लेकर देखा। वह एक घुटना मोड़े लेटी थीं। शायद उन्होंने जान लिया कि मैं उनकी तरफ देख रहा हूँ। मेरी ओर करवट लेकर बोली क्यों, सोये नहीं ?

नींद नहीं आ रही।

आनी भी नहीं चाहिए। हलका-सा हँसी, फिर बोली-आज तुम्हारे यहाँ खूब जमकर कीर्तन हुआ!

आप कब करवायेंगी ?

अरे, यहाँ है कौन करने वाला! तुम्हारे चाचा तो नाइट ड्यूटी पर रहते हैं! फिर वह हँस दीं। पहले तो मैं चुप रहा, फिर एकाएक हँस दिया। वह सहसा बोल उठी- तुम

अभी बहुत छोटे हो... तुम्हारे पिताजी जैसा आदमी मिलना मुश्किल है... अवतार हैं, अवतार!

मेरी संपूर्ण चेतना भड़क उठी। पसीने से तरबतर और गंधाती हुई पिताजी की अचेत देह की याद करके मैं सिहर उठा। सहसा पिताजी दानव की भाँति विशाल होकर खड़े हो गये थे। उस आँगन की चहारदीवार आड़ बनने में असमर्थ हो उठी।

मैंने चाची का चक्कर छोड़कर लता के बारे में सोचना शुरू कर दिया। वह टिक नहीं पायी। शिप्रा के बारे में सोचना भी पाप लगा। चाची अपनी ही रौ में कहे जा रही थीं- तुमने देखा, कीर्तन करते-करते उन्हें! हम लोग क्या हैं, उनके सामने!

फिर पिता जी! मैंने करवट बदलनी चाही, लेकिन यह उतना आसान नहीं था। वह फिर बोली-कीर्तन में आनंद बहुत आता है। फिर कुछ रुककर उन्होंने पूछा- और तुम्हें ?

मुझे कीर्तन कौन करने देता है!

क्यों ? हमारे यहाँ करो! वह कहती-कहती उठकर मेरी चारपाई पर आ बैठीं। पसीने की तीसरी किस्म, पकेपन से भरी-भरी, मेरे चारों ओर छा गयी। मैं फिर कीर्तन की लपेट में आ गया।

चोखेर बाली

पूरी तरह भर चुकी तो सीटी देकर चल पड़ा फेरी बोट। हावड़ा ब्रिज की छाया में। समांतर। बहुत-से, अपने ही खयालों में डूबे लोगों की तरह मैं भी रेलिंग पकड़कर देख रहा था गंग लहरियों को। यहाँ आकर जाने क्यों उसका नाम हुगली हो जाता है। होता रहे, मेरे लिए तो वह गंगा ही है, पतित पावनी। लहरों के उद्वेलन में वही सम्मोहन, वही रहस्यमय मौन आमंत्रण! मैंने सोचा। कुछ देर तक आगे होने वाली दुश्चारियों को भूल गया। जो उस पार पहुँचकर होने वाली थीं।

स्ट्रैंड रोड। गाड़ियों की भागम-भाग। बगल में एक पार्सल दबाए खड़ा मैं-कबिरा खड़ा बाजार में, लिए लकूठिया हाथ। एकदम अजनबी हो गया था मैं। अब किधर जाऊँ, मैं कहाँ जाऊँ! रोज़ जिस दिशा में जाता था, आज उससे विपरीत दिशा में जाना था। एक बस पकड़नी थी, जिसका नंबर मुझे मालूम था। मुझे यह भी मालूम था कि बस से कहाँ उतरना है, फिर बाएँ हाथ, सी.आई.टी. रोड पर मुड़ने वाले रास्तों को गिनते हुए चलना है। चौथी लेन में सीधे चलकर इन्द्रलोक अपार्टमेंट्स, तीसरी मंज़िल पर फ्लैट नंबर थ्री ए। बस इससे आगे सोचने में ही हिम्मत जवाब दे गई।

‘ओ छड्डु यार! चल कैमक स्ट्रीट, अपने रीजनल आफिस में। वहाँ न तो जाते हुए कुछ अजनबीपन लगेगा, न ही पहुँचकर। कामकाज और सिंह साहब की लच्छेदार बातों और ठहाकों में दिन कट जाएगा और फिर रंगीन शाम का संरजाम हो सकता है। कहाँ जा रहा है।’ मैं खड़े-खड़े सोचता रहा, मेरा दिल तेज़ी से धड़क रहा था। ‘इस उम्र में दिल की धड़कन को काबू में रखना चाहिए!’

‘चाहे जो हो, मुझे जाना है। कोई पूछेगा, आप कौन ? जवाब दूँगा, मियाँ फजीहत। मैंने बगल में दबे पार्सल को महसूस किया और दयनीयता में डूब गया। तभी कयामत की तरह वह बस आ गई। मेरे पाँव ठिठके कि पीछे से धकियाते हुए किसी ने कहा, ‘ढुकिए ना। ढुकिए बस में.’ मैं अजनबी और हिन्दी भाषी हूँ, यह उसने पीछे से मेरा हुलिया और हाल देखकर जान लिया था।

बस में एक भी चेहरा पहचाना हुआ नहीं था। मुझे पर अजनबीयत तारी होने लगी थी कि लाजेंज-लाजेंज करता एक लड़का, भीड़ को चीरकर मेरे सामने आया। उसके हाथ में एक शीशे या प्लास्टिक का मर्तबान था जिसमें रंग-बिरंगी, चपटी और बड़ी मीठी गोलियाँ थीं। माँगने पर एक चम्मच से निकालकर देता था। एक टाका, एक टाका। मुँह में लाजेंज रखकर कुछ राहत-सी मिली। मिठास और खुशबू। बस एक झटके से रुकी। रोड जाम, लाजेंज धीरे-धीरे घुल रही थी। स्ट्रैप को पकड़कर लटकते हुए मैंने आँखें मूंद लीं। मुझे पहुँचने की कोई जल्दी नहीं थी। लगा रहे जाम।

चालीस बसंत हैं बीच में। एक सरकारी कॉलोनी में सरस्वती पूजा का प्रातःकालीन पुष्पांजलि दृश्य। पूजा मंडप में ढाक की गूँज और ताल पर धूम्र अर्चना नृत्य चल रहा है। हाथ में सुलगी हुई नारियल जटाओं से भरी चिलम लेकर नाच रहे हैं कुछ प्रवासी बंगाली किशोर। पूजार्थियों के गोल घेरे में, मैं सिर्फ उसे देख रहा हूँ। वह लाल बार्डर वाली पीली, केसरिया साड़ी पहनकर स्कूली लड़की से एक बाँकी युवती बन गई है। सिर्फ एक दिन के लिए। मैं छोकरा ही रह गया हूँ। कभी-कभी वह क्या करती है कि आँखें नृत्य से हटाकर मेरी दिशा में देखती है और अचानक मेरी चोरी पकड़ लेती है। दृष्टिपथ एक होते ही एक टकराहट-सी होती है। काँसे का कटोरा गिरने पर जैसी झन्नाहट होती है, ठीक वैसी। मैं घबराकर नज़रें हटा लेता हूँ। सरस्वती प्रतिमा पर देखकर फिर घबराहट होती है। ठीक वैसी ही आँखें। मैं कहाँ जाऊँ ?

“नामबेन, दादा नामबेन। सी.आई.टी. क्रासिंग”, कंडक्टर की आवाज़ मुझे कोंचती है और मैं नीचे सड़क पर। चलो दिलदार चलें, चाँद के पार चलें।

‘अरे यहाँ की तो हवाओं में खुशबू है। कुंड में जलती हवन सामग्री-सी गंध। तन मन को पावन स्पर्श कराती जैसे कोई पूजापंडाल हो। या, मेरी सिर्फ खामखयाली है। अरे बुड़बक, सँभल कि यह कलकत्ता है। नहीं, कोलकाता’। मेरे दिमाग में हलचल मची थी।

उस उधेड़बुन में बराबर चलता चला गया। चौथी लेन-सीधे जाकर इंद्रलोक। सीढ़ियाँ चढ़कर तीसरी मंजिल। फ्लैट श्री ए के सामने पहुँचकर तंद्रा भंग हुई। सामने प्रवेशद्वार के बीचोबीच दो कमनीय हाथ जुड़े हुए थे- वेलकम। यह पोस्टर मैंने अपने शहर के कुछ दरवाज़ों पर भी देखा था मगर यहाँ कुछ जुदा क्रिस्म का था। उन जुड़े हुए हाथों में शंख की कलात्मक चूड़ियाँ थीं। मैं फिर गंध से घिरने लगा था। लगा जैसे मत्स्यगंधा वहीं कहीं रहती हो। क्या शांतनु ऐसे ही ढूँढ़ते हुए आता था। दूसरे ही क्षण अपनी कल्पना पर हँसी छाई, खुद से कहा, यह कोलकाता है। यहाँ मत्स्यगंधा कोई दुर्लभ अनुभूति नहीं है।

सामने पुकारने वाली घंटी का बटन था। लेकिन हाथ उठ नहीं रहा था। कंधे से लटका यूँ ही झूलता रहा। हाथ और रहस्यमयी-सी इस घंटी के बीच दशकों का फासला था। मुझे लगा कि बस बहुत हुआ। अब लौट चलना चाहिए। बगल में वह पार्सल न दबा होता तो शायद मैंने यही किया होता। विनायक ने कहा था, ‘अच्छा हुआ तुम कलकत्ता जा रहे हो। मुझे अपनी बहन के लिए कुछ सामान भेजना था। तुमसे मिलकर उसे अच्छा लगेगा। जीजा जी के नहीं रहने के बाद वह बच्चों के साथ रह रही है। बहुत लायक हैं मेरे भानजे। एक बार उनसे मिलकर आना। बहन आना चाहे तो साथ लेते आना। कुछ दिन यहाँ रह लेगी।

सामने दरवाज़ा था। मुझे लगा कि यह दरवाज़ा हमारे बीच हमेशा रहा है। और बंद ही रहा है। एक युग बीत गया। ऐसा नहीं कि मैं दस्तक देता तो भी यह बंद रहता। शायद खुलता, थोड़ा बहुत ही सही। लेकिन मैं उन दिनों साहस नहीं जुटा सका।

उस क़स्बे में सिर्फ़ हाई स्कूल था, आगे की पढ़ाई के लिए, ट्रेन से पास के एक छोटे शहर जाना-आना होता था।

मैं और विनायक उससे एक क्लास आगे थे। वापसी में मैं अक्सर विनायक को छोड़ने उसके घर तक जाता। चातक-सी आस लिए जो कभी-कभी पूरी हो जाती। और क्या थी वह मेरी मासूम-सी आस सिर्फ हसरते दीदार। कभी-कभी वह अपनी सचमुच बड़ी-बड़ी आँखों से सीधे मेरी आँखों में देखती। एकदम निर्भीक होकर और मैं सहमकर आँखें झुका लेता। शायद कान की लवें लाल सुर्ख हो उठती होंगी। हाई स्कूल के बाद वह भी ट्रेन से जाने लगी। कई लड़कियों के साथ वह ट्रेन में चढ़ती-उतरती। विनायक की वजह से मुझे अत्यधिक सतर्क और यथासंभव दूर रहना पड़ता। उसे देखते ही मुझे लगता कि मैं (भाप वाला) रेल का इंजन हूँ जो ट्रेन छूटने का समय होने पर बेचैन होकर बहुत तीखे क्रिस्म की सीटी बजाता है और निष्प्रभ रहने पर अत्यधिक दबाव सह रही भाप का एक ऐसा फव्वारा छोड़ता है कि दूर-दूर तक हवा नम हो जाती है।

एक बार, विनायक बीमार था और जनवरी की लगभग खून जमा देने वाली सर्दी थी तो मैंने एक पत्र लिखा। रचनात्मक ऊर्जा का प्रथम स्फुरण। उसका प्रैक्टिकल एग्जाम था इसलिए देर होनी थी। शाम की गाड़ी से हम आए। मैं उसे घर तक छोड़ने के लिए साथ चला। उसका घर सबसे दूर था। सहेलियाँ एक-एक करके जुदा होती गईं। जब हम उस खून जमा देने वाली सर्द शाम में सड़क पर अकेले हमकदम हुए तो मैंने अपनी जेब से वह पत्र निकाला। हथेलियों में छुपाए हुए। उधर जाने कहाँ से चाँद निकल गया।

प्रैक्टिकल कैसा हुआ? साल्ट कौन-सा आया? एग्जामिनर क्या चालाकी करते हैं? यह सब वार्तालाप हो चुका था। मैंने चुप्पी तोड़ते हुए भराए गले से कहा, 'शिप्रा!' वह चलते-चलते रुक गई। उसने अपनी बेज़रूरत बड़ी-बड़ी आँखों से मुझे देखा और मेरे अंतःकरण में लानतों की बरसात होने लगी। पत्र मेरी मुट्ठी में भिंचा था। उसने बड़ी उम्मीद से मुझे देखना जारी रखा मगर मेरे रोम-रोम से ग्लानि द्रवीभूत होकर रिस रही थी। मेरा खून बर्फ की तरह ठंडा हो गया। हम फिर चल पड़े। उस समय मेरा दिल चीख-चीखकर कुछ कह रहा था और मुझे ऐसा लग रहा था कि वह सुन पा रही है।

अब वह बंद दरवाज़ा फिर मेरे सामने है। मुझे बहुत तीव्र अनुभूति हो रही थी कि पुश बटन दबाने पर जब वह बंद

दरवाज़ा खुलेगा तो सहसा जीवन की एक कड़वी सच्चाई से रू-ब-रू होना पड़ेगा। मन के डार्क रूम में महफूज एक चित्रों से भरी फोटोफ़िल्म सहसा उजाले में एक्सपोज हो जाएगी। उसमें संग्रहित छवियाँ तिरोहित हो जाएँगी। हमेशा-हमेशा के लिए।

भारी हृदय से मैंने उस घंटी के बटन की ओर अपना हाथ बढ़ाया।

एक संगीत लहरी मत्स्यगंध वाले वातावरण में तैरने लगी।

प्रतीक्षा, कुछ और प्रतीक्षा।

एकदम स्तब्ध वातावरण।

और फिर, दरवाज़ा खुला।

सहसा दरवाज़ा खुलने की आवाज़ हुई। थोड़ा-सा खुला। एक झिरी भर।

-के?

झिरी के बीचोबीच एक स्टील की मजबूत चैन चमक रही थी। महानगरों में बरती जाने वाली सावधानी। अपने पर झुँझलाहट हुई, फ़ोन करके आना था। सच तो यह था कि फ़ोन करने की हिम्मत ही नहीं हुई थी। जाने कौन उठाए फ़ोन... प्रशांत या सुशांत, गिन्नी (बहू) या कोई मेड सर्वेंट।

'के आछे?'

कोई बतलाए कि हम बतलाएँ क्या!

'मैं प्रसून... प्रसून शर्मा विनायक का स्कूल मेट।'

'अच्छ-अच्छ आप आ गए। एक मिनट... खोलती हूँ' चैन हटी तो दरवाज़ा खुला। अब वह सामने खड़ी थी। चौखट के बीच फ्रेम की गई तस्वीर-सी।

दोनों ठगे से रह गए। क्या सितम ढाया है कमबख्त वक्त ने।

'ओ माँ' आँचल से होंठों को दबाकर उसने कहा, 'आप कितना बदल गए हैं प्रसून दा!' वह हैरानी से मुझे देखे जा रही थी।

मैं भी लगभग यही कहना चाहता था परंतु खामोश रहा। विश्वास नहीं हो रहा था कि सामने किंचित दोहरे बदन की गौरवर्णा संभ्रांत प्रौढ़ महिला खड़ी है वह वही दो चोटियाँ गूथने वाली तन्वंगी है जिसकी एक झलक पाने के लिए जाने कितनी आवारा शामें कुर्बान हुईं। देखता रहा घनी केश राशि में चमकते चाँदी के तारों को। शंख की रंगत वाले मुखड़े पर सूक्ष्म मकड़जाल को। बड़ी-बड़ी आँखों के गिर्द सियाही को। ऊँची नाक और सूखे ओठों को।

वह हैरानी से उबरी, “अंदर आइए ना। तीन दिन पहले दादा ने आपके आने के बारे में बताया था। तब से ही मैं... हम सब इंतज़ार कर रहे थे। आज सुबह प्रशांत और उसकी बहू बोकारो जाने लगे तो मैंने कहा, प्रसून दा क्या आएँगे अब! शायद वापिस चले गए हों।”

मैं उसके पीछे-पीछे बैठक में पहुँचा। बगल में दबा पार्सल शीशे के टॉप वाली छोटी मेज़ पर रखकर सोफे पर बैठ गया।

वह एक खूबसूरत ट्रे में क्रिस्टल के गिलास में पानी लेकर आई।

‘आप कहाँ ठहरे हैं? एक बार फ़ोन करके बता देते तो प्रशांत ले आता जाकर। उसके पास गाड़ी है।’

‘हावड़ा स्टेशन के पास एक होटल में ठहरा हूँ। आफ़िस के काम से आया हूँ। आते ही इतना बिजी हो गया कि फ़ोन करने का भी मौक़ा नहीं मिला। सोचा काम निपट जाए तो तुम लोगों को सरप्राइज़ दूँ।’

‘क्यों, होटल में क्यों? यह घर नहीं है आपका। हमारे लिए जैसे विनायक दादा वैसे आप... अच्छा बताइए क्या लेंगे, चाय या कॉफी?’

‘ज़रूरी हो तो चाय ठीक है। विनायक ने यह पार्सल आपके लिए भेजा है। कहा है शिप्रा आना चाहे तो साथ ले आना। चलना हो तो बताइए मैं वापसी का रिज़र्वेशन आज कराने वाला हूँ।’

‘कब जाना है आपको? अभी कुछ दिन रुकेंगे नहीं?’

‘नहीं, ज़्यादा नहीं रुक सकूँगा। हद-से-हद परसों तक। यहाँ कौन-कौन हैं आपके साथ?’

‘बड़ा बेटा प्रशांतो है, उसकी पत्नी है और एक लाइली बिटिया है जिसका नाम है कुमकुम। छोटा सुशांतो आई.आई.टी. गुवाहाटी में पढ़ रहा है। बस यही है मेरी दुनिया। आप यह एलबम देखिए, मैं आपके लिए चाय बनाकर लाती हूँ। वह पानी वाले गिलास को ट्रे में उठाकर चली गई।

मेरी नज़र सामने दीवार पर एक सुदर्शन पुरुष की फ़्रेमजड़ित फ़ोटो पर पड़ी जिस पर चढ़ी माला के फूल सूख चुके थे। मन में एक टीस-सी उठी।

कुछ एकदक निजी एलबम होते हैं। दूसरों के लिए अदृष्ट। मेरा भी है।

कड़ाके की सर्दी की कोहरे में लिपटी हुई एक शाम। ट्रेन से उतरकर देखा कि फ्लैटफ़ार्म का वह छोर नज़र नहीं आ रहा था जिधर से वह जाती थी। उस रोज़ कोई सहेली भी नहीं थी। इंटर के तुरंत बाद विनायक इंजीनियरिंग की पढ़ाई करने रुड़की चला गया था।

मैंने उससे कहा, ‘चलो तुम्हें घर तक छोड़ आऊँ।’ चुपचाप वह साथ चल पड़ी।

दोनों तरफ़ पेड़ों से घिरी बंगलों की तरफ़ जाने वाली सड़क पर हम कदम ताल करते चले जा रहे थे। शायद वह मौसम का सबसे ठंडा दिन था। ग़ज़ब की ठिठुरन थी मगर मैं उससे बेपरवाह अपनी ही उधेड़बुन में। उसने ऊनी चेस्टर पहन रखा था और चुनरी मुँह के गिर्द लपेट रखी थी। एक-एक करके लैंप पोस्ट गुज़रते जा रहे थे और मेरे अंदर जबरदस्त हलचल मची थी। बार-बार कोई कान में मंत्र फूँक रहा था-ऐसी खुशनुमा शाम फिर आए ना आए, कह दो। सचमुच मुझे कुछ कहना था, बहुत कुछ, जाने कितने दिनों, महीनों, बरसों से।

ऐसी स्तब्धता व्याप्त थी कि किसी पेड़ से सूखा पत्ता गिरा तो उसकी आवाज़ हमने साफ़-साफ़ सुनी। मुझे लगा कि सामने वाला लैंप पोस्ट रहस्यमय इशारे कर रहा है। मैंने बड़ी उम्मीद भरी नज़रों से शिप्रा की ओर देखा। वही मुझे कशमकश से उबार सकती थी। आसानी से। लेकिन वह अपनी ही दुनिया में खोई थी।

‘क्यों विनायक का क्या हाल है? जल्दी-जल्दी चिट्ठी लिखता है कि नहीं?’

‘जल्दी कहाँ लिखते हैं चिट्ठी। महीने में एक आ जाए तो बहुत है। दादा बहुत ज़्यादा बिजी रहते हैं पढ़ाई में। कितना तो टास्क मिलता है इंजीनियरिंग में। आपके पास भी तो लेटर आया होगा।’

‘हाँ, एक आया था। वहाँ पहुँचने के बाद। मैंने उसके बाद दो चिट्ठियाँ भेजीं मगर जवाब नहीं मिला। आप उसे खत लिखो तो मेरा सलाम भी लिख देना।’

चुन्नी में लिपटे सिर को हिलाकर उसने मौन सहमति प्रगट की। कुछ इस अदा से मानो मैंने कह डाला हो, अपना हाले दिल।

यह शाम फिर नहीं आएगी। मैंने अपने शरीर में मौजूद हिम्मत की राई-रत्ती जुटाकर, बड़ी कोशिश करके मुँह खोला तो शब्द नहीं मुँह से भाप निकली। साँस भरी तो नाक से भी। सच में जमा देने वाली ठंड थी। उसने मेरी ओर देखा, कहो भई जो कहना है।

‘आपके कॉलेज में एनुअल फंक्शन कब है?’ यही कह पाया मैं। वह रुककर मेरी ओर तमककर बोली, :प्रसून दा, आप हमसे बड़े हैं आप-आप करके क्यों बोलते हैं हमसे। प्लीज, तुम बोलिए ना!’

कैसे बोलता सामने उसके घर का फाटक सख्त नज़रों से हमें घूर रहा था।

ध्यान टूटा तो मैंने गोद में रखा एलबम खोल लिया और उसमें संजोई गई प्रशांत के विवाह की तस्वीरें देखने लगा। बार बार नज़रें उस पर टिक जातीं और मैं पहचानने की कोशिश करता...

मलयानिल का झोंका आया और चाय की ट्रे लेकर वह प्रगट हुई।

पहचान की प्रक्रिया को झटका लगा। उसने मानो इतनी-सी देर में चोला बदल लिया था। काली शिफान की साड़ी, काला ब्लाउज़ और दपदपाता, ऊँची नाक और बड़ी-बड़ी आँखों वाला मुखड़ा। सँवारे हुए बालों में अब नहीं दिखे चाँदी के तार। होंठों पर शुष्कता की जगह ताजगी। अम्लान कांति।

मैंने एलबम रखकर कहा, ‘शिप्रा! विनायक ने बताया था, बहुत अफ़सोस हुआ। तुम्हारे दुख की कल्पना करके दिल भर आया था। ईश्वर अच्छे लोगों को क्यों जल्दी बुला लेता है, समझ में नहीं आता।’

वह प्यालियों में चाय बना रही थी। उसने आहत भाव से मुझे देखा और उसकी आँखें डबडबा आईं। पल्लू में मुँह छिपा लिया और कुछ देर तक मूर्तिवत बैठी रह गई। मैं शुरू से ही, कलकत्ता रवाना होने से पहले से ही इस प्रसंग को लेकर व्यथित था। इस क्षण का सामना करने की अपनी सामर्थ्य पर मुझे घोर संदेह था। मैंने जो संवाद मन ही मन, इस दृश्य के लिए, लिखकर रखे थे उनकी अदायगी का समय आ गया था।

वह एक शानदार फ़्लैट था। सुरुचिपूर्ण साज-सज्जा। बड़ी-सी बैठक के जिस कोने में हम बैठे थे वहाँ वातावरण एकदम बोझिल हो उठा था। हम नाटक के दो पात्रों की तरह अपनी-अपनी भूमिकाओं का निर्वाह कर रहे थे। शब्द साँत्वना बनने का प्रयास करते रहे और उसकी विह्वलता बढ़ती गई। उसने चेहरा उठाया तो आँसुओं से तर था। मैं उठकर उसके पास गया और कंधे पर हाथ रखकर दिलासा दिया, ‘तुमको इस दुख से उबरना होगा शिप्रा! फिर तुम्हें सँभालने के लिए दो जवान बेटे हैं। तुम अकेली नहीं हो।’

वह उठी और मेरे कंधे पर सिर टिकाकर रोने लगी। उसकी हिचकियाँ बंध गई थीं। अनोखी नारी गंध से मैं घिर गया। आँसुओं और उच्छ्वासों का सैलाब मुझे अंदर तक भिगो गया। कुछ देर तक मैं उसका सिर सहलाता रहा। धीरे-धीरे उसका रुदन सिसकियों में बदल गया। मैंने रुमाल से उसके आँसू पोंछ डाले। उसका चेहरा क़रीब से देखकर अजीब आर्द्रता का एहसास हुआ।

इस दृश्य के आगे की पटकथा का अनुमान नहीं लग पा रहा था। एक अत्यंत करुण और द्रावक सामीप्य हमें बरबस जोड़े था। उसने रुंधे गले से कहा, ‘मैं सिर्फ बच्चों का मुँह देखकर जी रही हूँ प्रसून दा! नहीं तो अब क्या रखा है जिंदगी में।’

वह चाय फिर से गर्म करके लाई तो उसका चेहरा धुला हुआ लग रहा था।

फिर शुरू हुई घर-गृहस्थी की बातें। उसका बड़ा बेटा आईआईएम कलकत्ता से एमबीए करके किसी मल्टीनेशनल कंपनी में अच्छी नौकरी पर था। यह तीन बेडरूम वाला फ्लैट उसी ने खरीदा था। छोटा भी जहीन था और बड़े के ही नक्शेकदम पर जाने वाला था। उसने बताया कि बेटा बहू उसको बहुत मान से रखते हैं। एक तिनका भी हाथ से उठाने नहीं देते। कुमकुम तो उसी के साथ खाती और सोती है।

निर भरी दुख की बदली छंट गई थी। उसने अपना घर दिखाया, घुमाया। हर कमरे में, हर कोने में संपन्नता की छटा बिखरी थी। आधुनिक उपकरणों से सज्जित किचन, ए. सी. लगे बेडरूम। आयातित डाइनिंग टेबल और कुर्सियाँ, शो केस, केबिनेट और कलात्मक गमले। लेकिन डाइनिंग स्पेस से जुड़ा शिप्रा का कमरा इनके मुकाबले एकदम सादा और सज्जाहीन था। उसमें प्रवेश करके घनीभूत एकांत और खालीपन का अनुभव हुआ। उनका पूजा गृह भी वही था। दीवार से सटा, पालिश की गई लकड़ी का एक मंदिर जिसे देखकर लगा कि यह दक्षिणेश्वर के मुख्यमंदिर की अनुकृति है। उसमें शांत सागरमुद्रा में ठाकुर (राम कृष्ण परमहंस) और श्री श्रीमां (शारदा मोनी) प्रतिष्ठित थे। उन सुंदर मूर्तियों को मैं देखता ही रह गया। मेरे व्यथित मन को कुछ शांति मिली। जी में आया कि वहीं कुछ देर बैठकर उन्हें देखूँ।

एक अद्भुत चित्र था जिसमें सजी-धजी माँ काली ठाकुर की गोद में सिर रखकर लेटी हैं। उनके मस्तक पर जड़ाऊँ मुकुट बंधा है।

मन में भक्ति भाव उमड़ा तो रहा नहीं गया। घुटने टेककर अपना मस्तक भूमि पर टेका। उठकर देखा, शिप्रा भी ठाकुर के सामने सिर झुकाए सजदा कर रही थी।

जाने को हुआ तो उसने कहा, 'प्रसून दा! होटल से अपना सामान उठाकर कल शाम यहाँ आ जाइए, प्रशांतो भी आ जाएगा। बहू अभी मायके में कुछ दिन रुकेगी, वह अकेला कल आ रहा है। आप एक दो दिन हमारे साथ रहिए फिर जब कहेंगे मेरा बेटा आपको गाड़ी में बिठा आएगा। नहीं नहीं... मेरी यह बात आपको माननी ही पड़ेगी।'

होटल से अपनी अटैची लेकर सीधे घाट पहुँचा। फेरी बोट चली तो साँझ ढल रही थी। इस पार और उस पार जगमगाहट होने लगी। मैं रेलिंग पकड़कर खड़ा हो गया और गंगा की चंचल उत्ताल लहरों में रोशनियों को नाचते और घुलते हुए देखता रहा।

देखते ही देखते वह किनारा पीछे छूट गया। मुझे लग रहा था जैसे कोई अदृष्ट माँझी मुझे उस पार ले जा रहा है... उस पार न जाने क्या होगा!

रह-रहकर शिप्रा की दारुण छवि जेहन में उभर आती थी। उम्र के बरसों का लकीरों के रूप में अपने पर समेटे एक सियाह घेरों वाली आँखों वाला उजला चेहरा। सूनी माँग वाले रूखे घने केशों में झाँकते रजत कण लग रहा था बहुत संजोकर रखी गई, ऊँची नाक और बड़ी-बड़ी आँखों वाली लड़की की मोहनी मूरत अचानक खो गई है। नहीं, निर्ममतापूर्वक छीन ली गई है। अपनी वह यात्रा निरर्थक और बेमानी लगने लगी मगर अब मुड़कर वापिस नहीं जा सकता था। बीच मंझधार था।

हो गई थी देर। उतरते ही टैक्सी तलाशी मैंने।

इस बार उस घर का द्वार बटन दबाते ही खुल गया। शायद उन्हें प्रतीक्षा रही हो। वह आगे बढ़ी, 'एशो, प्रसून दा एशो।' मैं उसे देखता ही रह गया। उसका एक तीसरा रूप मेरे सामने था। पिछले दिन से एकदम अलग। बड़े चारखानों वाली धानी रंग की ताँत की साड़ी में उसका व्यक्तित्व खिल उठा था। मुख पर अनोखी दीप्ति थी और आँखों के गिर्द स्याह घेरे गायब थे।

मेरे हाथ से अटैची लेकर वह कहीं रखने चली गई। मैं सोफे पर बैठकर अपने आपसे कुछ पूछने लगा... वह एक ट्रे में कॉफी के मग लेकर आई, ट्रे मेरे सामने रखकर मोबाइल फ़ोन मिलाकर बात करने लगी। बांग्ला में।

मैं उन आकर्षक मगों को देखने लगा। एक पर आदिम नीग्रो पुरुष और दूसरे पर आदिम निग्रो स्त्री के चेहरे चित्रित थे। नज़र उठते ही दीवार पर टंगे चित्र पर जा टिकी। उसी सूखी हुई फूलमाला वाले चित्र पर।

बात करते-करते उसने मोबाइल मेरी ओर बढ़ाया, 'प्रशांतो है। आपसे बात करना चाहता है।' उसके चेहरे पर एक रहस्यमय मुस्कान थी।

'हेलो, प्रसून अंकल, प्रणाम! सॉरी, सॉरी आइम सो सॉरी, मैं आ नहीं सका। आई वाज बेरी कीन टू बी विद यू विनायक मामा और माँ से कितना सुना है आपके बारे में। बट देयर इज सम एक्सिजेंसी हीयर। मेरे फ़ादर इन ला की हालत अचानक बहुत नाजुक हो गई है एंड यू नो देयर इज नो मेल मेंबर इन द फ़ैमिली, इसलिए एक दो दिन रुकना पड़ेगा।'

'कोई बात नहीं प्रशांत। उनकी देखभाल ज़्यादा ज़रूरी हैं, मेरी भी बहुत ख्वाहिश थी तुम्हें देखने की। फिर कभी सही। मुझे भी कल वापिस जाना है।'

'अंकल! आप रुकते तो मैं जल्दी आ जाता। मैंने फ़ोन कर दिया है, कल सुबह से ही कंपनी का ड्राइवर आपके डिस्पोजल पर होगा। आपको जहाँ जाना हो ले जाइएगा। माँ को भी कुछ शापिंग करनी है, आपके साथ चली जाएँगी... मुझे माफ़ कर देंगे ना अंकल? विनायक मामा को मेरा प्रणाम कहिएगा।'

मैंने फ़ोन बंद करके आँखें मूंद लीं। यह एक कल्पनातीत स्थिति थी। अचानक मैंने अपने को ग़लत समय पर ग़लत स्थान पर पाया।

'किस सोच में डूब गए प्रसून दा, कॉफी ठंडी हो रही है।'

मैंने अनजाने ही जिस मग को उठा लिया था उस पर आदिम स्त्री की मुखाकृति थी।

वह पूरी तरह प्रकृतिस्थ थी। उसके चेहरे पर एक सौम्य संतोष की आभा थी जो माँओं में हुआ करती है, मानो कह रही हो, 'देखा कितना सुशील और स्नेहिल है मेरा बेटा!'

प्रशांत का निश्चल मृदु स्वर मेरे कानों में अभी भी गूँज रहा था।

मेरा अपना बेटा कनाडा में था। मैंने शिप्रा को उसके बारे में बताना शुरू किया तो बड़ी सहजता से उसने मेरी पत्नी, बेटे-बहू, घर के बारे में सब कुछ जान लिया। वह एक

अच्छी श्रोता निकली। मैं एक बचपने से भरे उत्साह में उसे बताता गया। अपनी नौकरी और अपनी यात्राओं के बारे में। मैं और मेरी पत्नी कैसे कनाडा गए, बेटे-बहू के पास तीन महीने रहने के लिए। टोरंटो, ओटावा, न्यूयार्क की सैर की और लौटते समय एक शाम लंदन में घूमे। कैसे घर बनाया दिल्ली में और विनायक के वहाँ आ जाने से कैसे फ़र्क पड़ा है हम दोनों की ज़िंदगी में। बचपन की दोस्ती के सूखे दरख्त की शाखें फिर से हरी-भरी हो गई हैं।

'ओ माँ! बातों में कितना समय बीत गया। डिनर की तैयारी करनी है और मैंने तो अभी तक पूजा ही नहीं की है। प्रसून दा! आपकी अटैची मैंने सुशांतो के कमरे में रख दी है। आप दिन भर के थके होंगे, थोड़ा आराम करके फ़्रेश हो लीजिए।'

कलकत्ता में, माफ़ कीजिए कोलकाता में दिसंबर में दिल्ली जैसी कंपा देने वाली सर्दी तो नहीं होती लेकिन रात को थोड़ी ठंडक हो जाती है। अटैचड बाथरूम में गुनगुने पानी से मैं देर तक नहाया। शहर और समय की गर्द की जाने कितनी परतें उतारने की कोशिश में।

यह एक नए ज़माने के नौजवान का कमरा था। विलायती पोस्टरों और महाकाय आडियो सिस्टम से आच्छादित। एक डिजायनर क्रिस्म के सिंगल बेड पर मेरी अटैची रखी थी। कमरे की सज-धज से मेल खाने के लिहाज से कुर्ता-पाजामा के बजाय जींस-टी-शर्ट पहनना ज़्यादा मुनासिब लगा।

वह लक्ष्मी पूजा का प्रसाद लेकर आई (आज बृहस्पतिवार है न!) तशतरी में एक छोटा-सा संदेश, सेव और केले के टुकड़े।

वह एक कुर्सी खींचकर बैठ गई, 'सुनिए आप फ़िश तो खाते हैं ना? आपके लिए माछेर झोल बनवाया है मैंने। हमारी मेड सर्वेंट बहुत अच्छा बनाती है। थोड़ा-सा चावल भी चलेगा या सिर्फ़ चपाती ही खाएँगे? विनायक दा तो रात को रोटी ही खाते हैं। उन्हें चावल बिल्कुल नहीं चलता।'

‘अपना ऐसा कुछ नहीं है। दोनों ही ठीक हैं। चपाती बनाने में झंझट होगा, मैं चावल ही खा लूँगा। तुम खामखौं परेशान नहीं होना।’

‘नहीं नहीं, परेशानी कैसी! मैं खुद एक टाइम चपाती खाती हूँ। आप...’

वह कुछ कहने जा रही थी कि कालबेल बजी। ‘अभी आई!’ कहकर वह उठ गई।

कोई आया फिर बांग्ला में जोर-जोर से बातें करने की आवाज़ आ रही थी। ‘कौन हो सकता है इस समय! कोई मित्र, कोई रिश्तेदार या और कोई, जो मेरे यहाँ रात भर ठहरने को लेकर सशंकित हो सकता हो।’

उसने लौटकर कहा, ‘प्रसून दा! ड्राइवर आया है। पूछ रहा है सुबह कितने समय आना है?’

मैंने कुछ संकोच से कहा, ‘एक बार दक्षिणेश्वर जाने की इच्छा थी। एकदम सुबह आ सकेगा?’

‘क्यों नहीं! हम लोग भी सुबह-सुबह ही जाते हैं। उसे ठीक छह बजे आने को बोल देती हूँ। मैं भी आपके साथ चलूँगी। बहुत दिन से जाना नहीं हुआ।’ कहते हुए वह बैठक की ओर चली गई। मुझे लगा उसके स्वर में एक उमंग-सी थी।

कलकत्ता की अपनी पिछली यात्राओं में मैं हर बार वहाँ गया था और वहाँ के परिवेश में व्याप्त शांति और पवित्रता को याद करके पुलकित हो उठा। मन कुछ स्थिर हुआ था कि उसने बड़ी मुखर और लगभग स्नेहासिक्त आवाज़ में पुकारा, ‘प्रसून दा! एखाने एशो।’

मन ने चंचल होकर कहा, ‘काश, चालीस साल पहले इसने इस तरह पुकारा होता तो प्रसून दा तो क्या, उनके फरिश्ते भी दौड़े चले आते। तब तो कैसी अबोले की दीवार उठा रखी थी बीच में।’

एक काउंटरनुमा सजावटी कैबिनेट के पास वह खड़ी थी। शायद वह उनका मिनी बार था। ‘यह प्रशांतो का बार है। इंपोर्टेड, इटैलियन वुड का। वह यहाँ होता तो आपको अपने ढंग से एंटरटेन करता। आप लोग देर तक यहाँ अड्डा

जमाते। फ़िलहाल तो आपको अकेले ही टाइमपास करना होगा। तब तक मैं डिनर की तैयारी करती हूँ।’ उसने चाबी घुमाई और हैंडिल पकड़कर खींचा तो कैबिनेट का बंद दरवाज़ा खुलकर, एक अर्द्धवृत्ताकार बार की शक्ल में सामने आ गया।

मुझे चुपचाप खड़े देखकर किसी प्रगल्भ नायिका की तरह उसने कहा, ‘आप तो कनाडा और अमेरिका में महीनों रहकर आए हैं। डिनर के पहले थोड़ी बहुत लेते होंगे?’ जब तक मैं कुछ कहूँ वह तेज़ी से चली गई। अब सामने थे देशी और विदेशी ब्राँडों का चुनिंदा मजमुआ।’

कनाडा के लंबे प्रवास के दिन याद आए। सुबह सवेरे बेटा और बहू दोनों काम पर चले जाते तो महज टी.वी. के सहारे दिन काटे नहीं कटता था। शाम होते ही मैं बेटे के लौटने की प्रतीक्षा करने लगता। उसके आने और ताजा दम हो लेने के बाद हम दोनों बार में जम जाते और देर तक जी भरके बातें करते। वीयर-दर-वीयर खुलते जाते और अंतरंग मित्रों की तरह अपने-अपने न सुनाने लायक अनुभव भी सुना डालते।

देर तक खड़े रहना मुश्किल था, मैं ‘हंड्रेड पाइपर्स’ उठाकर डाइनिंग टेबल तक ले गया। वहाँ क्रिस्टल के जगमग करते गिलास और पानी का जग रखा था। चिप्स और नमकीन जिसे वहाँ चनाचूर कहते हैं वह रख गई थी। धीरे-धीरे मैं आत्मलीन होने लगा। अलख जगाए जोगी की तरह। बैठे-बैठे लगा मैं कल्पनालोक में खोया हुआ हूँ, यह एक मायावी इंद्रजाल है, यथार्थ नहीं। जागी आँखों का सपना। इस विभ्रम को तोड़ने के लिए चिकोटी काटकर देखा।

वह जाने कब आकर सामने बैठ गई थी। खामोशी वहाँ पहले से ही बैठी थी और शायद अभी उठने को तैयार नहीं थी। मुझे अच्छा लग रहा था, यह सम्मोहन में खोकर चुपचाप, निष्क्रिय और तटस्थ होकर बैठे रहना। अब कुछ भी नहीं हो रहा था, दुनिया अपनी बँधी-बँधाई लीक पर चल रही थी। जराग्रस्त देह का मनवृंदावन एकदम शांत था।

उसी ने तीर छोड़ा, ‘किसी को याद कर रहे हैं प्रसून दा?’

‘हाँ’ बगैर हिले-डुले मैंने कहा।

उसने कोहनियाँ डाइनिंग टेबल पर टिकाकर चेहरे को दोनों हथेलियों पर रखकर कहा, ‘कोई खुशकिस्मत होगा।’ यह तीर निशाने पर लगा। अपने कैशोर्य के दीवानावार असफल प्यार की स्मृति के देश को किसी तरह झेलकर कुछ कहने जा रहा था कि किचन में प्रेशर कुकर की सीटी बज उठी। और वह विलुप्त हो गई। फिर एक चिकोटी काटकर देखा, सच है या सपना!

उसके बाद अबोला हम पर ऐसा तारी हुआ कि डिनर पर हम अपने-अपने में खोए रहे। फ़िशकरी सचमुच अच्छी थी परंतु उसने नहीं ली। संभवतः विधवा होने के बाद माँस-मछली खाना छोड़ दिया हो। पूछने का साहस मैं जुटा नहीं सका।

सोने से पहले कुछ पढ़ने की आदत है इसलिए बैठक से अख़बार और पत्रिकाएँ उठाकर अपने कमरे में चला गया। जाने कब तक, जाने क्या-क्या पढ़ता रहा।

‘फेरीबोट एक निर्जन द्वीप पर उतारकर चली गई। मैं घने जंगल की खाक छान रहा हूँ। जंगल के पार एक भग्न दुर्ग और उसकी प्राचीरें बरबस अपनी ओर खींच रही हैं। वृक्ष, लतागुल्म, कंटीले झाड़ और सरीसृपों से भरी ऊबड़-खाबड़ धरती। उलझते, गिरते, सँभलते, अटकते, भटकते चला जा रहा हूँ। शक्ति शेष होती जा रही है और पग डगमगा रहे हैं मगर आँखें उस भग्न दुर्ग पर टिकी हैं। कोई दीर्घसंचित अभिलाषा है जो लिए जा रही है। कपड़े तार-तार, पादुका छलनी और मैं धूल-धूसरित, पहुँच गया हूँ, मोटी-मोटी चौकोर कीलों के उभार वाले विशाल द्वार के सामने, जो कि बंद है। उसे बिना चाबी के खोलने के लिए हाथियों की सेना चाहिए। एक परकोटे से बंधकर लटकी कमांड दिखाई देती है तो जोश का उफान अंदर पहुँचा देता है। महल भी द्वीप की तरह निर्जन दिखाई देता है। अंतःपुर में लहराते हुए रेशमी पर्दे हैं। एक के बाद एक। उनका कोई ओर छोर नहीं मिलता। उस रेशमी सरसराहट को पार करते-करते, थककर कब अचेत हो जाता हूँ, पता नहीं चलता। फिर किसी शीतल स्पर्श से मूर्च्छा टूटती है और नज़र आती है श्वेतवसना, श्वेतांगी भग्न दुर्ग की स्वामिनी। सूनी आँखों से चिंतित मुद्रा में मुझे

निहारते हुए। मानो कह रही हो, ‘आखिर तुम आ पहुँचे। मैं कब से तुम्हारी राह देख रही हूँ। तुम ही मुझे मुक्ति दे सकते हो परंतु क्या दशा है तुम्हारी! कहीं मेरे साथ तुम भी तो यहाँ क़ैद नहीं रह जाओगे।’

‘आप सो गए क्या प्रसून दा! कुछ ओढ़ा भी तो नहीं।’ जैसे धड़धड़ाती ट्रेन के झटके से रुक जाने पर अचानक मुसाफिर जाग उठे वैसे आँखें खोलकर देखा कि पढ़ते-पढ़ते, मैगजीन हाथ में लिए मेरी आँखें मुंद गई थीं। चश्मे की आड़ में उस पर दृष्टि गई तो लगा फिर से स्वप्न देखने लगा हूँ। वह एक ढीला सफ़ेद गाऊन पहने खड़ी है। खुले हुए घने बाल एक सफ़ेद हेयर बैंड से बंधे हैं। उसका गला और कलाइयाँ सूनी थीं मगर उजलेपन में गाऊन को मात देते किताबी चेहरे पर दीप्ति थी। संदली बांहों से जगमगाहट फूट रही थी। शायद किसी महाभारतकालीन सरोवर में स्नान करके आई हो (जो यौवन लौटा देता था) कभी-कभी सहसा आँख खुलने पर स्वप्न और यथार्थ में जैसा तालमेल हो जाता है, वैसा ही कुछ हो गया था।

“नहीं सोया नहीं, यूँ ही पलकें झपक गईं। आओ बैठो ना!” मैंने सँभलकर कहा और पाल्थी मार बैठ गया। वह क्षमा-याचना के स्वर में बोली, “बेकार आपको उठा दिया, दिन भर के थके होंगे।” उसने पढ़ने वाली मेज़ के पास से कुर्सी खींच ली बैठने के लिए।

कुछ देर तक मुझे गौर से देखती रही फिर एक गहरी साँस छोड़कर बोली, “उम्र ने हम सबको बदल दिया है लेकिन आप पर कुछ ज़्यादा ही असर डाला है। लेकिन, आपकी आँखें वैसी ही हैं। एकदम वही, मन को उलझाकर रख देने वाली।”

उसकी बेधक दृष्टि से मुझे वैसी ही घबराहट होने लगी जैसी कॉलेज के दिनों में होती थी। वह अपनी रौ में थी, “वह बात कहूँ। आपको लेकर मैं शुरू से ही उलझन में रही हूँ कभी भी ठीक से नहीं जान पाई। अभी भी ऐसा ही लग रहा है। लगता है कभी भी जान न पाऊँगी।” यह कहकर सिर झुका लिया उसने। मुझे समझ में नहीं आ रहा था कि यह आरोप था या स्वीकारोक्ति।

“तुम ऐसा क्यों सोचती हो शिप्रा! मुझे समझना न तो तब कोई मुश्किल था न अब है। उस दकियानूसी, सामाजिक वर्जनाओं से भरे क़रबे में रहते हुए कभी साहस ही नहीं हुआ कि अपने मन की बात तुमसे कह सकूँ। उसके बाद तुम्हारे पापा की बदली हो गई और तुम लोग चले गए। बरसों बाद जब मिले तो सारे दरवाज़े बंद हो चुके थे, तुम्हारी अपनी एक दुनिया बस गई थी... मैं तो स्वभाव से डरपोक था लेकिन तुमने ही कौन-सी बहादुरी दिखाई।” यह सब कहते हुए मेरा चेहरा उतेजना से लाल हो उठा होगा क्योंकि उसके होंठों पर एक क्षीण स्मित झलकी और खो गई।

सहसा यह अहसास हुआ कि अब मैं उम्र के पाँच दशक पार करके बहुत दूर आ चुका हूँ। अब डरने, झंपने और शरमाने का अधिकार नहीं मिल सकता। शिप्रा तो मुझसे दो साल छोटी है, उसी से सबक लिया जा सकता है। उसने अभी तक किसी तरह की झिझक नहीं दिखाई तो मैं ही क्यों सती हुआ जा रहा हूँ। खुद को मन ही मन लानत भेज मैंने कहा, “जानती हो, उन दिनों मैं दिन रात तुम्हारे खयालों में डूबा रहता था। किसी से भी नहीं कह पाने की छटपटाहट कविता के रूप में प्रस्फुटित हुई। रात-रात जागकर मैंने तुम पर एक खंडकाव्य ही लिख डाला था। उसकी कुछ पंक्तियाँ अभी भी याद है- गूँज उठी प्राणों की घाटी शिप्रा। शिप्रा की ध्वनि से। लेकिन उस कापी को सबकी नज़रों से छुपाकर रखता था। घरवाले समझते थे देखा रात-रात भर पढ़ता है। यूनिवर्सिटी तक वह महाकाव्य मेरे साथ रहा फिर जाने कहाँ खो गया।”

उसने निहाल होने का अभिनय करते हुए ललककर कहा, “हाय रे! ऐसी थी मेरी क्रिस्मत और आप कितने दुष्ट हैं प्रसून दा, एक बार पढ़वा ही दिया होता तो क्या बिगड़ जाता! क्यों, बताइए ना।” उन बड़ी-बड़ी आँखों में देखकर मुझे फिर घबराहट होने लगी।

मैंने ओढ़ी हुई गंभीरता से उसे सूचित किया कि, “इसके लिए बड़े दिल जिगर की ज़रूरत होती है शिप्रा, और वह मेरे पास था नहीं।” और सिर झुका लिया।

उसके मन में जाने किस भावना का ज्वार उमड़ा कि वह उठकर एकदम पास आ गई और हाथ से यत्नपूर्वक मेरा

चेहरा ऊपर उठाकर मेरी आँखों में झाँकते हुए बोली, “सचमुच आप बहुत डरपोक हैं प्रसून दा। जानते हैं उन दिनों ट्रेन में मेरे साथ जाने वाली लड़कियाँ आपका नाम लेकर मुझे छेड़ा करती थीं। सबको पता था कि आप चोरी-चोरी मुझे देखा करते हैं।”

“और तुम्हें बहुत गुस्सा आता होगा इस बात पर।”

“काहे का गुस्सा। आप पागल हैं क्या...!”

उन दिनों की जितनी कच्ची-पक्की यादें थीं, उन्हें देर तक सुमरिनी की तरह फेरते रहे हम। यह अहसास होने तक कि समय मुट्टियों से फिसलता जा रहा है, धीरे-धीरे कोहरे में चंदनवन डूबता गया।

कैसी गहरी नींद आई थी शेष बची एक डुकड़ा रात में। कालिदास ने कुमारसंभव के षष्ठ सर्ग से ऐसी नींद की शान में यह कसीदा पढ़ा है-

यौवनांतं वयो यस्मिन्नांतकः कुसुमायुधात्
रतिखेद्रसमुत्पन्ना निद्रा संज्ञाविपर्ययः।।

(ओषधिप्रस्थ नगर के निवासी चिरयुवा रहते थे, यहाँ का वातावरण इस प्रकार पुष्टिदायक था कि बुढ़ापा कोसों दूर रहता था। कामदेव द्वारा की गई धूर्तता के अभाव में, अर्थात् प्राकृतिक नियमों का अतिक्रमण न करने पर किसी को अकाल मृत्यु नहीं देखनी पड़ती थी और यहाँ के लोग संभोग-सुख के उपरांत गाढ़ी निद्रा में इस प्रकार निमग्न हो जाते थे, जैसे कि वे मूर्च्छित (बेहोश) हो गए हों।

दक्षिणेश्वर घाट पर पुण्यसलिला में नहाने वालों की भीड़ थी। जाड़े की ओस और धुंध के बीच हमने डुबकी लगाई और आधे गीले आधे सूखे माँ काली के दर्शन के लिए फूलों के दोने लेकर गए। इसी मंदिर में ठाकुर पूजा-अर्चना करते थे। उनके बुलाने पर चली आती थीं माँ। कभी-कभी कैसी ज़िद कर बैठते थे रामकृष्ण! यह सोचकर ही मन में अद्भुत रोमाँच का अनुभव होने लगा। लगा कुछ देर और उनका स्मरण किया तो आँसू बहने लगेंगे।

तभी शिप्रा ने मेरा हाथ पकड़कर कहा, “प्रसून दा! आपके हृदय में मेरे लिए प्यार था जो छुपा, अनछुआ, अनदेखा ही रह गया उसे आज आपसे माँगती हूँ, यहाँ जगत्धात्री के

सामने। मुझे आज इसकी ज़रूरत है। यह मुझसे छूट गया था। बोलिए देते हैं वह अब मुझे?” वह माँग रही थी मगर यह दान देने की मेरी औकात कहाँ थी।

फिर मुझे लगा जैसे कोई बहुत पुराना ऋण चुकता हो गया हो।

सुबह निराहार मुँह, यहाँ तक कि बगैर चाय पिए आए थे। मुझे मालूम था कि मंदिर के बाहर एक होटलनुमा दुकान थी जिसमें गर्मागर्म मैदे की पूरियाँ और मीठी तीखी चने की दाल मिलती थी। रास्ते में एक छोटा-सा फुटपाथिया बाज़ार था जिसमें चित्र, मूर्तियाँ, पूजन सामग्री और कुछ स्त्रियों के मतलब के सामान बिक रहे थे। मुझे याद आया कि पत्नी ने वहाँ मिलने वाला सिंदूर और शंख की चूड़ियाँ लाने को कहा था। अनायास मैं एक दुकान पर रुक गया और देखने लगा। वहाँ सिंदूर भी था शंख की चूड़ियाँ भी।

दूसरे ही क्षण मुझे कुछ याद आ गया और हृदय को धक्का-सा लगा।

उसने मुझे दुकान पर उन चीज़ों को देखते हुए देख लिया होगा।

“क्या भाभी के लिए कोलकाता का सिंदूर लेना है? मैं ले देती हूँ।” उसने सिंदूर की एक दर्जन डिब्बियाँ खरीदकर मेरे हवाले कीं तो मैंने उसे शंख की चूड़ियों के बारे कहा। वह हँसकर बोली, “यहाँ असली शंख की चूड़ियाँ नहीं मिलेगी। हम दिन में बाज़ार चलेंगे तो ले दूंगी।”

बाज़ार में किसी ने जोर से हाँका तो एक गाय धूल उड़ते हुए भागी। कुछ धूल मेरी आँख में पड़ी और मैं परेशान होकर आँख मलने लगा।

उसने कहा, “मलो नहीं। रुमाल से ढंक लो। इसे पानी से धोना होगा तभी आराम मिलेगा।”

होटल में पानी से आँख धोई मगर तकलीफ़ कम नहीं हुई। रुमाल से उसे ढंके-ढंके मैं पूरियों और चाय के लिए बोलकर उसके सामने जा बैठा।

“क्यों, आँख में किरकिरी हो रही है न प्रसून दा?”

“हाँ।”

“जानते हो इसे बांग्ला में क्या कहते हैं। चोखेर बाली।”

मैं आँख की किरकिरी को भूलकर, सामने अपनी चोखेर बाली को देखने लगा।



राजेन्द्र राव

रिपोर्ताज

राजेन्द्र राव

हाटे बाज़ारे

कोलकाता के अभिशप्त वेश्या जीवन की आँखों देखी कहानी

हमें बस बालटिकुरी बाजार से मिलनी थी। तिरसठ नम्बर जो शायद हाबड़ा बस-अड्डे की सबसे ज़्यादा लादू बस थी। ऊपर छत पर भी मुसाफिर खचाखच भरे होते, पन्द्रह-बीस तो बस के दरवाज़े पर लटके चलते और उतने ही आगे पीछे। ऐसे में बीच रास्ते उसमें धंसना खेल नहीं था, मगर हमें तो जाना ही था। इसलिए भी कि आसमान पर गंदले से बादल छाए हुए थे जिनमें बरसाती पानी झलक रहा था।

रास्ता कीचड़-दलदल के बीच खो गया था। फिर भी धुँधली लकीर-सी पड़ती थी। पतलून के पाँयचे धोती की तरह घुटनों तक उठाए हम चल रहे थे। दोनों तरफ छोटे-मोटे कई कारखाने थे जो बंद पड़े थे। तालाबन्द या बिजलीबन्द जो भी हो, गेरुआ कूँची से लिखे गए नारे हर दीवार पर लगे थे। और तालाब थे जिनके किनारे उस समय भी टापलेस औरतें नहा रही थीं। इससे हमें रास्ता देखने में असुविधा होती रही। बन्ने भाई सब से आगे चल रहे थे और लखनवी लिबास में थे। पाजामा छींट हुआ जा रहा था, मगर धुन में थे। रह-रह कर 'तेरी-मेरी कहानी है' गुनगुना उठते थे।

बीच रास्ते में वह नाग की तरह फन उठाए खड़ी थी। वही आबनूस को तराश कर बनाई गई लड़की थी। हम सब पर उसका खुमार छा गया। हरेक के कमरे में वह आ चुकी थी। काफी दमखम था उसमें। एकाध की आँखों में आँखें डाल कर बोली-ए बाबू! टाका दीन! जिससे कहा गया था उसने अपनी टूटी-फूटी कुल जमा बंगला में कहा-पिक्कर देखने चलेगी? वह नहीं मानी-खेला जावे ना, एई दिके बोसबे... टाका दीन! और कोई मौका होता तो कोई-न-कोई उसे झाड़ियों

में ले जाता, मगर हम तो जा रहे थे, हमें तो जाना था, वहाँ। वह 'टाका-टाका' की रट लगाती रह गई। गालियाँ देने लगी। आखिर को पीछे छूट गई।

एक-एक कर के जब चार-छह बसों निकल गईं तो बन्ने भाई ने सब को डाँटा। कहा, 'इतनी नजाकत हो तो टैक्सी कर लो! सोचते हो इस रूट पर कोई खाली बस तुम्हें मिलेगी!' उनकी लानत-मलामत का काफी असर हुआ। हम सब एक बस पर टूट पड़े। किसी तरह फुटबोर्ड पर पंजा टिका ही लिया। बन्ने भाई पीछे स्टेपनी के चक्के को पकड़ कर बम्प पर बैठ गए। उनकी मुद्रा कुछ ऐसी थी मानो वैतरणी में तैरती गाय की पूँछ पकड़े हों। काफी आगे जाकर कुछ सवारियाँ उतरतीं और सब बस के अन्दर जा सके।

सूरज बहुत नीचे उतर आया था। उतर कर अच्छा लगा, खुली हवा में। बस की उमस भरी घुटन में कमीजें पीठ पर चिपक गई थीं। चेहरे तैलाक्त हो उठे थे। मगर, बारिश होने के आसार नहीं थे। आसमान साफ होता जा रहा था। इन 'अनुभवी' लोगों के साथ मुझे अजीब-सा लग रहा था। फिर भी एक नया अनुभव तो था ही।

बस-स्टॉप से बाएँ हाथ को जाता एक रास्ता दिखा कर बन्ने भाई ने हमें कहा, 'यही है। मगर अभी टाइम नहीं हुआ, चलो, एक चक्कर बाजार का लगा आएँ। (अश्लील ढंग से हँस कर) आगे भी कई माल हैं!'

आगे एक आम कस्बाई बाजार था। भड़भूजे मूड़ी-चने का ढेर लगाए थे। दुकानों में बिजली थी और ग्राहक भी, मगर सजावट-बनावट नहीं थी। जूते की दुकान में आलू भी मिलते थे। चावल को बेचने का काम अभी सरकार ने नहीं लिया, इस लिए कई छोटे-मोटे लोग सर-राह आम जनता को चावल बेच रहे थे। शायद उनकी रोटी-रोजी इसी में थी।

थोड़ी देर बाद ही 'माल' दिखाई पड़ने लगे। एक टूटे-फूटे झोपड़े के सामने तीन चार थे। उन्होंने इस दल को देखते ही आमंत्रण दिया, जिसे स्वीकार करने में थोड़ी हिचक-सी रही। अन्त में एक-एक कर के सब पहुँच गए। उसी समय देखा गया कि सामने भी दो-तीन मूर्तियाँ हैं। लोगों ने मन में सोचा कि अभी भाव-ताव नहीं करना चाहिए। पहले एक नज़र सब को देखा जाए। कहा गया, 'अरे इस अंधेरे में क्या पता चलेगा कि खरा है या खोटा। टार्च लेकर आओ।'

माल-लोगों ने प्रतिवाद किया, 'नहीं। उजाला करने से पुलिस आ जाएगा। आप लोग ऐसे ही देखो। माल अच्छा ही होगा।' एक ने तो हाथ पकड़ कर ऊपर रख लिया, 'देखो, जरा अच्छे से देखो...।' बन्ने भाई ने अंग्रेज़ी में कहा, 'पुलिस-पुलिस कुछ नहीं ऐसे ही बकवास करती हैं। टाप का माल उसी गली में है। ये अपना चेहरा क्या दिखाएँगी!' तभी एक ट्रक गुजरा और हेड-लाइट्स की रोशनी में सब दिखाई देने लगे। वापस होने के लिए यही काफी था।

रास्ते में पान खाए-बँधवाए गए। बन्ने भाई ने अगरबत्तियाँ खरीदीं। एक मेडिकल-स्टोर से 'कवच' और फिर से उस गली के मुहाने पर। सोचा गया, बिना पिए काम नहीं चलेगा। थोड़ा रंग-पानी हो जाए। बन्ने भाई बड़बड़ा रहे थे। उन लोगों पर खफा थे जो मेडिकल-स्टोर में गए थे। वे खुद पाँच बच्चों के बाप थे और ऐसी चीज़ों से चिढ़ते थे, जिन से आदमी के 'सुख' में फरक पड़ता हो!

मोद (ठरें) की दुकान बहुत ही बेनूर थी, मटमैला-धुंधला कम पावर का लट्टू... बोटलों के सिर पर लटक रहा था। हर बोटल अलग नमूने की थी। उनके डाट मोम से सील किए गए थे। फाइल, पाइण्ट (पिन्ट) और फुल, ये तीन साइज थे पानी के। पानी इसलिए कि मोद में रंग और गन्ध नहीं के बराबर होती है। गणित के किसी पेंचीदा फार्मूले से बन्ने भाई ने आवश्यक मात्रा का अनुमान लगाया और आर्डर दिया। यह भी कह दिया कि बोटलें यहीं वापस होंगी (उन के पैसे बिल से काट दिए जाएँ)। खाने के लिए मूड़ी और तेज़ चनाचूर। मिलाने के लिए बगैर गैस-बुलबुलों वाला सोडा। दुकान वाला ढूँढ़-ढाँढ़ कर कहीं से अलग-अलग कद-काठी के चार शीशे के गिलास ले कर आया, जिनके किनारे ओठों की रगड़ खा-खा कर घिस गए थे।

टोस्ट किए जाने से पहले बन्ने भाई ने आँखें मूंद कर शायद अपने इष्टदेव का स्मरण किया। फिर तीन अंगुलियाँ गिलास में डाल कर मोद के छींटे हवा में मारे और एक साँस में सारी खींच गए।

भभके की तरह हमारे दिमाग ऊपर उठे। उस अजनबी परिवेश से तारतम्य स्थापित होने की प्रक्रिया शुरू हो गई। बन्ने भाई ने पाजामा घुटने से ऊपर उठाकर मुड़ी पर एक झपाटा मारते हुए कहा, 'यहाँ की खास बात ये है कि माल चाहे कैसा भी पसन्द करो, रेट वही लगेगा। तीन रुपए छह आने। यहाँ भाव-ताव नहीं है, सोनागाछी या बहूबाजार की

तरह। दूसरी बात है बिहेवियर, डीसेण्ट बिहेवियर! (गाली) दुनियाँ में सब जगै नए पैसे चल गए, मगर यहाँ अभी तक हिसाब आनों में होता है।' मन में सोचा ये छह आने क्यों! राउण्ड फ़िगर क्यों नहीं। शायद सब यही सोच रहे थे। पूछा तो उन्होंने कहा, 'इस का कुछ हिसाब होता है।'

बन्ने भाई पूरी तरह चहकने लगे थे। उनसे अगरबत्तियों के बारे में पूछा गया तो मुस्की मारकर बोले, 'राजा! अपनी-अपनी चाइस है। हमें तो इसके बिना मजा नहीं आता।'

वहाँ से चलते समय बोटलें खरीद कर अलग-अलग झोलों में रखी गईं। बहुत सस्ती शराब थी। मगर थी कलेजा-चीर!

वह गली जाने क्यों अंधेरी लग रहा थी, जब कि बीसियों लालटेन जल रही थीं। दूर से लग रहा था जैसे नदी में दोने पर रखे दीपक तैर रहे हों। अंधेरे में कई सन्देहास्पद लोग आ-जा रहे थे। उमस के मारे पूरा दृश्य बोझिल और कीला हुआ प्रतीत हो रहा था। पक्के मकान थे, वहाँ सड़क के दोनों ओर, और हर मकान के आगे चौपाल थी। हर चौपाल पर लड़कियाँ लालटेन रखे बैठी थीं। करीब पहुँच कर लगा कि उन के सिंगार पटार में बाजारूपन नहीं है। उनमें से कुछ जार्जेट की कामदार साड़ियाँ पहने थीं और अच्छे जेवर भी। किसी-किसी के बाल खुले थे, बहुत फैले हुए लगते थे। उनकी बैठक हमें अपेक्षाकृत शालीनतापूर्ण प्रतीत हुई।

पूरे रास्ते में ग्राहकनुमा मर्द हम ही थे। दर्जनों खूबसूरत जड़ाऊ आँखें हमारे गिरोह पर लगी थीं। उनमें प्रबल मौन आमंत्रण मचल रहे थे। हमें भाँप कर वे आपस में हिन्दी बोलने लगीं तो हम सब ताज्जुब में पड़ गए। आगे जाकर रास्ता मुड़ा और एक संकरी गली में मीना बाजार का 'सार्वजनिक' संस्करण देखते गए। एक जगह हमें मजबूरन रुकना पड़ा।

क्योंकि एक साथी को कुछ अभीष्ट दृष्टव्य हुआ। पाँच लड़कियाँ वहाँ थीं। शायद ही किसी की उम्र उन्नीस-बीस से ज्यादा हो। हमें रुकते देख कर उनके चेहरों पर रौनक आ गई। साथी अपनी पसन्द का चेहरा लालटेन की रोशनी में देख रहे थे। लालटेन लड़की ने ही उठाई थी। बाकी लोग भी नज़र दौड़ाने लगे। संकोच आड़े आ रहा था।

उसी समय घर के खुले द्वार से एक प्रौढ़ का पदार्पण हुआ। उनकी स्निग्धता अभी ओझल नहीं हुई थी और गोरा

रंग उस सांवलेपन में दक-दक कर रहा था। उन्होंने बड़ी शालीनता से कहा, 'आप लोग अन्दर आ जाइए। आराम से देख कर पसन्द कीजिए।'

मगर हम लोग अन्दर नहीं गए। वहीं सौदा होने लगा। लड़कियाँ टूटी-फूटी हिन्दी बोलने लगीं। उनके संवाद में सद्भावना थी। छिपा हुआ भय उतरने लगा। हालाँकि पुलिस का खटका होता था। प्रौढ़ महिला ने साथी को प्रोत्साहित किया, 'अच्छी तरह देखिए। माल पसन्द आए तो अन्दर ले जाइए।' उन्होंने माल को उस तरह देखना शुरू किया जैसे लोग आलू खरीदते समय करते हैं। उनकी समझ में जल्दी ही आ भी गया। जानते-बूझते हुए भी उन्होंने रेट पूछा। उत्तर मिला तीन रुपए चालीस पैसे। बन्ने भाई ने भड़क कर कहा, 'नए पैसे कब से चल गए!'

मुसकराते हुए प्रौढ़ महिला याने पीसी माँ ने कहा, 'मेरे यहाँ यही चलता है।' मगर इसमें तो तीन नए का फरक पड़ जाता है!' बन्ने भाई ने कहा और मुँह बिचकाया। साथी अन्दर गए तो हम लोग भी साथ चल पड़े। उनकी हिम्मत बंधाए रखने के लिए। वह पुराने ढंग का (बाक्स टाइप) नया मकान था। उसमें कमरे ही कमरे थे। कुछ के दरवाजे बन्द थे। हम सब उस लड़की के कमरे में गए। उमस और गर्मी के मारे सब पसीने से तर-बतर थे मगर एक-एक नए 'लोक' में घूमने-फिरने की उमंग थी- हर कमरे में एक लड़की थी। हर लड़की पूजा करती थी इस लिए जूते-चप्पल बाहर ही खोलकर जाने का कायदा था।

बाहर बरामदे में हम लोग खड़े थे। उस लड़की ने सबको निकाल कर दरवाजा बन्द कर लिया था। वहाँ अंधेरे में हमने देखा किसी-किसी दरवाजे के आगे छाता-टाइप मच्छरदानी में बच्चे सो रहे थे। हमें कुछ अचरज हुआ कि सारे-के-सारे यों सो जाते हैं। तभी सामने के एक बड़े कमरे में दो-तीन मर्दों को देखा जो शायद उसी घर के थे। वे भी सो रहे थे।

बीच-बीच में दरवाजे खुलते और लोग तेज़ कदमों से बाहर निकल जाते। बाल्टी के खटकने और उलीचे जाते पानी की आवाज़ होती। कुछ देर के बाद लड़की अपने को फिर से सहेजती बाहर निकल आती।

हमारे साथी को देर लग रही थी। हममें से कुछ दरवाजे से सटकर उनकी बातचीत सुनने लगे। दो-तीन लड़कियाँ बाहर से आईं और अपनी सिगरेट सुलगाने के लिए

हम लोगों से माचिस माँगने लगीं। दोस्ताना लहजे में बातें होने लगीं। धीरे-धीरे बातें उत्तेजक होती गईं, क्योंकि वे हिरनासांवरियाँ आदिवासी शैली में थीं। लालटेन नहीं थी, मगर उनके नैन-नक्शा उभर रहे थे। उनके पक्के रंग के साथ वह खुदाई नक्काशी बहुत मेल खा रही थी। बेतकल्लुफी बढ़ी तो अजन्ता-खजुराहो वहाँ होने लगा। हैरानी हुई, इतना कुछ है इन सबके पास और सिर्फ तीन रुपए चालीस पैसे! कहीं बहूबाजार में बैठें तो महीने भर की कमाई एक दिन में वसूल कर डाले।

उन्होंने बताया कि वे लोग उस तरह की नहीं हैं। उनमें से कुछ घर-गृहस्थी वाली हैं। बच्चे भी हैं। शहर कैसे जाएँ। जाएँ तो वहाँ बैठने कौन देगा! यहाँ जो कुछ मिलता है, उससे गहने बनवार्ती रहती हैं।

इस छेड़-छाड़ ने एक और आदमी को तोड़ लिया। उनके जाते ही बन्ने भाई विकल हो उठे। बोले, 'मैं तो जा रहा हूँ, जिसे रुकना हो रुके।' हम भी उन के साथ ही निकल आए।

XX

शारदा उस समय तक तैयार नहीं हुई थी। हम सब उसे देखने के लिए इतने उत्सुक थे कि कहा नहीं जा सकता। उस के चर्चे महीनों से सुनते आए थे। बुलवाए जाने पर वह बाहर आई और हँस कर सबका स्वागत किया।... उसकी सादगी उस समय सबको भली लगी। रूखे-घुँघराले खुले बाल, मिस्सी रंगे दाँत और शंख-जैसा रंग। उसके व्यक्तित्व में सचमुच आकर्षण था। उसके पीछे-पीछे सब उसके कमरे में पहुँच गए। जूते खोलना भूल गए थे, सो उसने प्यार से डाँटा।

कहने लगी, 'आप सब तो हिन्दुस्तानी हैं बंगला नहीं बोल सकता!...सिगरेट खाएगा, हम सिगरेट खाएगा।' बन्ने भाई ने लपक कर अपना पैकेट पेश किया। वह उन्हीं से सट कर बैठ गई सिगरेट सुलगा कर वह सहसा उठी और मेज पर रखे ट्राँजिस्टर को चालू कर दिया। किसी 'माल' के पास ट्राँजिस्टर होना वहाँ बड़ी बात थी। प्रथम श्रेणी की अभिसारिकाओं के पास ही होता था। द्वितीय श्रेणी में वे थीं जिनके पास रेडियो नहीं थे, मगर जापानी जार्जेट की साड़ियाँ थीं। साड़ी की हिफाजत वे जान से ज़्यादा करती थीं। अच्छे से अच्छा ग्राहक मज़ाल है कि उसे कहीं से छू ले! बाद में यह भी पता चला कि प्रथम श्रेणी वाली लड़कियाँ चार रुपए देने

पर रेजगारी वापस नहीं करती थीं। इसीलिए उनके पास लोकल आदमी ज़रा कम जाता था। हावड़ा से आए लोग ही उनके असली ग्राहक थे, जो खाते-पीते भी थे।

शारदा ने जिस मुक्त हृदय से सबका मनोरंजन किया, उसकी प्रशंसा सबके चेहरों पर छा गई। वह खुद चाहती थी कि कोई भी दूसरी जगह न जाए। सब वहीं बारी-बारी से बैठें। वह जाकर एक लम्बे क्रद की तुनकमिजाज लगने वाली औरतनुमा लड़की को बुला लाई जो काफ़ी सज-संवर कर आई थी। शारदा बिना मेक-अप भी उससे हज़ार गुना ज़्यादा आकर्षक लग रही थी। उसकी सिफ़ारिश का किसी पर कोई असर नहीं हुआ। अन्त में बन्ने भाई अन्दर रह गए और हम सब बाहर निकल आए।

इस बीच आसमान बादलों से घिर आया था। बिजली कौंध रही थी। हम लोग जाने लगे तो दूसरी लड़की ने चिल्लाकर शारदा को यह बताया। भड़ाक से दरवाज़ा खुला और लगभग विवस्त्र शारदा बाहर निकल आई, हम लोगों से चिरौरी करने लगी कि कहीं और न जाएँ।

हमने कहा, 'अभी घूम कर आते हैं।' तब तक बारिश शुरू हो गई। शारदा हममें से एक से लिपट कर बोली, 'तुम इसे क्यों नहीं पसन्द कर लेते हो।' उसका इशारा उस दूसरी कन्या की ओर था जो अपने नकचढ़ेपन के कारण किसी को नहीं भा रही थी।

बन्ने भाई अपनी मामूली पोशाक और मुद्रा में खौरियाते हुए बाहर आए और लगभग घसीटते हुए उसे भीतर ले गए। पल भर में ही वह छूट कर फिर निकल आई, 'ए मानुस! कहाँ जाएगा, वृष्टी होती है... अरे रुको!... ऐ शाला! कहाँ जाता है!' भागने वालों ने मुड़ कर नहीं देखा।

XX

- मोद नाई खाएगा ?

- हम नहीं खाता।

- अरे, खाओ ना! दो नम्बर माल के बिना मजा नहीं आएगा।

- दो नम्बर माल ?

- हाँ! देखो, एक नम्बर माल हम हैं। दो नम्बर मोद!... अरे तुम इतनी गर्मी लगता है, हम हवा करेगा।

- सुनो मोद लाएगा कौन ?
- हम लाएगा। लाओ, तीन टाका देने से फाइल ले आएगा।

- तीन टाका ?
- नोई। तीस पैसा बोटल वापस करने से मिलेगा।

वह शायद वहाँ का सबसे बड़ा मकान था। मकान क्या था चिड़ियाघर था। लड़कियाँ ही लड़कियाँ! हमारे पहुँचने पर उन्होंने कहा, 'बाबू! हमारे पास भी ट्रांजिस्टर है। आओ ना!'

दरअसल शारदा के यहाँ से लौट आने वाला यदि किसी के यहाँ जाए तो यह बड़ी सम्मानजनक स्थिति थी, उस के लिए। उन लड़कियों में काफ़ी शरारत और छेड़छाड़ थी। कोई कहने लगी, 'अरे, बाबू लोग का पाकेट में पैसा नहीं है तभी तो बैठता नहीं है!'

हमारे पहले वाले दो साथी ढूँढ़ते हुए वहाँ आए। उन्होंने कमीजें उतार कर हाथ में ले रखी थीं। बारिश में भीगने के पहले वे पसीने में भीग चुके थे और खुली हवा यथाशक्ति नथुनों से अन्दर खींच रहे थे।... मैंने देखा एक काली लड़की अलग-थलग सी बैठी थी और बातचीत में किसी स्तर पर भी शामिल नहीं हुई थी। उसकी आँखों में बंगाल का जादू कूट-कूट कर भरा था। उससे उबरना सम्भव नहीं हुआ। उसके दाँतों को मोती कहने में किसी को एतराज नहीं हो सकता था। अन्य सभी लड़कियों की तरह उसमें भी रूमानियत की लिजलिजाहट नहीं थी। जो कि सिर्फ शारदा का हिस्सा थी।... खैर, उतनी निर्लिप्त नहीं निकली वह। भाँपते ही आगे बढ़ आई। लालटेन लेकर मैंने भी उसका रूप देखा। उसने कहा, 'लालटेन मुझे दो! तुम देखो।' मगर मैं लालटेन पकड़े देखता रहा। उसकी आँखें, कतई भी नकली नहीं थीं। इतनी बड़ी और गरू आँखें मैंने कभी देखी हों, याद नहीं आया। उसका कोयले-सा काला रंग यवनिका मात्र लगा। एक जोड़ी बेजोड़ आँखें थीं, तीन रूपए छह आने में! आँखें देखने के लिए होती हैं। आँखें थोड़ी देर के लिए बिकने के लिए भी होती हैं। भोग्य भी होती हैं, यह अनुभव कीमती था।

उसके कमरे में पूजा का काफ़ी सामान था। खूब ऊँचा एक तख्त था जिस पर शोलापुरी चादर थी। मच्छरदानी थी (मच्छर ज़्यादा थे)। ट्रांजिस्टर भी था। ताज्जुब यह कि उसके होने की घोषणा उसने नहीं की थी। मगर कपड़े बहुत

घटिया थे। अंग-वस्त्र भी घरेलू सिलाई वाला था उसने कहा, 'बोहनी का टाइम है। पैसे देंगे?' वह दस आने वापस करने लगी।

वह मोद लेने गई थी। मैं कमरे का सामान जाँचने लगा। दीवार पर फ़ोटो थे। वह किसी भी कस्बाई कुँवारी लड़की की तरह आँचल थामे बैठी थी, उसके साथ कोई सहेली थी। उन्हीं दोनों के कई चित्र दीवार पर थे। फ़ोटो में दोनों का रंग खुलता हुआ आया था। काफ़ी फ़र्क मालूम पड़ता था।

मोद खाकर पता चला कि कुछ साथी पहले ही क्यों खरीद कर ले गए थे।

एक लोकप्रिय गीत रेडियो पर आ रहा था। उसने थिरकना शुरू कर दिया और देर तक नाचती रही। मैं हाथ के पंखे से हवा झलता रहा। तब तक एक शराबी झोंका आया और उसे छूकर मैंने पूछा, 'तुम क्या पारो हो?'

'कौन पारो! मैं तो मनु हूँ, मनु! बाबू! मजेदार मनु!'

वह पारो को नहीं जानती थी। चन्द्रमुखी को भी नहीं। देवदास उनके गाँव में एक हलवाहे का नाम था।

पास के किसी गाँव की लड़की थी वह। उसकी मौसी उसे यहाँ लाई थी। उसके आने की वजह थी, रुपया। उससे बड़ी बहन का ब्याह होने को था और उसी के निमित्त वह पिछले कुछ महीनों से वहाँ थी।

उसकी बड़ी बहन भी यहाँ रह चुकी थी। सबसे बड़ी बहन की शादी के लिए। मनु ने कहा, 'इसमें क्या बात है। मेरा ब्याह होगा तो मेरी छोटी बहन यहाँ बैठेगी।'

- उससे छोटी कोई बहन है ?

- नहीं।

- तो फिर उसकी शादी के लिए कौन बैठेगा ?

- कोई नहीं।

- तो ? उसकी शादी कैसे होगी ?

- उसकी शादी नहीं होगी। माँ-पाप के लिए भी तो कोई होना चाहिए।

वह लालटेन की बत्ती कम करने लगी। उसे बताया कि इसकी ज़रूरत नहीं है। उसने कुछ कम कर ही दी। चोला

बदला। अब वह लाल अंगोछा, जिसे मजदूर कन्धे पर डाल कर चलते हैं, उसके आधे शरीर पर लिपटा था। उसने ट्रांजिस्टर बन्द कर दिया क्यों कि ख़बरें आने लगी थीं। एक तेल की बोतल उठा लाई। यह कोई देसी दवा थी, संक्रमण से बचने के लिए। चन्दन में लिपटे साँपों की डसन से बचने के लिए। बड़ी मुश्किल से उसे समझाया कि यह सब नहीं होगा। उसे सिर्फ़ बातें करनी हैं।

- क्या मैं सुन्दर नहीं हूँ ?
- मेरा रंग शारदा जैसा नहीं है! छिः मैं भी क्या हूँ!
- दरवाज़े पर दस्तक देकर किसी ने कहा 'जल्दी करो! पुलिस आ रही है।'
- क्या करती पुलिस यहाँ आकर ?
- टाका माँगता है।
- तुमसे या ग्राहक से ?
- दोनों से। मगर अभी नहीं आया है, ये तो डराने के लिए ऐसा बोलता है।
- मेरे जाने के बाद क्या होगा ? क्या दूसरा तलाश करोगी ?
- नहीं तो क्या, अभी तो बोहनी हुआ है। चार-पाँच और आने से अच्छा होगा।
- मिल जाता है इतना आदमी ?
- नहीं, रोज़ कहाँ मिलता है। मोइना-पगार के दिन औनेक लोक आता है, नहीं तो एक-दो, एक-दो कर के लगा रहता।... शारदा के पास बहुत लोक जाता है।
- क्यों जाता है शारदा के पास ?
- उसका रंग गोरी है ना, इसलिए बिल्कुल फ़िल्मि एक्ट्रेस के माफ़िक ! हमारा चूल (बाल) उससे लम्बा है।
- हाँ, तुम्हारी आँखें भी उससे सुन्दर हैं।

उसने बुलाया- किसी दिन दोपहर को आओ, तो आराम से बातें हो। खाना खाओ, मोद खाओ शाम तक रहो। कुल जमा दस रुपए लगेँगे। वैसे तो रात भर का भी यही रेट है मगर वह समय सर्वोपरि है। मतलब नहाने के बाद से बाहर जाकर बैठने तक का।

लेकिन रथ-यात्रा के दिनों मत आना। तब धन्धा नहीं चलता है। भला जगन्नाथ के रथ के चलते कैसे चल सकता है।

हम सब उसी गली में, चाय की दुकान में बैठे थे। त्वचा पर नमक की पर्तें जम गई थीं। दिये के बराबर आयतन वाले हुण्डों में दस नए वाली चाय थी। हमलोग दूसरा दौर खत्म करें इससे पहले ही तीन-चार ललनाएँ वहाँ चली आईं। इनमें वे सब थीं जिनके कमरों में हम लोग होकर आए थे। उन्हें भी चाय पिलाई गई, फिर सिगरेट, फिर पान। कुछ देर वे बीच में आकर कृतार्थ करती रहीं मानो चाय-पान का अहसान उतार रही हों, तब तक गली में लुंगियाँ और धोतियाँ आने लगीं और वे फुर्र-से उड़ गईं।

हम लोग वापसी के लिए चले तो बन्ने भाई ने, गुप्ता से चार रुपए माँगे और बोले, 'अभी आया दस मिनट में और तेजी से गली के अन्दर चले गए। हम लोग कुछ झल्लाए फिर हँस पड़े। उनकी प्रतीक्षा में खड़े रहे।

शारदा खाली बोतल आँचल में छिपाए जा रही थी। शायद किसी के लिए मोद लाने। उसने एक बार भी नज़र उठा कर हमारी तरफ नहीं देखा। उसके कुछ देर बाद मनु भी उसी तरह गुजरी। बोली, 'क्या घर नहीं जाएगा ?'

सचमुच दस मिनट बाद फिर से पसीने से नहाए हुए बन्ने भाई लौट आए। कोई कुछ नहीं बोला। नौ बज कर कुछ मिनट हो गए थे। आखिरी बस साढ़े नौ के आसपास मिलती थी। बस में बैठने से पहले एक और साथी-अभी दस मिनट में आया कह कर भागे। उन की वजह से बस को डेढ़-दो मिनट रुकवाए रहना पड़ा।

बस के बाहर घना अन्धेरा था। फुहारें पड़ने लगीं। और पहुँचने तक मौसम काफ़ी ठण्डा हो गया था। हमें उसी कीचड़ भरे रास्ते से लौटना था। घर जा कर डिटाल के पानी से रगड़-रगड़ कर नहाया जाए किसी ने विचार प्रकट किया।

X X

फ्री-स्कूल स्ट्रीट की ठण्डी सड़क ! चार-पाँच चक्कर।

दास ने कहा, 'भई, उसी के पास चलें। ऐसे तो कुछ दिखाई पड़ेगा नहीं।'

हम वापस लौटे। पंजाबी-होटल के बाहर उसका रिक्शा खड़ा था। जब तक हम रिक्शे का नम्बर मिला कर ठीक से पहचानें, वह आ गया। 'चला जाए सरकार!' खैनी मलते हुए वह बोला। उसे ठहरने को कह कर हम चाय के लिए होटल में गए।

खासा अखाड़ा जमा था वहाँ। हिप्पी और देसी जोड़े मेजों के आगे-पीछे बैठे वही सब कर रहे थे जो कि आम तौर पर धर्मतल्ले के रेस्त्राओं में, फ़ैमिली-केबिन्स में किया जाता है। वहाँ बैठ कर चाय पीने में मज़ा आया। उस मंच पर दर्शक तो हम दो ही थे, बाकी सब किसी-न-किसी प्रकार की भूमिका निभा रहे थे।

हमें बिठाकर रिक्शावाले फतीमुद्दीन ने जब जुआ कन्धे पर रखा तो उसके लकीरों से भरे चेहरे पर अतिरिक्त सन्तुष्टि थी। उसके मुँह में खैनी थी और कन्धे पर दो कस्टमर! ऊपर नीचे होकर उसने हमें तौला और भागने लगा।

फतीमुद्दीन हमें शाम को टकरा गया था। उसका विस्तृत परिचय लिया था हमने। फिर भी एकदम से जाने को तैयार नहीं हो पाए थे। उसका कहना था कि पिछले पच्चीस बरसों से वह इस धन्धे में है। यानी जब से मुल्क आज़ाद हुआ तब से। कुछ दिनों वह भी अपने रिक्शे पर तिरंगा चढ़ाए रहा था, क्योंकि जबर्दस्त हलचल मची थी। उसे किसी ने बताया था कि आज़ाद होने के बाद सरकार सबसे पहले हाथ-रिक्शे खत्म करेगी और उन लोगों को धन्धे से लगाएगी। अब उसे ऐसी कोई गलतफहमी नहीं थी। उसका दावा था कि उसके माध्यम से कभी किसी कस्टमर का अहित नहीं हुआ, किसी के साथ भी ठगी-बदमाशी नहीं हुई। हर तरह के माल का सम्पर्क उसके पास है, दस रुपए से लेकर सौ-एक सौ बीस तक! कमरे में बैठने वाली से लेकर बंगले वाली तक। हर किसी को नहीं ले जाता है। और हर किसी के पास नहीं ले जाता है।

कुछ-कुछ रास्ता हम भी जानते थे। वह हमें बेवजह चक्कर कटा रहा था (ताकि रास्ता या मकान न पहचान सकें)। वह किदवई रोड पर ले आया और आगे जाकर फिर वापस ले आया। हम लोग आराम से बैठे रहे। तभी लगा कि रिक्शे के पीछे-पीछे एक आदमी भागता हुआ चल रहा है। मुड़कर उसका क्रिया-कलाप देखने लगे। वह दाएँ-बाएँ कहता चल रहा था और फतीमुद्दीन उसके निर्देशों का पालन कर रहा था। 'यह आदमी दलाल है।' दास ने मुझे अंग्रेज़ी में

बताया। दलाल घुटनों तक लांग कसी धोती और छीट की कमीज पहने था। उसका रंग बिल्कुल काला था और ओठों के किनारों से पान की पीक बह रही थी। उसके पीछे भागने का ढंग बिल्कुल यान्त्रिक था। दुलकी चाल वाले घोड़े की तरह। फतीमुद्दीन भी उसी तरह सिर झुकाए दौड़ रहा था। उसकी गर्दन पर पसीने की धारा फूट रही थी।

रिक्शा जमीन पर टिका कर उसने बीड़ी निकाली। दलाल और वह धीमे सुर में थोड़ी देर तक बतियाते रहे। फिर बीड़ी जेब में रखकर उसने रिक्शा कन्धे पर ले लिया। सवारी बढ़ चली। हमें व्यर्थ में यह अनुभूति होती रही कि स्ट्रीट के लोग, दुकानदार वगैरह हमें घूर कर देख रहे हैं।

उस घुड़दौड़ का अन्त हुआ एक गैरेज के पास। कई फटेहाल छोकरे वहाँ बैठे थे। उन्होंने हमारे आने का कोई नोटिस नहीं लिया। बीड़ी सुलगा कर फतीमुद्दीन ने कहा, 'आप लोग इनके साथ अन्दर जाइए। पसन्द आए तो बैठिएगा नहीं तो वापस आ जाइए, मैं यहाँ खड़ा हूँ।'

दास ने बिगड़ कर कहा, 'तुम हमारे साथ चलो। तुम्हें पैसे किस लिए देंगे! ...और समझ लो कुछ गड़बड़ हुई तो हम तुम्हीं को पकड़ेंगे। समझे!' वह हँस पड़ा और आगे बढ़ गया। गैरेज के बगल में मकान था। दरवाज़ा बन्द था।

खटखटाए जाने पर एक मुँह वाले बिहारी पहलवान ने दरवाज़ा खोलकर मुँह बाहर निकाला। दूसरे ही क्षण हम लोग अन्दर और दरवाज़ा बन्द!

लकड़ी के जीने पर चढ़ते हुए थोड़ी घबराहट महसूस हो रही थी। मगर दास की काया और बंगाली जुबान का भरोसा था। प्रत्युत्पन्नमति भी थी उसमें।

हमें सोफ़ा पर बिठा कर पंखा चला दिया फतीमुद्दीन ने और बाहर चला गया। दलाल दरवाज़े पर खड़ा रहा।

दोहरे कद की मैडम ने आकर हमारी रही-सही घबराहट भी दूर कर दी। बड़ी विनम्रता से अभिवादन किया उन्होंने। फिर एक नौकर को पुकार कर कहा, 'मेम साहब लोग को यहाँ भेजो, देखते नहीं गेस्ट आए हैं!'

हम जहाँ बैठे थे वहाँ से पहले तल्ले के कई केबिन दिखाई पड़ रहे थे, जो कि एक कतार में थे। उनमें से एक दरवाज़े पर एक गंवई हाथ में बड़ी-सी चिलमची लिए कन्धे पर तौलिया डाले खड़ा था। शायद वाश करने वाला था।

तीन अलग-अलग कद की लड़कियाँ अन्दर आईं। वे एक कतार बना कर हमारे सामने खड़ी हो गईं। दास ने कोहनी से टहोका देकर कहा, 'लो, पसन्द कर लो!'

तीनों फौज के सिपाहियों की तरह सीना आगे को निकाले खड़ी थीं। एक छोटे कद वाली स्कर्ट पहने थी, बाकी दो साड़ियों में। देखे जाने के क्षणों में वे पथराई हुई-सी रहीं, चेहरे पर मुस्तैद स्वयंसेवक वाला भाव था। फिर बहुत ही नियोजित ढंग से एड़ी के बल पीछे को घूम कर, वापस पहले वाली स्थिति में- उनके चेहरे और हाथ-पाँव पाउडर की पर्तों से ढके थे। गाल और ऑठ रंगरेजवा के रंगे मालूम पड़ते थे।

मैंने पाया कि दास, मैडम और दलाल की निगाहें मुझ पर लगी थीं। क्षण संकरे होते जा रहे थे। मैंने गरदन हिला दी। सब ढीले हो गए, वह टुकड़ी फौरन वहाँ से चली गई।

मैडम ने कतई बुरा नहीं माना, 'आप के लायक दो लड़कियाँ हैं, मगर आज छुट्टी पर हैं।' तुरन्त ही उन्हें कोई नाम याद आया तो दलाल से कहा, 'जाओ, रूबी मेमसाब को हमारा सलाम बोलो। शायद खाली हों!'

रूबी मेम साब पानी में तैरने की पोशाक में हवा में तैरती हुई आई। वह विशुद्ध देसी नस्ल की लड़की थी और चूँकि उसे इंग्लिश बताया जाता था, इसलिए सिगरेट पीते हुए बेतकल्लुफी से आई थी। उसकी पुताई-लिपाई बड़े पैमाने पर हुई थी। अकेला आदमी तो इतना काम कर नहीं सकता था। कई तो तिल बनाए गए थे!

इस बार मैडम ने पहल की, 'शी इज ओनली थर्टीन! ये बड़े साहब लोग के लिए हैं। जेंटिलमैन नो बारगेन प्लीज। फिक्स्ड रेट थर्टी रूपीज़।'

दास ने धड़ल्ले से कहा, 'धत! इसके तीस रुपए! पन्द्रह से नया पैसा ऊपर नहीं।' मैडम को गुस्सा नहीं आना था, नहीं आया। बहुत ठण्डेपन से उन्होंने कहा, 'पच्चीस से कम कोई बात होगी नहीं। बेबी! ऐसे खड़ा क्यों है, साहब लोग को दिखलाओ ठीक से।'

'और ऊपर से कितने लगेंगे?' दास ने अपनी खास आँख-तरेर अदा में पूछा। मैं बड़े संकोच में था, मुझे उसका यह अतिक्रमण पसन्द नहीं आ रहा था वह भी मैडम-जैसी सौजन्य की मूर्ति के प्रति!

मैडम ने कहा, 'दो रुपए धुलाई वाले को दीजिएगा कि नहीं! और बाकी खाने-पीने का- वह आपकी मर्जी पर है। हाँ, धुलाई करवाना ज़रूरी है। हम लोग बीमारी वाले को यहाँ बैठने नहीं देते।'

दास ने कहा, 'तुम समझती हो हमें धुलाई की ज़रूरत है? दो रुपए फोकट के लेने हैं?'

मैडम ने काटने वाले ठण्डेपन से कहा, 'साब! हमारे यहाँ धुला हुआ टावेल मिलेगा जो अच्छी-से-अच्छी जगह पर भी नहीं मिलता। हरेक कस्टमर के लिए नया धुला हुआ टावेल!'

फिर से 'पन्द्रह रुपए' कहे गए और बातचीत टूट गई। रिक्शेवाला अन्दर आकर बोला, 'आओ साब! ये नहीं मानेगी। मैं आप को ऐसी जगह ले चलता हूँ जहाँ तीस रुपए में रात भर रहिए।... स्साला! साब लोग ठीक तो कहता है, पन्द्रह रुपए... हूँह!'

'ऐई, दस नम्बर ले चलो।' पीछे दौड़ते हुए दलाल ने कहा।

दस नम्बर हो गया... तेरह नम्बर... तीन... एक और ... और एक... फिर वही सड़क! वही जुआ कन्धे पर रख कर भागते हुए फतीमुद्दीन के नंगे पाँव... पीछे भागता दाएँ-बाएँ कहता दल्ला... दल्ले के नंगे पाँवों की आवाज.. . धीरे-धीरे हम पहचानने लगे, उन सड़कों पर, गलियों में सैकड़ों फतीमुद्दीन और दल्ले भाग रहे थे। उनके शरीर से पसीना चू रहा था। उनके श्रम का कोई नाप-जोख नहीं हो सकता था। जब तक ग्राहक सन्तुष्ट न हो जाएँ। उस तरफ से दोनों को कमीशन और सवारियों की ओर से रिक्शेवाले को एक-आध रुपया!

खासा विशाल उद्योग था। हजारों की रोटी इसमें दिखाई दी। हमारी जेबों में भी थी। दल्ले और एजेण्टों के अलावा गेट पर बैठ कर अतिथियों को सलाम करने वाले, पानी की चिलमचियाँ और तौलिए ले कर हर किसी को धोने-पोंछने वाले छोकरे, मैडमें और बड़ी अम्माएँ, शराब और पान लाने वाले सब हिन्दुस्तानी नागरिक जैसे दिख रहे थे। फतीमुद्दीन तो इस धन्धे में सन सैंतालिस से था। याने रजत-जयन्ती मना चुका था... दल्ले भी मना ही लेते... सिर्फ लड़कियाँ थीं जो पट्टे पर चलती हैं, उन्हें आवश्यक रूप से सेवानिवृत्त होना पड़ता है।

उन मकानों में भीड़ थी, हर तरह के लोगों की। प्रवासियों की, वासियों की। कई लोग झेंपते-सकुचाते से आते थे तो कई सीना तान कर गरियाते-धकियाते। कई भय के मारे नर्वस थे तो कई नर्वसनेस की वजह से पल्ला झाड़ कर जान-छुड़ाए-से भागने की तैयारी में थे। हट्टे-कट्टे सिख थे, टाई-पैण्ट वाले दक्षिण भारतीय थे और लुंगी-धोती वाले बिहारी, मारवाड़ी और यू.पी. वाले लोग थे। उनके अलग-अलग क्रेज थे जो तकरार की वजह बनते थे। हर मकान में बेतरतीब लकड़ी-प्लाई के पार्टीशन थे। और ज़्यादा-से-ज़्यादा। इस चक्कर में कई मकान तो खासे पिजन-होल बन गए थे। नीचे की मंजिल में घटिया माल होता था, जिनके गालियों के फव्वारे छूटे ही रहते थे। ग्राहक को पाँच मिनट में किस तरह बाहर निकाल देना है।, यही उनकी सारी चिन्ता होती है। उनके ग्राहक भी एक अलग किस्म के लोग होते हैं, जिन्हें गालियाँ और धक्के खाने में आनन्द आता है। बहुत से पति भी ऐसे होते हैं।

ऊपर की मंजिलों में आधुनिकता दिखाई दी। स्कर्ट, बैल-बाट्स अंग्रेज़ी के फिकरे। चीनी लड़कियों ने अपनी कमर निर्दयतापूर्वक बाँधी थी। इस क्षीण-कटि वाली मनोवृत्ति के कारण दूसरी लड़कियों से जुदा लग रही थीं। उनके रेट भी नियत थे मगर चेहरे ...और आँखें। यहीं तो लोकल माल सबको पीछे छोड़ जाता है।

अन्त में हमने ही यह सिलसिला तोड़ा। एक रुपया थमाया फतीमुद्दीन को और कहा, 'कल आँगे, आज तो तुम ने सब ऐसा ही माल दिखाया। कल ठीक से दिखाना।' उसने नोट लेकर सलाम किया और हमारे इरादे के प्रति दिलचस्पी दिखाते हुए पूछा, 'कितने बजे मिला जाए साहिब?' मगर दल्ले के चेहरे पर मुर्दनी छा गई थी। उसने कुछ न कहते हुए भी अपनी मुख-मुद्रा से काफ़ी कुछ कह दिया।

हम उतरकर चले तो एक नौजवान हमारे पीछे से आया और बराबर में चलने लगा। बिना किसी औपचारिकता निभाए उसने कहा, 'साब, आप कहाँ फँस गये थे। आपके लायक चीज़ हमारे पास है। मेरे साथ चलिए... बस दो कदम दूर पर है। कालेज-गर्ल है साब, 'यूनिवर्सिटी' में पढ़ता है।

...पचास रुपया लगेगा साब मगर बाजारु माल नहीं है। आइए ना!

एक थी जयश्री, दूसरी बबिता! नाम के बजाय ट्रेड-मार्क ज़्यादा लगे। उनका हल्का मेकअप उन्हें आम बाजारु लड़कियों से ऊँचा उठाए था। यूनिवर्सिटी में तो क्या होंगी, पढ़ी-लिखी ज़रूर थीं। ध्यान से देखने पर उनके चेहरे पर कुछ 'मैन्युफैक्चरिंग डिफेक्ट' भी नज़र आए। सन्तुलन को यदि कसौटी माना जाए तो वे कुछ-कुछ सुन्दर ज़रूर थीं। हम लोगों की बातचीतनुमा प्रश्नावली उनके लिए नई नहीं थी, मगर आगे जा कर उन्हें कुछ सन्देह हुआ। 'आप लोग शायर तो नहीं हैं?' जयश्री ने आँखें फैला कर पूछा।

आगे पता लगा कि कई लेखक उनके पास आते रहे हैं। हिन्दी, बंगला और कुछ अन्य भाषाओं के। उनकी कहानी सुन गए हैं, उनके बारे में शेर और गजल लिख गए हैं। उनके बयान पर ज़्यादा यकीन नहीं हुआ, फिर उन्होंने जोर देकर कहा तो मानना पड़ा।

उन्हें इस बात पर नाज था कि वे व्यावसायिक वेश्याएँ नहीं थीं। वे भले घरों से आती थीं। शाम को घर से पर्स लेकर चलने और रात को देर होने से पहले लौट आने को उनके मोहल्ले वाले नौकरी ही समझते थे। इस जगह बैठने का किराया-कमीशन उन्हें देना पड़ता था जो कि सहनीय था। आने की कई वजहें थीं। रिटायर्ड बाप, बेकार भाई और शादी की असम्भावना। वहाँ शादी-ब्याह तय होते हैं, दहेज में दिए जाने वाले सोने की मात्रा और नगदी के आधार पर। इन हालातों में महत्त्वाकांक्षी लड़कियों के लिए नौकरी करके दहेज जुटाने और घर का बोझ उठाने के अतिरिक्त आखिर क्या विकल्प हो सकता है।

जयश्री, बबिता और उन जैसी हज़ारों अनाम लड़कियों के लिए यह धन्धा नौकरी से कहीं ज़्यादा सुविधाजनक है। सहज भी। शीघ्र ही वे अपना दहेज जुटा लेंगी, जिसे पाकर वर-पक्ष फूला नहीं समाएगा।

X X

मेट्रो सिनेमा के सामने झगड़ा हुआ भीड़ के बीच।

वह सिख युवक लड़की का हाथ छोड़ने को तैयार नहीं था। उसने आखिर पूरे पैसे दिए थे और वह ठेंगा दिखाकर जाने को हो रही थी। लड़की आगबबूला हुई, उसे गालियाँ देकर कह रही थी, 'कमरे के पैसे दे अलग से, नहीं तो क्या सड़क पर बैठेगा!' पैसे तय करते समय यह मुगालता उसे रह गया था कि कमरे का भाड़ा भी शामिल होगा। वह अजनबी

आदमी था, और कोई उसकी जगह होता तो दब जाता, मगर वह गुरू निकला। जब सारी आतिशबाजी चुकता हो गई तब लड़की ने ब्लाउज में से पाँच का एक नोट निकाला और नीचे डाल दिया। उसका हाथ छूट गया। इस पूरे प्रसंग में किसी तीसरे आदमी ने हस्तक्षेप नहीं किया। बस तमाशा देखते सब खड़े रहे।

लड़की वहाँ से छूटकर एक लम्बा चक्कर काटती हुई शहीद-मीनार के पास पहुँची। पीछे-पीछे हम। वह चाय पीने लगी और हम मूड़ी की पुड़िया खरीद कर मीनार की मुँडेर पर जा बैठे, जो तरह-तरह के एकाकी लोगों से भरी थी। ये सब दफ़्तरों से छूट कर आए हुए लोग थे, जिनके परिवार कहीं और होते थे। ज़्यादातर लोग डूबते सूरज की ओर सम्मोहित से देख रहे थे।

मूड़ी फाँकते हुए ही हमारे सामने का मैदान पानीपत बनने लगा। घुड़सवार पुलिस का पूरा जत्था वहाँ आ पहुँचा था। दंगे-बलवे की आशांका से नहीं, परेड के लिए। घोड़ों ने पंक्तिबद्ध हो कर काफ़ी धूल उड़ाई और फिर आनन-फानन में रफा-दफा हो गए। मैदान में लोग बैठने लगे।

वर्मा ने पार्क की तरफ़ से आता लड़कियों का गिरोह दिखाया। थोड़ी देर बाद मैंने उसे एक और गिरोह दिखाया। उसके बाद दिखाने-देखने की समस्या न रही, क्योंकि झुटपुटे में जाने कितने माल निकल आए थे और उनका खासा पब्लिक रेस्पान्स देखने में आ रहा था। जगह-जगह एन्काउण्टर होने लगे थे। देर तक देखने के बाद भी यह गोरखधन्धा समझ में नहीं आया तो उठे और मैदान को कर्णवत् भाँपने लगे।

एक-दो जगह मैदान के लोगों से उन की वार्ता सुनने से समझ में आया कि रुपए-पैसे की बात होती है। चार टाका-तीन टाका, के बाद 'धुस्साला' और जैरामजी की। वे लड़कियाँ करीब-करीब एक जैसी ही थीं दो-तीन प्रौढ़ाओं को छोड़कर जो सारे माहौल को एक अलग किस्म का रंग अपनी शुभ-उपस्थिति से दे रही थीं।

मुश्किल यह थी कि संवाद बंगला में होते थे। राष्ट्रभाषा को इस सम्मान से वंचित रहते ही देखा। यह भी स्पष्ट नहीं हो रहा था कि सौदा किस आधार पर हो रहा है। जगह कहीं मिलेगी? या उसी सिख की तरह मेट्रो के सामने ले जाकर झगड़ा करेंगी!

हमें अपने चुलबुलेपन से आकर्षित किया एक कटे बालों वाली छोकरी ने जो बहुत तेज़ रफ़्तार से चलती थी।

देखते-देखते उसने तीन-चार लोगों को मना कर दिया, एक को इतना ज़्यादा भाव बता दिया कि उसने मुड़कर भी नहीं देखा। उसके साथ एक और जवान लड़की थी जो पूँछ की तरह पीछे ही चलती थी। हम उससे बात करने आगे बढ़ते, इससे पहले ही एक कच्ची उम्र का लड़का उसके सामने था। उसने अपने शिकार को दिलचस्पी से देखा और मिनटों में सौदा पट गया। दोनों उसे बीच में लेकर चलने लगीं बिल्कुल सटकर। वे लोग समीप बने क्लब की फेन्सिंग की ओर जा रहे थे जो काफ़ी घनी थी। वहाँ पर्याप्त अन्धेरा था। हम उनके ठीक पाँच कदम पीछे सिगरेट धौंकते।

वे उसे लेकर बैठ गईं। वह जेब से नोट निकाल रहा था। देना-लेना खत्म होते-होते एक बुढ़िया जाने कहाँ से टपकी और उनके बीच जा बैठी। जाहिर था कि रासलीला में खासा खलल पड़ता। कुछ देर बाद आँचल में रेजगारी बाँधती वह उठी और पीठ करके खड़ी हो गई, जैसे पहरा दे रही हो। हम ने उसकी परवाह नहीं की। तमाशा देखते रहे। चक्की के दो पाटों के बीच पिसता हुआ वह किशोर जाने किस यातना को भुगत रहा था! वे लोग सिर्फ़ सटकर बैठे थे।

पाँच मिनट बाद महफिल बर्खास्त हुई। वह लड़का चोर की तरह, फेन्सिंग के साथ-साथ एक ओर को और यह पार्टी हमारी तरफ़! हम लोगों ने निवेदन किया तो कहा गया, 'हिन्दी हम समझता नहीं!' खैर, काम चलाने लायक बंगला तो आती ही थी। पूछ, 'कोतो टाका?'

जवाब में आँखें गड़ाकर नायिका बोली, 'कितना मानुस है तुम्हारी पीछू?' हम ने कहा, 'बस, आमरा दूटो जौन आछे!'

उसने चौकन्नी नज़र से इधर-उधर देखा फिर दूर खड़े एक सरदार जी को दिखा कर पूछ, 'वो सरदार भी तुम्हारे संग है न?'

हमने प्रतिवाद किया। आदेश मिला कि पार्क में चलो, वहाँ बाते होंगी।

हम ने कहा, 'आपनी एकखाने बोल बेन ना?'

वह बालकटी मेरा हाथ पकड़ कर अलग ले गई और दोनों हाथ की अंगुलियों को फैला कर बड़े दो टूक ढंग से समझाने लगी, 'देखो। शेरई कोरेगा नहीं! चार टाका लगेगा.. पार्क में बोसेगा।' वर्मा जो पीछे आ लगा था भड़क कर बोला, 'तो चार टोका किस बात का लगेगा?'

वह नाराज हो कर चल दी।

थोड़ी देर बाद हम ने स्थिति को समझ लिया। यह 'पब्लिकप्लेस' था और यहाँ कानून तोड़ने को वे तैयार नहीं थीं। बहुत ही ऊपरी और स्थूल किस्म का सुख वे बेचती हैं तीन-चार रुपए में।

हम उन्हें मनाने को चले तो देखा एक और पंछी फंस गया था और उसे बीच में दबाए वे पार्क की ओर जा रही थीं। हमने सम्पर्क का दायरा बढ़ाया। एक-से-एक खूसट, भद्दे और जवान शरीर वहाँ रेंग रहे थे। टुकड़ा फेंकने भर की देर थी। शहीद मैदान का कारोबार धड़ल्ले से चल रहा था।

हमने उस लड़की के निवृत्त होने की प्रतीक्षा करना बेहतर समझा। सबसे अच्छा धन्धा वहाँ उसका चल रहा था।

चूँकि हम दो थे इसलिए सैंडविच बनाने के लिए तीनों को जुटना पड़ा। मैं वर्मा के मुकाबले बेहतर स्थिति में था, क्योंकि बुढ़िया उसकी तरफ थी। यह मालगाड़ी पार्क में एक खूब उजाले की जगह जा कर रुकी। हमारा प्रतिवाद निरर्थक सिद्ध हुआ। अन्धेरे में उन्हें शायद बल प्रयोग की आशंका थी।

ज़मीन पर टिकते ही, 'पैसा निकालो। पैसा निकालो!' की रट। बहुत समझाया कि दे देंगे। भाग कर नहीं जाएंगे, शरीफ आदमी हैं, मगर एक नहीं सुनी। वर्मा ने गुस्से में आ कर कहा, 'नहीं देते कर लो जो करना है!'

तीनों एक साथ चिल्लाने लगीं, 'शशाला लोग, टाका दीच्चे ना!... कैनो कोथा बोले छी।' उनके शोर ने लोगों का ध्यान आकर्षित किया और इसका जबर्दस्त असर हम पर पड़ा। चार रुपए निकालकर दिए तो उनका मूड तुरन्त बदल गया। अतिरिक्त सशरीर स्नेह का जन-प्रदर्शन करते हुए कहा गया, 'सेठ, झागड़ा क्यों कोरता है! टाका देता नहीं... लाओ अपना पर्स हमें दो!'

वर्मा ने कहा, 'तुम हिन्दी नहीं जानता?'

'नहीं।' उसने इठला कर उसकी तोंद पर हाथ फेरते हुए कहा, 'सेठ, तुमी खूब भालो! बिल्कुल हीरो-जैसा लगता है।'

कन्धे पर पीतल की टंकी और गैस की बत्ती लिए एक चालू चायवाला बिल्कुल सिर पर आ कर खड़ा हो गया और 'चाय गरम' की आवाज़ें लगाने लगा।

'हम चाय खाएगा, बाबू चाय कीनेगा नॉई!' वे दोनों जोरों से मचल उठीं, जैसे बच्चे मचलते हैं, कुछ कहें तब तक चाय वाले ने एक-एक कुल्हड़ सबको थमा दिया। चाय पी कर उन्होंने कुल्हड़ फेंक दिए और हाथ-वाथ फेरने लगीं।

वर्मा ने कहा, 'गाना आता है तुम्हें! एक ठो सुनाओ!'

'निकालो दो रुपया!' जवाब मिला। फिर एक खामोशी।

बुढ़िया उठकर खड़ी हो गई, 'जोल्दी कोरो! हाम को देरी होता है।'

'जाओ, मरो!' हमने कहा।

'एक टाका उसे दो ना! हमारा माँ है।'

'माँ हो या मौसी, टाका देंगे नहीं!' झल्ला कर मैंने कहा।

'देओ ना, हाय इसका बच्चा लोक को देखने जाता है। उसको ओशुख है।... आठ आना ही दाओ बाबा।' वह गिड़गिड़ाने लगी। कटे बालों वाली सीने पर सिर रखकर ओठों को कमीज पर हरकत देती हुई बोली, 'हम को भालो बाशा नहीं कोरेगा। उसको टाका दाओ ना!'

पचास पैसे का सिक्का ले कर ही बुढ़िया वहाँ से टली। टली क्या पास ही लैम्प-पोस्ट की तरह खड़ी हो गई। शायद चौकीदारी करने लगी थी। इस बीच उस ढीले, लिजलिजे, धुनी हुई रुई की तरह पोले गोशत की छुवन ने हमें बर्फ की तरह सख्त कर दिया था। जमा दिया था!

दो भयानक पंजे हमारी ओर बढ़ रहे थे। ये हाथों के नाग थे, जिनकी डसन का मार्फिया लेने लोग मैदान में सौदा करते हैं। दहशत से हमारी रुहें फना हो गईं। बचना चाहता तो वे गरम हो कर बोलीं, 'जोल्दी कोरो! दाहिना खोलो, दाइना..!'

हिन्दुस्तान के सबसे बड़े शहर की सबसे बड़ी सड़क के नज़दीक बने सबसे बड़े मैदान में हज़ारों व्यक्तियों के बीच पार्क में यह सब हो रहा था। मितली आने-जैसा मन हो गया था, मगर सिवा अपने को धिक्कारने के कोई ऐसे में क्या कर सकता है! उनके हाथ हटा दिए तो उन्हें बहुत ताज्जुब हुआ। उनका व्यवसाय बड़ा निर्मम और खरा था, ऐसे अधिकचरे ग्राहक कम ही आते थे।

तरस खा कर उन्होंने कहा, 'बोसेगा! दस रुपया होटल में खर्च करो। नहीं तो ईडन-गार्डन चलो, वहाँ पाँच टका लगेगा!'

हमने बात बदलते हुए पूछा, 'क्या तुम बच्चे वाली हो? तुम्हारी माँ कह रही थी!'

दोनों ठहाका मार कर हँसी, 'हाँ, बच्चा होता है, मगर भाड़े का! वो गोद में रहने से पुलिस कुछ कर नहीं सकता।'

उनकी मुक्त हँसी ने हमें सहमा दिया। ध्यान आया कई जगह माँग में सिन्दूर भरे, गोद में शिशु लिए कई औरतों को सन्देशास्पद ढंग से खड़े देखा है।

हमारे पास से उठते ही उन्हें दो ग्राहक टकरा गए थे। खेल शुरू हुए मुश्किल से आधा घण्टा हुआ होगा, मगर बारह रुपए कमा लिए थे उन्होंने। इतनी आसान कमाई हो तो किसे गरज पड़ी है कि दो रोटियों के लिए दुनिया के पापड़ बेले।

मैदान में एक 'कृष्णकली' मिली जो गाते हुए बातें करती थी। हमें देख कर मुस्कुराई, सफेद दाँत खूब चमका कर, फिर 'ओ मेरे सोना रे, सोना रे, सोना... चार टका... दे दूँगी जान... चार टका... दे दूँगी जान खफा मत होना।' मिनट भर में चकराघिन्नी की तरह वह पूरे मैदान में नाच गई।

कुछ देर बाद वह और उसकी एक सखी किसी 'मुर्गे की जेब से गोलगप्पे खा रही थीं।

हम लोग दिमागी स्ट्रेस-स्ट्रेन मिटाने सड़क किनारे के टी-स्टाल की बेंच पर जा बैठे। चाय पीते हुए नज़र एक साढ़े तीन फुटी छोकरी पर पड़ी जो सिगरेट सुलगा रही थी। उसे बड़ी फंटीमार अदा से सिगरेट जलाते हुए देख कर दादा लोग हँस रहे थे। उसे रत्ती भर फ़िक्र नहीं थी। पहला कश खींच कर उसने ढेर सारा धुँआ उगला और हँसने वालों की तरफ आँख दबाई। फिर तीर की तरह पार्क की ओर चली गई।

'क्या यह लड़की भी धन्धा करती है?' सिगरेट बेचने वाले से पूछा।

'हाँ साब! अभी नई-नई आई है बस्ती से! ये साली लोग पैदा होते ही ये सब...!'

ट्राम-स्टैण्ड पर प्रतीक्षा करते-करते ऊब कर बस की तलाश में जाने को हुए तो वह छुटकनी फिर दिखाई पड़ी। लंगड़ाती हुई आ रही थी। उससे दस फुट पीछे एक काला आदमी था जो शायद उसका संरक्षक था। दलाल भी।

वह आकर ट्राम-स्टैण्ड के फ़र्श पर बैठ गई। काला आदमी दूर खड़ा रहा। हमारी दिलचस्पी बढ़ी। एक दूसरे को देखा और दोनों उसके सामने। वर्मा ने सिगरेट उसकी ओर बढ़ाई जो उसने बिना किसी झिझक के ले ली और ओठों में दबा कर तिरछी नज़र देखने लगी।

'क्यों, हमें पहचाना?' माचिस देते हुए वर्मा ने कहा।

बड़े आराम से धुआँ उड़ाते हुए वह बोली, 'हाँ, पहचानेगा क्यों नहीं! तुम स्साला उस दिन बिना पैसा दिए भाग गया था। निकालो दो रुपए!' थोड़ी देर के लिए हम सकते में आ गए, मगर वह खिलखिला कर हँस पड़ी। जोरों से हँस कर बोली, 'अब हम बैठेगा नहीं बाबू! थक गया है। एक साला बुडबक हमें मार दिया है साला!'

काला आदमी पीछे से बोला, 'नहीं, जाएगा कैसे नहीं! साब ये जरूर बैठेगा! आपके पास कमरा है?' हम चुप रहे तो फिर बोला, 'साब पार्क में ले जाइए। दोनों आदमी का दस रुपया देंगे।'

वह फुर्ती से उठ खड़ी हुई और उसे गालियाँ देने लगी। वह जाने को तैयार नहीं थी, आदमी चिढ़ गया, मगर मजबूर था। वह लंगड़ाती निकल कर ओझल हो गई।

काला आदमी क्षमा याचना के भाव से हमारी ओर देख कर कहने लगा, 'साब, आप लोग यहीं रुकिए। मैं उसको लेकर अभी आता हूँ।... जाइएगा नहीं! माल बहुत फस्क्लास है, एकदम तेज़ झाल मारता है!' वह भी उसी दिशा के उसी अन्धेरे में खो गया।

X X

खुदा की भेजी ट्राम तभी आ गई थी।

हाबड़ा मैदान के सामने खूब गाढ़ी चाय पी। दोस्त के आग्रह पर। चाय कण्ठनली में चिपक गई और वह मिठास के रूप में देर तक घुलती रही। उस सिनेमा के बगलवाली गली में घुसे, तब तक उस चाय की मिठास कायम थी।

ताज्जुब की बात थी। सिनेमा के बगलवाली गली में अन्धेरा था। मगर शायद ऐसे शो अन्धेरे में ही होते हैं।

कोई ऐसा रहस्य नहीं था वहाँ। उस 'एल' की शकल वाली गली में सिनेमा वाली दीवार के सहारे यहाँ से वहाँ तक लड़कियाँ-ही-लड़कियाँ खड़ी थीं। दिखाई दे रही थीं, इसलिए कि उनके हाथों में लालटेनें लटक रही थीं।

हम निकले तो फिकरेकशी होने लगी, 'इधर आओ ना, बड़ा छैला है!... हीरो, धरमिन्दर ज़रा इधर तो आ!'

मैंने एक लड़की को ध्यान से देखा। मेरे उस ओर मुँह करते ही उसकी लालटेन उठ कर चेहरे तक आ गई। मुश्किल से ग्यारह साल की रही होगी। बाँस की खपच्ची जैसी! पिचका हुआ चेहरा, जिस पर मुर्दाशंख ढेर सा पुता था। लालटेन की पीली रोशनी में वह खोद कर लाई गई लाश-जैसी लगी। उसके बाद हम जैसे-जैसे आगे बढ़ते गए, लालटेनें हवा में उठती गईं। यही मुर्दाशंख से लिपे चुसे हुए आम जैसे चेहरे। जरीदार कुर्ते या हैण्डलूम की साड़ियाँ। हम निकलते जाते तो लालटेनें नीची होती जातीं।

सड़न और बदबू के मारे सिर भन्ना रहा था। वहाँ से निकल भागते, अगर वह कतई बचकाना चेहरा न दिखाई पड़ जाता। उसे उस कतार में खड़ी देख कर अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हुआ। वह देखने में नौ साल की नन्ही-मुन्नी फ़ाक पहने, हाथ में मोमबत्ती लिए खड़ी थी। मैं उसके पास जाकर रुक गया। उसने खट से माचिस जलाकर मोमबत्ती जला ली। वह मोमबत्ती चेहरे के इतना नज़दीक ले आई कि मुझे खतरा महसूस हुआ, कहीं उसके बालों में आग न लग जाए!

'चौलुन बाबू!' वह मचल कर बोली तो रहा-सहा शक भी जाता रहा।

'तुम भी धन्धा करती हो?' लगभग काँपते स्वर में उससे पूछा। आस-पास की लड़कियाँ हँस पड़ीं। एक ने कहा, 'अन्दर जाकर मजा देखो ना बाबू! ये तो कश्मीर की कली है! मोटा-मोटा मानुस इसके घोर में बोसता है!'

वह मुन्नी बहुत उतावली हो उठी। हाथ पकड़ कर खींचने लगी, 'ऐशो। ...ऐशो ना! पाँच टाका लेगा, भीतोर चौलो!'

झटके से हाथ छोड़ा लिया। वह आहत हो उठी। हम उसकी आँखों की आर्द्रता देख पाएँ, इससे पहले ही मोमबत्ती बुझा दी उसने।

मैंने च्यूटी काट कर अपने को जगाया। आजादी के छब्बीसवें वर्ष में मैं ऐसा लोमहर्षक दुःस्वप्न क्यों देख रहा था!

मेरी आँखों के आगे बहूबाजार के वो मकान छा गए, जिनके बाहर बीस-बीस लड़कियाँ, औरतें और प्रौढ़ाएँ सजधज कर शाम से रात तक बैठी रहती हैं। उनकी आँखें सड़क पर आने-जाने वालों पर लगी रहती हैं। आखिर कितने खरीदार आ सकते हैं! ज्यादातर बैठे-बैठे जम जाती हैं, उनके शरीर सुन्न पड़ जाते हैं। वे गली के बेकार लड़कों का आते-जाते से पूजा का चन्दा माँगना-एँठना देखा करती हैं। खासा होल-सेल मार्केट है बहू-बाजार। दस साल से लेकर पचास तक हर तरह का माल यहाँ इफरात से मिलता है। सब्जी बाजार की तरह ठेले सजे रहते हैं। खरीदार टटोल कर, ठोंक बजाकर माल परखते हैं और देर तक भाव-ताव होता है। मगर ये सब लाइसेन्स वाले चकले हैं। पुलिस इनकी रक्षा करती है। बिजली वाले इन्हें बेइन्तहा रोशनी देते हैं। काफ़ी हद तक यहाँ की रोशनी गरीबी के अन्धेरे को दूर करती है।

मगर हावड़ा की बस्तियों में संकरी गलियों में होने वाले व्यापार को देखना अपने आप में एक खतरनाक अनुभव लगा। ऐसे क्षणों में कस्बाई पृष्ठभूमि वाला आदमी अपने कई खूबसूरत विभ्रमों को झटके से टूटता हुआ महसूस करता है।

उसी 'एल' शकल वाली गली में किसी मकान से निकला हुआ एक बिहारी मजदूर पेशाब करने बैठा था। उसके पास से गुज़रे तो उसकी कराहें सुनीं। जी धक्क से रह गया। बिना पूछे न रहा गया, शायद किसी ने उसे जख्मी कर दिया।... बिना उठे ही कराह कर उसने बताया कि पेशाब करते समय उसे खून आता है। बहुत तकलीफ होती है। यह जख्म उसने अपने-आप को दिया।

हावड़ा और सलकिया की घुन खाई बस्तियों में और गोदी इलाकों में लाखों मजदूर रहते हैं, जो इस महानगर में खटते हुए तमाम उम्र काट देते हैं। उन्हें रहने को घर की ज़रूरत नहीं पड़ती क्योंकि परिवार के लोग देस में रहते हैं। उनकी नारी-पिपासा इन्हीं बदबूदार दमघोट माहौल वाली अन्धेरी गलियों में बने विष कुण्डों में बुझती है। रुपए-दो रुपए में और उनका खून गन्दा हो जाता है।

साप्ताहिक हिन्दुस्तान,
2 दिसम्बर 1973, से साभार



राजेन्द्र राव

स्मृति

राजेन्द्र राव

शरशय्या पर लेटे कवि से साक्षात्कार

कोई कितना ही बड़ा पोंगापंथी क्यों न हो, कभी-कभी लीक छोड़कर चलने में बेवजह मज़ा आने लगता है। ऐसे ही किसी क्षण में यह निर्णय लिया गया होगा कि दूरदर्शन के लिए पं. सोहनलाल द्विवेदी पर एक टीवी फ़िल्म बनायी जाये। उनका अंतरंग साक्षात्कार लेने के लिए इस नाचीज को चुना गया। दूरदर्शन का प्रस्ताव सुनते ही मन में द्विवेदी जी के कई गीत एक के बाद एक गूँज उठे। मेरी पीढ़ी के लोगों को सोहनलाल द्विवेदी की कविताएँ और राज कपूर की फ़िल्मों के गीत घुट्टी में पिलाये गये, इसलिए इस सिलसिले में किसी गंभीर क्रिस्म की तैयारी की ज़रूरत नहीं समझी गयी।

हिन्दी के तीसरे अघोषित, परंतु सबसे लोकप्रिय राष्ट्रकवि अपने जीवन के 82 बसंत देख चुके हैं। पता चला कि निरंतर रुग्ण रहने के कारण लगभग पका आम हैं। दूरदर्शन के आलोक शुक्ल इस कार्यक्रम के संयोजनकर्ता थे। जाड़े की कुहासा घिरी शाम को हम लोगों का काफ़िला उनके पैतृक निवास बिंदकी (फतेहपुर) पहुँचा। लगभग अंधेरे में डूबे उस जर्जर मकान के एक बाहरी कमरे में लकड़ी के तखत पर मैली कथरी ओढ़े हिन्दी काव्य के इतिहास पुरुष हारे-थके-से लेटे थे। परिचय आदि के बाद जब वे उठ कर बैठे, तो लगा, अब हड्डियों का एक ढाँचा भर रह गये हैं। उनके पास ही उनके अपंग पुत्र प्रभुदयाल का बिछौना था, जिन्होंने विस्तार से हमें द्विवेदी जी की जीवन स्थितियों के बारे में बताया। मुझे पहले तो निराशा और खीज हुई, मन-ही-मन हिन्दी जगत को धिक्कारा कि सोहनलाल द्विवेदी के पाये के कवि की बुढ़ापे में यह हालत है, तो छोटे-मोटे कवियों को तो हमारा हृदयहीन समाज भला क्या घास डालता होगा ?

दूरदर्शनिया तामझाम को देख कर उनके परिवारजन और बिंदकी निवासी भले ही प्रसन्न हुए हों, द्विवेदी जी कुछ उद्विग्न ही रहे। मानो कह रहे हों- बहुत देर की मेहरबाँ आते आते। स्वतंत्रतापूर्व जनसभाओं में और बाद में कवि सम्मेलनों में शेर की तरह दहाड़ कर काव्यपाठ करने वाले कद्दावर कवि अपनी प्रथम चर्चित रचना 'राणा प्रताप' सुनाने लगे, तो दो पंक्तियों के बाद ही उनकी साँस उखड़ने लगी। उनका परिवेश और जीवन देख कर साफ समझ में आ रहा था कि गाँधी युग के अंतिम स्तंभ को उपेक्षा का घुन बुरी तरह खा चुका है। क्या इस स्थिति को ज्यों-का-त्यों हम दूरदर्शन पर जनता को दिखाने के लिए साहस जुटा पायेंगे ?

द्विवेदी जी कार्यक्रम तथा साक्षात्कार देने के लिए सहमत तो हो गये, परंतु काम शुरू करते ही यह एहसास हो गया कि हम सचमुच बहुत देर से आये हैं। उनके शरीर में जान ही नहीं बची थी। हाथ पैर काँपते थे। वाणी पर नियंत्रण नहीं रह गया था, कभी-कभी तो होंठ हिलते रह जाते, परंतु स्वर सुनाई नहीं देता था। कैमरा चलाया जाता, प्रश्न किया जाता, उत्तर देने लगते, लेकिन जल्दी ही तारतम्य टूट जाता। स्मृतिभ्रंश के प्रभाव में कहाँ से कहाँ पहुँच जाते। यही हाल काव्यपाठ का रहा, 'लालकिले पर झंडा फहराने वालो,' सुनाते-सुनाते 'खादी गीत' गाने लगे।

सुबह तैयार करके उन्हें घर के सामने नीम के पेड़ के नीचे बिठाया गया। उनके कुछ पुराने संगी-साथी भी बुलाये गये। किसी ने सत्याग्रह में जेल काटी थी, तो किसी ने असहयोग आंदोलन के दिनों में रेलवे स्टेशन ही फूंक दिया था।

आजादी की लड़ाई से लगभग चौथाई सदी जुड़े रहे द्विवेदी जी अपने आत्माभिमान और दबंगई के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सत्ता जब गाँधी युग के सितारों के हाथों में आयी, तो उनके करीब होने का फायदा उठा कर वे चाहते, तो अपने बेटे-पोतों को, नाते-रिश्तेदारों को निहाल करवा सकते थे, परंतु उन्होंने कभी भी अपने निजी काम के लिए नेता या मंत्री से कुछ भी नहीं कहा। बहरहाल, उनसे बातचीत की शुरुआत कुछ इस तरह से हुई -

★ **सवाल :** हमारे संविधान में राष्ट्रकवि पद का कोई प्रावधान नहीं है, फिर भी अब तक तीन शीर्षस्थ कवि इस पदवी से विभूषित होते रहे हैं। इस पर कुछ कहेंगे ?

★ **जवाब :** देखो ऐसा है कि जैसे किसी सिपाही को खुश करने के लिए लोग-बाग उसे दारोगा जी कह देते हैं, उसी तरह हिन्दी में किसी-किसी कवि को लोग राष्ट्रकवि कहने लगते हैं।

★ **सवाल :** क्या आज की ज्वलंत समस्याओं का समाधान गाँधीवादी तरीकों से किया जा सकता है? आज की परिस्थितियों में गाँधी जी होते, तो क्या करते ?

★ **जवाब :** आज जो हालत है, उसमें गाँधी जी भी कुछ नहीं कर पाते, और जब गाँधी जी ही भुला दिये गये, तो उनके तरीकों का क्या जिक्र !

उनके दो मकान हैं, दूसरे मकान की पहली मंजिल पर बने एक स्वतंत्र हालनुमा कमरे में बैठ कर लिखा-पढ़ा करते थे, घर गृहस्थी की झंझटों से कुछ दूर। अब वहाँ उनके कनिष्ठ पुत्र सपरिवार रहते हैं। सोची गयी रणनीति के तहत द्विवेदी जी को उनकी पौत्री ने सजाया-धजाया, खादी का रेशमी कुरता पहना कर दुपट्टा ओढ़ाया और उन्हें उठाकर उनके पुराने लेखन कक्ष में ले आया गया।

हमने पूछा, 'चाचा, आपकी कविताएँ और प्रयाण गीत गाते हुए हज़ारों सत्याग्रही जेल जाते थे, परंतु आप स्वयं कभी कृष्ण मंदिर में नहीं गये। ऐसा क्यों हुआ ?'

उन्होंने काशी विश्वविद्यालय के अपने छात्र जीवन के प्रसंग सुनाते हुए कहा कि जेल तो जाना चाहता था, क्योंकि जेल जाने की उमंग उन दिनों प्रत्येक युवा हृदय में उठा करती थी, परंतु मालवीय जी ने नहीं जाने दिया। एक जनसभा में उनके मुख से 'राणा प्रताप' जैसी ओजस्वी रचना सुनकर महामना उनकी प्रतिभा को पहचान कर उन्हें अपनी छत्रछाया में ले चुके थे। शहीद यतींद्रनाथ दास की अंत्येष्टि पर बनारस में हुई श्रद्धांजलि सभा में- 'दुनिया में जीने का सबसे सुन्दर मधुर तकाजा/हे शहीद ! उठने दे अपना फूलों भरा जनाजा।' सुनाकर सी आई डी की नज़र में आने के बावजूद मालवीय जी के हस्तक्षेप के कारण जेल जाने से बचे, तो फिर बचे ही रहे।

बचपन में देसी घी की जलेबियाँ खाने और नौकरों तक को खिलाने वाले जर्मीदार घराने के बालक सोहनलाल

के मन में राष्ट्रप्रेम कैसे जागा ? उन्होंने इस प्रश्न के उत्तर में गणेश शंकर विद्यार्थी का भावपूर्ण स्मरण करते हुए कहा, 'उनका भाषण ऐसा होता था कि सुन कर तन-बदन में आग-सी लग जाती थी।' उन दिनों ऐसी ही विभूतियाँ थीं। गणेश जी के बाद मालवीय जी और फिर स्वतंत्रता संग्राम का अहिंसक शंख फूँकते हुए गाँधी जी। नतीजा यह कि एम.ए., एल.एल.बी. करने के बाद जब कचहरी में युवा सोहनलाल का बस्ता बनवाया गया, तो वकालत इन्हें फूटी आँख नहीं भायी। गाँधी जी का अनुकरण किया और वकालत छोड़-छाड़ कर 'युगावतार गाँधी', 'खादी गीत', 'हथकड़ियाँ', 'बढ़े चलो', 'गाँवों में' और 'झोपड़ियों की ओर' जैसी कविताएँ लिखने और भरी सभाओं में सुनाने में जुट गये। जनता की भाषा में, जनता के लिए ऐसे प्रेरक गीत लिखने वाला उनके बाद कोई और नहीं हुआ। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद तो राष्ट्रवादी कविताओं का मानो युग ही बीत गया।

चाचा से हुई लंबी बातचीत में हमने पाया कि महात्मा गाँधी के प्रति वे जीवन भर समर्पित रहे हैं- 'गाँधी जी में देवत्व था। उनकी बात कोई टाल नहीं सकता था। उनके मुँह से निकला हुआ शब्द पूरे देश के लिए स्वेच्छा से पालन किये जाने वाले आदेश की तरह था। उन्होंने कहा- खादी पहनो, सब खादी पहनने लगे। विदेशी कपड़ों की होली जलायी जाती थी। उन दिनों खादी पहनना शान की बात समझी जाती थी। विदेशी वस्त्र पहनने वालों को सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता था।'

'और अब ?'

'अब क्या है! अब कौन पहनता है खादी! मंत्री तक टेरीकोट के कपड़े पहने घूमते हैं।'

'ऐसा क्यों हो गया चाचा ?'

'अरे तब गाँधी जी थे। सब नेता उनका कहा पत्थर की लकीर मानते थे। अब कौन है ऐसा!'

द्विवेदी जी ने कई वर्षों तक पत्रकारिता भी की। लखनऊ के दैनिक 'अधिकार' तथा इंडियन प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित बच्चों की पत्रिका 'बाल सखा' का संपादन किया। 2 अक्टूबर 1994 को गाँधी जी की हीरक जयंती पर द्विवेदी जी द्वारा संपादित गाँधी अभिनंदन ग्रंथ उन्हें भेंट किया

गया। इस ग्रंथ की सामग्री और साज-सज्जा अद्वितीय थी। इसमें भारतीय भाषाओं के ही नहीं, विदेशी भाषाओं के प्रतिनिधि साहित्यकारों की गाँधी जी से संबंधित चुनी हुई रचनाएँ भी मूल तथा हिन्दी रूपांतर सहित बहुत सुरुचिपूर्ण ढंग से प्रस्तुत की गयी थीं। कुमारिल स्वामी तथा सुधीर खास्तगीर जैसे शीर्षस्थ चित्रकारों ने इस ग्रंथ की सज्जा में अपना योगदान दिया था। परतंत्र भारत में ऐसा अभिनव प्रस्तुतिकरण द्विवेदी जी की संपादन और संयोजक प्रतिभा का एक प्रभावशाली उदाहरण है।

चाचा के बिखरे हुए पत्र और चित्रों को उलटते-पलटते गाँधी जी का यह पत्र देखने को मिला।

भाई सोहनलाल जी,

आपकी कृति के गुण-दोष के बारे में क्या कहूँ? काव्यों की परीक्षा करने की मेरे में कोई योग्यता नहीं पाता। मेरी स्तुति में जो काव्य लिखे गये हैं, उस बारे में मैं क्या कह सकता हूँ? हाँ, इतना मैं कह सकता हूँ सही, आपने परिश्रम काफी उठाया है। कोई भी शुभ परिश्रम व्यर्थ नहीं जाता है।

-बापू के आशीर्वाद

द्विवेदी जी के प्रारंभिक संकलन इंडियन प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुए। इन पुस्तकों को अभूतपूर्व लोकप्रियता मिली। 'वीर तुम बढ़े चलो' और 'खादी गीत' तो बच्चे-बच्चे की जुबान पर चढ़ गया। स्वतंत्र भारत में प्राइमरी कक्षाओं की हिन्दी पाठ्यपुस्तकों में द्विवेदी जी की रचनाएँ अनिवार्य रूप से रहती आयी हैं। इन कविताओं को समझना और याद करना कभी भी कठिन नहीं लगा।

लाखों-करोड़ों लोग सोहनलाल द्विवेदी की राष्ट्रीय कविताओं को पढ़ते हुए हिन्दी पढ़े हैं। भाषा और साहित्य के प्रति उनका यह योगदान ही उन्हें अविस्मरणीय बनाने के लिए पर्याप्त है। सन 1960 तक स्वाधीन भारत के जननायकों से उनका मोहभंग हो चुका था। तब उन्होंने 'ओ लाल किले पर झंडा फहराने वालो, पहले जवाब दो मेरे चंद सवालों का!' कविता लिखी, जिसके 'धर्मयुग' में छपते ही तहलका मच गया।

साक्षात्कार के दौरान चाचा ने दुखी हो कर कहा कि उन्हें 'ओ लाल किले पर झंडा फहराने वालो' कविता ऑल

इंडिया रेडियो पर नहीं पढ़ने दी गयी थी। वह चाहते थे कि दूरदर्शन पर उसका पाठ करें। हमारे प्रोड्यूसर आलोक शुक्ल एकदम तैयार हो गये। अपने शरीर में बची-खुची सारी ऊर्जा समेट कर वह उठ बैठे और लरजते स्वर में कविता पाठ करने लगे-

ऐ लाल किले पर झंडा फहराने वालो
सच कहना, कितने साथी, साथ तुम्हारे हैं ?
क्या आज खुशी की लहर देश में है सचमुच,
उठ रहे खुशी के सचमुच ऊँचे नारे हैं ?
कब तक ऐसे झूठे त्योहार मनाओगे
कब तक ऐसे झूठे श्रृंगार सजाओगे !
जिसमें मन खुल कर खिले नहीं मुरझाया हो
ऐसे दुर्दिन में, तुम नाचोगे, तुम गाओगे ?

पिछले तीन-चार वर्षों से उनका लिखना बिल्कुल बंद हो गया था, क्योंकि वह लगातार बीमार रहे। 19 जनवरी 87' को उनका साक्षात्कार टेप पर अंकित करके वहाँ से चलने लगे, तो जाने क्यों मुझे लगा कि अब चाचा से मुलाकात नहीं हो पायेगी। उनसे आग्रह किया कि किसी तरह चार पंक्तियाँ अपने हाथ से लिख दें। उन्होंने कृपापूर्वक स्वीकार कर लिया, परंतु अपने हाथ से लिखने में असमर्थ थे, तो बोल कर यह आशु कविता मुझे लिखवायी (जो कि उनके जीवन की अंतिम कविता हो कर रह गयी है) -

क्या चार पंक्तियाँ तुमको लिखवाऊँ
चालीस भी लिखवाऊँ तो कम होंगी,
जो कृपा की है आ कर यहाँ तुमने
उससे ही दूर अनेकों भ्रम होंगे।
फिर आगे-आगे और लिखो
मैं तुम्हें लिखाता जाऊँगा।
जब तक न सबेरा हो जाये
तब तक कविता लिखवाऊँगा।
जब जी भर जाये तो बतला देना
उस समय मौन हो जाऊँगा।
जब तुम फिर याद दिलाओगे
तब नयी-नयी कविताएँ तुम्हें सुनाऊँगा।

तब भी यह अनुमान नहीं था कि चाचा इतनी जल्दी मौन हो जायेंगे। उनका साक्षात्कार रिकॉर्ड करके लौटने के चालीसवें दिन यानी 28 फरवरी '88 को ही उनका निधन हो गया। तब तक उन पर बनायी गयी फ़िल्म का संपादन कार्य प्रारंभ भी नहीं हुआ था। जल्दबाजी में काट-छाँट करके जो कुछ बन पड़ा, वह रस्मी तौर पर लखनऊ केन्द्र से प्रसारित कर दिया गया और फिर वह कैसेट किसी टंडी आलमारी में डाल दिये गये। दूरदर्शन अपने राष्ट्रीय कार्यक्रम में पं. सोहनलाल द्विवेदी को दिखाने का सम्मान पाने से वंचित रह गया। सँभवतः यह सम्मान उसे अभीष्ट भी नहीं था।

धारा के विरुद्ध

राजेन्द्र राव

विमोचन एक बला

वे नहीं माने। करवा ही लिया अपने कथा संग्रह का विमोचन। समारोह में थोड़ी चखचख भी हुई क्योंकि विशेष रूप से आमंत्रित एक प्रगतिशील लेखक ने भाषण कुछ इस तरह शुरू किया, “दोस्तो! सच तो यह है कि इनकी मैंने कोई भी कहानी नहीं पढ़ी है। पढ़ना तो दूर रहा निमंत्रण मिलने से पहले मैं जानता भी नहीं था कि ये कहानियाँ लिखते हैं क्योंकि व्यावसायिक पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाली ट्रेश रचनाएँ मैं पढ़ता नहीं, न ही भविष्य में पढ़ने की कोई सम्भावना है इसलिये मैं इनकी कहानियों के बजाए हिन्दी कहानी की दशा पर बोलूँगा...” इस संवेदनहीन और क्रूर आघात से उस कथाकार को कितनी पीड़ा हुई होगी इसका अनुमान लगाया जा सकता है।

सवाल उठता है कि यह पुस्तक विमोचन क्यों करवाये जाते हैं? क्या यह किसी तरह का साहित्यिक कर्मकांड है? पहले यह मर्ज सिर्फ कवियों तक सीमित था, अब कथाकार भी इसके शिकार हो गये हैं। इस तरह की तमाम ग़लत परंपराओं की तरह यह भी देश की राजधानी से शुरू हुई है। दूसरे शहरों में कुछ लेखक पुस्तक प्रकाशित होने पर दिल्ली पहुँचते हैं और अपनी गाड़ी या पतली कमाई का एक हिस्सा दिल्ली शहर में विमोचन कराने पर खर्च करते हैं। लेखक गाँठ का पूरा दिखाई दे तो भाई लोग कॉकटेल पार्टी भी झटकने में नहीं चूकते।

खूँटा और खूँटे

लघु पत्रिका प्रकाशित करने का जुनून लेखकों पर क्यों सवार होता है और इस जद्दोजहद से गुज़रते हुए उन्हें और परिवार के लोगों को किस किस की तकलीफों से गुज़रना पड़ता है, इसका लेखा जोखा टिप्पणी या निबंध के बजाए कहानी के रूप में पढ़ना चाहते हैं तो आनंद अस्थाना की कहानी 'खूँटे' को पढ़ें। यह उनके सद्यःप्रकाशित कथा संकलन 'गिरोह तथा अन्य कहानियाँ' में संकलित है।

'खूँटे' की तर्ज पर पत्रिकाबाजी को हम भी दुखती हुई रग ही मानते थे कि कलकत्ता में एक तेज़ रतार युवा संपादक ने हमें सिक्के का दूसरा पहलू दिखाया। इनका कहना है कि तथाकथित अव्यावसायिकता महज एक छद्म भर है। पत्रिका चाहे कितनी ही लघु क्यों न हो उसके जरिये बहुत से काम बनाए जा सकते हैं। एक बहुचर्चित पत्रिका के बारे में उन्होंने बताया कि संपादक महोदय स्वयं एक प्रिंटिंग प्रेस के मालिक हैं। पत्रिका के तेवरों के बल पर और आला अफ़सरान की रचनाएँ छाप कर न सिर्फ़ सरकारी विज्ञापन मिलते हैं बल्कि प्रेस के लिये अच्छा खासा जॉब वर्क भी मिल जाता है, आकर्षक दरों पर। इसमें घाटे का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। लघु पत्रिका के संपादकगण आपसी व्यवहार और लेनदेन का पूरा ध्यान रखते हैं। अति विशिष्ट व्यक्ति (वी.आई.पी.) का दर्जा तो मिल ही जाता है। हिन्दी में ऐसे कई नान-प्रेक्टिसिंग राइटर्स हैं जो लघु पत्रिका की संपादकी के दम पर साहित्य में जिंदा हैं।

एक मित्र का कहना है कि लगातार दर्जन भर कहानियाँ संपादक के अभिवादन और खेद सहित लौट आने पर गुस्से और खीझ की एक सात्विक परिणति लघु पत्रिका प्रकाशित करने का निर्णय लेने में होती है। दो तीन अंक निकलते-निकलते न सिर्फ़ कहानियों का लौटना बंद हो जाता है बल्कि उन पर चर्चा भी होने लगती है। इस लिहाज से तो यह कोई महँगा सौदा नहीं है। क्यों आनंद अस्थाना जी ?

खाकी लेखक

आज की हिन्दी कहानी साहित्येतर जीविका से जुड़े लेखकों के हाथों में है। सफ़ेद कालरवाली प्रतिभाओं के दिन गये। विश्वविद्यालयी हिन्दी अध्यापकों और उच्च मध्य वर्गीय शालीन गृहणियों की कहानियाँ अब पाठकों को उबाने लगी

हैं। तकनीशियनों, चिकित्सकों, वैज्ञानिकों और लघुउद्यमियों की तरह पुलिसकर्मी भी कथालेखन के क्षेत्र में सक्रिय हुए हैं। सिपाही-दारोगा-थानेदार तो अभी हाथ में डंडा ही पकड़े हैं परंतु दो-तीन युवा पुलिस अधिकारी नियमित रूप से लेखन कार्य में संलग्न नज़र आते हैं। इनकी आमद का कोई भी संबंध साहित्य के क्षेत्र में व्याप्त अराजकता से नहीं है।

हाथ में बाकी टाकी, तन पर खाकी वर्दी, सर पर पी कैप वाले विभूति नारायण राय से बातचीत करके जल्दी ही मालूम पड़ गया कि उनका हृदय विशुद्ध साहित्यकार का हृदय है- 'साहित्य से तो मैं छात्र जीवन से ही जुड़ा हूँ, पुलिस की नौकरी तो बाद में लगी' भारतीय पुलिस की जनमानस में जो छवि है, उसके कारण हमारे मन में भले ही पूर्वाग्रह रहें परंतु जब मैंने विभूति नारायण का उपन्यास 'शहर में कफ़्यू' पढ़ा तो मुझे उनके इस कथन पर विश्वास हो गया कि 'यह साहित्य ही है जिसने दस वर्ष की पुलिस की नौकरी में भी मेरी संवेदनशीलता को बचाए रखा।' 'शहर में कफ़्यू' एक सशक्त और प्रामाणिक कृति है जो कि न सिर्फ़ सांप्रदायिकता की आड़ में समाज के ठेकेदारों द्वारा की जा रही जन विरोधी कार्यवाइयों के विरुद्ध कथा साहित्य में नया मोर्चा खोलती है बल्कि युवा पीढ़ी के पुलिस अधिकारियों के मानवीय दृष्टिकोण के अस्तित्व के बारे में निश्चित सूचना भी देती है।

अहिल्या बनने की मजबूरी

हिंदी कहानी में सेक्स और सेक्सवाद से संजीव और कात्यायनी बेवजह चिंतित हैं। अपने यहाँ तो अभी मुग्धा नायिका युग ही चल रहा है जहाँ नायक को थरमस देते हुए नायिका का हाथ छू जाता है तो तन बदन सिहर उठते हैं जैसा कि सरयू शर्मा की घनघोर रूमानी कहानी 'सीप' (हँस-मई 88) में होता है हालाँकि मूल कथ्य वर्जनाओं को तोड़ने से ही संबंधित है जिसमें 37-38 वर्ष की तथाकथित प्रौढ़ किन्तु आकर्षक देहयष्टि वाली कुमुदिनी शुक्ला (जो कि दो जवान लड़कियों की माँ है और विवाहित जीवन के दो दशक एक गुमसुम प्रोफ़ेसर के साथ बिता चुकी है) पति की अनुपस्थिति में एक सागर अध्ययन-दल के साथ छोटे जहाज पर, सौम्य-सुदर्शन एवं वयस के अनुकूल धीर-गंभीर मणिकांत के प्रति आकर्षित होती है परंतु भरपूर अवसर मिलने पर भी सलवार कमीज में ही समुद्र में गोता मारकर अपने में मग्न हो जाती है। बाद में मणिकांत की देह यष्टि को उजागर करते

तन से गीले वस्त्रों को हाथ से दूर करती वह मुग्धा और जड़ होकर, अहिल्या की तरह शिला बन जाती है।

इस कड़ी में एक और कहानी गीतांजलि श्री की 'दोपहर' (कहानियाँ मार्च 88)। इसकी नायिका अपनी स्वतंत्रता के प्रति सचेत और सतर्क तो इतनी है कि छः वर्ष के रोमांस के बाद भी मैंगनी तोड़ देती है मगर सुंदर, सुडौल विजय पर मुग्ध बनी रहती है। सौम्य, भले-भोले चेहरे वाला लेखक अमरेन्द्र भी अच्छा लगता है। एक दोपहर वह अपने दड़बे में हमेशा की तरह अकेली होती है कि एक के बाद एक दोनों नायक प्रगट होते हैं। तीनों पहले चाय फिर साथ बैठकर व्हिस्की पीने लगते हैं। तीन पैग पीने के बाद विद्रोहिणी मगर मुग्धा नायिका खाना बनाने रसोई में चली जाती है, दोनों युवक शतरंज खेलने में मसरूफ हो जाते हैं और उसे एकदम भुलाकर अपनी-अपनी चालें चलने लगते हैं। वह कुर्सी पर बैठ कर सो जाती है, अहिल्या की तरह शिला हो जाती है। जाहिर है कि हिन्दी को सेक्स से कोई खतरा नहीं है, न ही सेक्सवाद से क्योंकि लगभग सभी उपलब्ध नायिकाएँ फ्रीज्ड हो चुकी हैं और नायक तो शरच्चंद्रियन थे, वही रहेंगे।

सच्चे हमदर्द

एक हैं- युवा कथालोचक। आप महिला लेखकों के जबर्दस्त पक्षधर और सच्चे हमदर्द हैं। आपकी मान्यता है कि लिंग के आधार पर कथाकारों का विभाजन नहीं होना चाहिए। इसके विरुद्ध आवाज़ के लिये आप पत्रिकाओं के महिला कथाकार विशेषांकों में महिला कथाकारों की कहानियों पर सच्ची-हमदर्दी के साथ लिखते हैं। इनकी प्रिय कथाकारों की सूची देखकर यदि आप किसी आधार भूमि की खोज न कर पायें तो ढूँढ़कर सबके चित्र एक साथ रख कर देख लें। इनकी चयन प्रक्रिया समझने में देर नहीं लगेगी।

काँधे पर सलीब और विरासत का सुख

अंग्रेज़ी की चिकनिया (ग्लॉसी) मासिक पत्रिका 'सोसायटी' के अक्टूबर अंक में मुखपृष्ठ पर 'उन्हें मुंशी प्रेमचंद का पुत्र कहलाने से नफरत क्यों है' शीर्षक पढ़कर चौंक उठना स्वाभाविक था। अंदर के पृष्ठों पर अमृत राय से भेंटवार्ता पर आधारित एक दिलचस्प लेख पढ़ने को मिला। मानना पड़ा कि साक्षात्कार लेने और लिखने के मामले में

अंग्रेज़ी पत्रकारिता हमसे कोसों आगे है। इस छोटे से लेख में कई नयी जानकारियाँ तो सामने आती ही हैं, अमृत राय की सोच का एक अचर्चित पहलू भी सामने आता है। पता लगता है कि अमृत राय लगभग तीन एकड़ भूमि पर बने खूबसूरत बंगले 'धूप छाँव' में ठाठ से रहते हैं। उनकी पत्नी सुधा जी प्रख्यात लेखिका सुभद्रा कुमारी चौहान की पुत्री हैं। पुत्र आलोक ने अंग्रेज़ी साहित्य में पीएच.डी. विदेशी विश्वविद्यालय से की है और उनकी रुचि आजकल कम्प्यूटर में है। बंगले में 1951 मॉडल की हिन्दुस्तान कार और नयी मारुति अगल बगल खड़ी हैं, वगैरह।

अमृत राय चूँकि स्वयं भी जाने-माने लेखक हैं इसलिए प्रेमचंद का पुत्र होना उनके लिए लिखित रूप से सुविधाजनक होने के साथ-साथ अपनी पहचान अलग से बनाने के मामले में दुविधाजनक भी रहा होगा। सोसायटी की संवाददाता से बातचीत करते हुए इस संदर्भ में उन्होंने लगभग कटु होकर कह डाला है, 'यह एक दुखती रग बन गया है। अपने (महान) पिता की बरगद छाँव से बाहर आने में मुझे लगभग एक जीवनकाल लग गया। मेरा अपना कृतित्व (कम से कम) परिभाषा की दृष्टि से उनके कृतित्व से कम नहीं।' अमृत जी को शिकायत है कि पत्रकार अक्सर मुंशी प्रेमचंद के बारे में बात करने के लिए उनके पास आते हैं। महान पिता का पुत्र होने का यह खामियाजा भुगतान पड़ा है कि उनके अपने कृतित्व का मूल्यांकन समुचित रूप से नहीं हो सका।

'यह सलीब मुझे जिंदगी भर ढोना पड़ा है'- कहते हैं अमृतराय। उनके उच्चस्तरीय रहन-सहन और सुविधापूर्ण जीवन के बारे में प्रश्नकर्ता की सवालिया निगाह उठने पर उनकी प्रतिक्रिया है कि, 'प्रेमचंद का विश्वास था कि यदि सुख-सुविधाएँ अपने आप बिना प्रयास किये जीवन में आयें तो हर्ज क्या है।' सचमुच प्रेमचंद की धरोहर अनमोल है। उन्होंने हमारे साहित्य को समृद्ध किया तो उनका परिवार समृद्धि में क्यों न जिये। सच्चाई तो यह है कि प्रेमचंद की परंपरा की दुहाई देने वाले ज़्यादातर कथाकारों के मसीहा वैभवपूर्ण जीवन जीते-जीते जब मानसिक रूप से ऊब जाते हैं, तो गरीब किसानों और मजदूरों को याद करने लगते हैं, जिसे यकीन न आता हो खुद जाकर अपनी आँखों देख ले।

हिमाकत-कथकंडे-ब्लैकमेल उर्फ साहित्यिक पत्रकारिता

साहित्य और पत्रकारिता के अंतर्संबंधों के संदर्भ में आज की साहित्यिक पत्रकारिता की ख़बर लेना जरूरी है। समकालीन साहित्यिक पत्रकारिता की हालत पर विचार प्रगट करने वालों में मैनेजर पांडे, अशोक वाजपेई, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, विष्णु नागर और शैलेश मटियानी जैसे नाम हैं। इनके विचारों में भिन्नता है परंतु सहमति इस बात पर कि आज की साहित्यिक पत्रकारिता पाठकोन्मुख नहीं है। अशोक वाजपेई का कहना है कि, “पहले के मुकाबले आज छोटी पत्रिकाओं की भरमार-सी है। उनमें से अनेक अपनी मित्र पत्रिकाओं की सूची भी छपती रहती हैं, हालाँकि शत्रुओं का नामोल्लेख पता नहीं किस संकोच के कारण नहीं करती हैं। शायद इसी छोटे से लगभग अलक्षित जाने वाले तथ्य में आज की साहित्यिक पत्रकारिता का सबसे आपत्तिजनक पक्ष छिपा है। उसने साहित्य को, पत्रिकाओं और लेखकों को मित्रों और शत्रुओं में बाँटने की हिमाकत की है और जब तब षड्यंत्र भी”

मैनेजर पांडे कौन कम दुखी हैं, “कुछ लोग साहित्य की दुनिया में नेता बनने या रचनात्मक स्तर पर चुक जाने के बावजूद पत्रिकाओं के संपादन का काम सँभालते हैं। ऐसे लोग प्रायः साहित्यिक पत्रकारिता में तरह-तरह के हथकंडे अपनाते हैं। कभी विरोधी लेखकों के खिलाफ पत्रिका में छद्म नाम से पत्र छपवाते हैं तो कभी पत्रों का सेंसर भी करते हैं। दिल्ली के एकाध संपादकों के बारे में यह भी ख़बर है कि वे दूसरे लेखकों के समर्थन और विरोध में पत्र लिखवाकर ब्लैकमेल भी करते हैं।

हम हशमत और समीक्षा

हिन्दी कथासाहित्य की जड़ता से संतुष्ट पाठकों के लिए भीष्म साहनी के नये उपन्यास ‘मैया दास की माड़ी’ पर लिखी गयी कृष्णा सोबती की समीक्षा एक अच्छी ख़बर हो सकती है। उन्हें इस महत्वपूर्ण कार्य के लिए आमंत्रित किया ‘इंडिया टुडे’ ने और कृष्णा जी ने भीष्म जी का जितना लिहाज किया जा सकता था, करते हुए जिस चतुराई और पैनेपन से उपन्यास की सीमाओं को उजागर किया है, वह हिन्दी गद्य का एक बेहतरीन नमूना है- ‘खोयी हुई अस्मिता

के लुटे-पुटे चिन्ह टट्टू और उन पर सवारी करते रखैलों के बेटे क्या सचमुच इतिहास की नियति के बाहर थे? पराजय की इतनी गहरी छटपटाहट में से सिर झुका देने के पहले स्वाभाविक साहसिकता की ओर क्यों न देख लिया गया? क्या तात्कालिक अनुभव के आतंक ने एक बुढ़ाती जीवन शैली के प्रामाणिक परिवेशों तक को नकार दिया।’

लेनिन विलास

जहाँ तक प्रगतिशील आलोचना का प्रश्न है डॉ. रामविलास शर्मा का लेख ‘यशपाल जी और अश्लीलता’ एक ज्वलंत उदाहरण है। इसमें यौन उच्छृंखलता के आरोप में यशपाल के कथा साहित्य को कुछ इस तरह खारिज किया गया है- ‘यही अनैतिक, अवसरवादी, टटपूँजिया, गैर जिम्मेदार दृष्टिकोण ‘पार्टी कामरेड’, ‘मनुष्य के रूप’ आदि उपन्यासों में प्रकट हुआ है।’ घनघोर साम्यवादी होते हुए भी यशपालजी को अपने बचाव में कुछ शास्त्रोक्त प्रमाण खोजने पड़े, जिनके संदर्भ में डॉ. शर्मा ने लिखा, “यौन संबंधों के बारे में अपने गलत अनैतिक दृष्टिकोण को सही ठहराने के लिए उन्होंने लेनिन का गुलत हवाला अपने एक लेख में दिया था। लेनिन ने उन लोगों का विरोध किया था जो कहते थे कि जैसे किसी स्वच्छ गिलास से पानी पीने में हानि नहीं है, वैसे ही किसी स्वस्थ नारी से यौन संबंध कायम करने में हानि नहीं है। यशपालजी ने इसका ठीक उल्टा अर्थ लगाकर ‘स्वतंत्र प्रेम’ के समर्थन में लेनिन वाद को प्रस्तुत कर दिया।”

श्री रामविलास पांडेय द्वारा संपादित ‘यशपाल-व्यक्तित्व और कृतित्व’ में अप्रतिम कथा शिल्पी पर लिखे गये महत्त्वपूर्ण लेख संकलित हैं। डॉ. रामविलास शर्मा के नजरिये के बाद एक रूसी आलोचक डॉ. वी.आई. लानकिन की टिप्पणी का यह अंश देखें, “सोवियत साहित्यिक आलोचना में यशपाल की कृतियों की तुलना शोलोखोव की कृतियों से की जाती है। वास्तव में यशपाल की रचनाओं में हमें कहीं समस्याओं का गहरा विश्लेषण, विषय का अमर महत्त्व, सामाजिक परिवेश का सच्चा चित्रांकन नज़र आता है जो शोलोखोव की कृतियों में पाया जाता है।”

सुखद आश्चर्य : अतएव

जिन लोगों का विचार है कि सरकारी अनुदान से चलने वाले साहित्यिक संस्थानों से प्रकाशित होने वाली पत्रिकाओं में भरती की रचनाओं के सिवा कुछ नहीं होता, उन्हें उ.प्र. हिन्दी संस्थान की त्रैमासिकी 'अतएव' का प्रवेशांक देखकर हैरानी होगी। वैचारिक लेख, कहानी, कविता, नाटक, संस्मरण, समीक्षा, सांस्कृतिक समाचार, श्रद्धांजलि-क्या नहीं है 280 पृष्ठ की महज दस रुपये मूल्य की इस भारी भरकम पत्रिका में। मार्कंडेय की 'निबंध सौरभ' और ममता कालिया की 'उमस' जैसी जोरदार कहानियों के साथ ही प्रगतिशील कथा साहित्य के मूल्यांकन पर चंचल चौहान की तीखी टिप्पणी ध्यान आकर्षित करती है, अपनी साफगोई की वजह से। प्रगतिशील आलोचकों की कमजोर नस पकड़ते हुए चौहान लिखते हैं, "प्रगतिवादी आलोचना का प्रस्थान बिन्दु अधिकतर हिस्सों में रचनाकार का जीवन रहा है। अगर प्रकाशचन्द्र गुप्त या रामविलास शर्मा की आलोचना पद्धति को गहराई से विश्लेषित करें तो पायेंगे कि वे रचनाकार के निजी जीवन या निजी व्यक्तित्व से आलोचना की शुरुआत करते हैं और उस व्यक्तित्व की तसवीर में कहीं-कहीं रचना के पैबंद लगा देते हैं- मूल्यांकन का परिप्रेक्ष्य यदि व्यक्ति यथार्थ की जगह सामाजिक यथार्थ देखने का रहा होता तो कहानी जैसी विधा उनके समीक्षा कर्म की मदद करती। सामाजिक यथार्थ देखने के लिए रचनाकार के बजाए रचना पर ज्यादा भरोसा करना पड़ता।"

सजग आलोचना

आलोचना की पुस्तकें प्रायः नीरस और बोझिल होती हैं। अपवाद है पंजाब प्रकाशन चंडीगढ़ द्वारा प्रकाशित डॉ. परेश का संग्रह 'आलोक और छाया' जिसे आसानी से एक ही बैठक में पढ़ा जा सकता है। इसमें कथा-साहित्य, कविता और नाटक से जुड़े विषयों पर धारदार और रोचक टिप्पणियाँ हैं जिनके माध्यम से एक दबंग आलोचक हमारे सामने उभरता है। 'आंचलिकता और आधुनिकता' लेख से एक उद्घरण साभार, "अभी यह कहने का दौर नहीं आया किन्तु इस लेख का लेखक साक्षी है उन दिनों का जब नामवर सिंह चितपुर स्ट्रीट के अंधेरे चाय घरों में 5-5 पैसे की चाय पी रहे हैं- उनके सभी प्रतिबद्ध युगसहकर्मों जाने किस जलती हुई प्रतिबद्धता से उस दग्धता को आहरित कर रहे हैं जो प्रेमचंद

के पुत्रों के माध्यम से नहीं- निराला और मुक्तिबोध की रचनाओं से चलती हुई- इस समय के सजग समीक्षक के माध्यम से समकालीन लेखन में उतरी है। इनकी यह सजगता नहीं होती तो राकेश और कमलेश्वर के पात्र शराब और सिगरेट में ही डूबे रहते और केवल उस मखमल का ही जिक्र करते जिसका जायका रीतिकाल के कवि को भी शायद मयस्सर नहीं हुआ था।'

डॉ. परेश की यह चुटकी जरा देखें, "मेरी दृष्टि से धर्मयुग के उपहार अंक में छपे हुए सारे उपन्यास मात्र कहानियाँ हैं- उपन्यास जैसा घनत्व वहाँ है नहीं। उपन्यास का वजन 200-400 ग्राम तो होना ही चाहिए।"

और अब, कहानी दरबार

वक्त के साथ-साथ सामंतशाही ने भी अपने तौर-तरीके बदले हैं। इन लोगों के आधुनिक संस्करण कथा साहित्य में उसी तरह दिखाई पड़ते हैं जैसे स्वतंत्रतापूर्व के उपन्यास-कहानियों में इनके पुरखे दिखाई देते हैं। कहा जा सकता है कि सामंतवाद और कथा साहित्य का चोली दामन का साथ रहा है। इन आधुनिक सामंतों को कभी-कभी पुरानी परंपराओं का मोह सताने लगता है, कि राजमहल सजें, बाजे गाजे के साथ हाथी पर जुलूस निकलें और दरबार लगाया जाए। यह नास्टेल्लिजया भूतपूर्व नरेशों को ही नहीं, प्रजाजनों को भी सताता है। हाल ही में ग्वालियर की राजसी ठाठबाट वाली शादी में जुड़ी भीड़ इसका जीता जागता प्रमाण है। बहरहाल यहाँ हम एक नये किस्म के दरबार का जिक्र छेड़ रहे हैं जिसका नाम है, कहानी दरबार। जी हाँ, हिन्दी सहित तीन भारतीय भाषाओं का भव्य कहानी दरबार लगा और दो दिन तक लगा रहा। कहाँ? दिल्ली में। दरबार लगाने के लिए दिल्ली से बेहतर कौन-सी जगह हो सकती थी।

अत्यधिक प्रगतिवाद से त्रस्त हिन्दी कथाकारों के लिए पंजाबी भाषा के कवि दरबार की तर्ज पर आयोजित 'कहानी दरबार' का आकर्षण सहज ही समझा जा सकता है। दिल्ली की सभी तोप तलवारें दरबार में हाज़िर हुईं। कौन कहता है कहानी साहित्य की केन्द्रीय विधा नहीं रही। तीन भाषाओं के 100-150 कहानीकार इस आयोजन में शरीक हुए और करीब 50 लेखकों ने या तो कहानी पाठ किया या कहानी पर बातचीत की। आगे खबर देते हुए जनसत्ता (10-1-88) में राजेन्द्र उपाध्याय ने लिखा है, "हिन्दी कहानी

का परिचय देते हुए कमलेश्वर ने कहा कि हिन्दी कहानी में आम आदमी लौट चुका है।” इस सफल दरबार से एक दिलचस्प तथ्य सामने आता है कि कहानी ज़रूरी नहीं कि पढ़ी ही जाये, सुनी भी जा सकती है और इस कदर कि दो दिन में लोग 50 कथाकारों को सुन लें, उफ तक न करें। हालाँकि बड़ी संख्या में सजधजकर उपस्थित महिला कथाकारों को देखने-सुनने का अपना आकर्षण रहता है। प्रकाशकों द्वारा कथा संग्रह छापने में दिखाई जाने वाली अरुचि और कथा पत्रिकाओं की गिरती पाठक संख्या से चिंतित होने की अब ज़रूरत नहीं। कहानी दरबार चल निकले तो फिर एक बार जलवा देखने को मिलेगा, कथाकारों का।

उतरते मुखौटे

यह सभी जानते हैं कि फिल्म, टी.वी. प्रोड्यूसरों की तरह लोकप्रिय पत्रिकाओं के कुछ संपादक भी अपने पद का लाभ उठाने से नहीं चूकते। नवोदित महिला लेखिकाओं को कई दफे ऐसे संपादकों की रसिक वृत्ति को झेलना पड़ता है। एक युवा लेखिका ने तो कुछ वर्ष पहले हमें हिन्दी के जाने माने साहित्यकार संपादकों के अतिरिक्त स्नेहयुक्त पत्रों का एक मोटा पुलिंदा दिखाया था। हमारी समझ में यह भी एक तरह का यौन-शोषण है। इसके खिलाफ़ मन ही मन भुनभुनाने के अलावा किसी ने कुछ किया हो ऐसा सुनने में नहीं आया। नदी में रहकर मगर से वैर कौन मोल ले। कुछ होशियार लेखिकाओं ने तो इस स्थिति का भरपूर फायदा भी उठाया है।

कथा लेखिका कृष्णा अग्निहोत्री ने एक मार्मिक आत्मकथात्मक आलेख 'लगता नहीं है दिल मेरा' में बड़े साहस और बेबाकी से ऐसे संपादकों के चेहरों को बेनकाब किया है जो अपनी पत्रिका में छपने वाली लेखिकाओं से 'पूर्ण' समर्पण की अपेक्षा रखते हैं। दूसरी ओर ये लोग सारी दुनिया को नैतिकता का पाठ पढ़ाते नज़र आते हैं। वैचारिकी के जनवरी 88 अंक में प्रकाशित यह लेख बुद्धिजीवी पुरुषों की शोषण वृत्ति को खूबी से उजागर करता है और ईमानदारी तथा उद्देश्यपूर्णता के कारण याद किया जायेगा। एक झलक-“जब मैं एम.ए. व पीएच.डी. पूरी करने हेतु मायके में थी तब टकरा गयी आज के एक विख्यात संपादक से जो बड़ी पत्रिका सँभाल रहे हैं। मैं यदि आत्मावलोकन करूँ तो इतना स्वीकारती हूँ कि प्रारंभ में उनके प्रति मेरा झुकाव केवल साहित्यिक मार्गदर्शन पाने के लिए ही था लेकिन जब उनका

मेरे प्रति लगाव बढ़ता ही गया तब ही मैंने उस लगाव को मन से भरपूर स्वीकारा। मन से पर तन से नहीं क्योंकि मैं संस्कार व आदर्शों से अलग न हो सकी। जिसकी विडंबना पर वे आज भी मुझे व्यंग देते हैं... वे यदि मेरे मन की भावुकता, संस्कारबद्धता का अंदाज लगा प्रतीक्षा करते तो मैं शायद इस प्यार में पूरी तरह समर्पित हो जाती और आज लेखिका होने के साथ किसी बड़े पद पर होकर पुरस्कार भी बहुत ले लेती परंतु 'सौदा' मुझे मान्य न हुआ, मैं किसी की रखैल बनकर या पत्नी का हक छीनकर नहीं जी सकती थी और मुझे यह बात उनकी अच्छी नहीं लगी कि वे मुझे नौकरी तभी दिलवायेंगे जब मैं उन्हें मन व तन से पूरी तरह अपनाऊँगी।'

दो मुल्लाओं में मुर्गी हराम

क्या एक ही समय में कोई परम्परावादी और प्रगतिवादी, दोनों नावों पर पैर रखकर खड़ा हो सकता है? हिन्दी कथा साहित्य के प्रगतिशील आलोचक इसी विडंबना से ग्रस्त हैं। वैचारिक संकीर्णता में नंबूदरीपाद ब्राह्मणों सी छुआछूत बरतने वाले इन कठमुल्लों ने एक ओर जहाँ प्रेमचंद जैसे परम्पराभंजक को परम्परा की बेड़ियों में जकड़ दिया वहीं दूसरी ओर यशपाल को एकदम खारिज कर दिया है। 'यशपाल: व्यक्तित्व और कृतित्व' उस अप्रतिम कथाकार के सही मूल्यांकन की दिशा में राम व्यास पांडेय और श्रीनिवास शर्मा द्वारा किया गया एक अभिनव प्रयास था। 'यशपाल की याद' में शिवकुमार मिश्र लिखते हैं “जहाँ वे सामान्य पाठकों और गैरमार्क्सवादी आलोचकों के बीच एक मार्क्सवादी रचनाकार के रूप में जाने-पहचाने और विज्ञापित किये गये और इसी रूप में उनकी शक्ति और खामियों का जायजा लिया गया वहीं मार्क्सवादी आलोचकों ने इस भूमि पर उनके चिंतन और रचनाशीलता पर प्रश्नचिह्न लगाये कि न केवल उनकी मार्क्सवादी संबंधी समझ अधकचरी और भ्रांत है, उनकी सर्जना भी एक प्रतिबद्ध रचनाकार की सर्जना नहीं।”

इसी क्रम में 'यशपालजी और अश्लीलता' में डॉ. रामविलास शर्मा के विचार में, “यौन संबंधों के बारे में अपने गलत अनैतिक दृष्टिकोण को सही ठहराने के लिए उन्होंने लेनिन का गलत हवाला अपने एक लेख में दिया था। लेनिन ने उन लोगों का विरोध किया था जो कहते थे कि जैसे किसी स्वच्छ ग्लास से पानी पीने में हानि नहीं है, वैसे ही किसी स्वस्थ नारी से यौन संबंध कायम करने में हानि नहीं है।

यशपालजी ने इसका ठीक उल्टा अर्थ लगाकर 'स्वतंत्र प्रेम' के समर्थन में लेनिनवाद को प्रस्तुत कर दिया। अपने उपन्यास 'मनुष्य के रूप' में उन्होंने भारतीय साम्यवादियों को इस क्रांतिकारी परम्परा का अनुयायी भी बना दिया।

जबकि रूसी विद्वान डॉ. वी.आई. लानकिन का कहना है कि, "सोवियत साहित्यिक आलोचना में यशपाल की कृतियों की तुलना शोलोखोव की कृतियों से की जाती है।" दाद देनी होगी जनवादी आलोचक चंचल चौहान की जिन्होंने हिन्दी संस्थान की पत्रिका 'अतएव' में एक लेख में यशपाल के व्यक्तिगत जीवन को लेकर उनके साहित्य पर प्रहार करने के लिए प्रगतिशील आलोचकों की खिंचाई की है।

मुल्ला और प्याज

गोरखपुर के युवा कथाकार मदन मोहन एक लघु पत्रिका निकालते हैं- नयी रचना। इसके तीसरे अंक में उन्होंने आज की 'कहानी में विचारधारा का सवाल' विषय पर लिखने के लिए एक नये आलोचक कपिल देव को आमंत्रित किया। इस लेख पर उन्हें काफी पत्र-प्रतिक्रियाएँ प्राप्त हुईं जिनमें से कुछ उन लेखकों की भी थीं जिनकी रचनाओं को विचार धारा की कसौटी पर कुछ खास खरा नहीं बताया गया था। आलोचक ने इन प्रतिक्रियाओं से प्रतिक्रियामित होकर जवाबी पत्र लिखे। उनके जवाब में जो पत्राचार चला उसे महत्त्वपूर्ण मानकर नये अंक में छपा गया है। आइये इस पत्राचार की कुछ झलकियाँ देखें-

एक तरफ तो वे उनके विचारधारात्मक संवेगों की तीव्रता को उनकी कहानियों की कमजोरी बता रहे हैं और पुनः आलेख के निष्कर्ष में आज की हमलावर परिस्थिति में 'विचारधारात्मक संवेगों' और 'क्रांतिकारी उत्साह' को आवश्यक बता रहे हैं इसके पूर्व 'क्रांतिकारी उत्साह' को भी वे भटकाव बता रहे हैं। लिहाजा जिन गुणों के आधार पर विजेन्द्र तथा विजयकांत को स्थापित किया जाना चाहिए उन्हीं गुणों के कारण उन्हें खारिज किया जा रहा है-

(बृज बिहारी शर्मा)

-हमारे अमुक मित्र-रचनाकार को अमुक ने कैसे खारिज कर दिया, ऐसा सोचने से हम न तो उसे खारिज होने से बचा पाते हैं, न उसकी कमजोरियों की वस्तुपरक व्याख्या ही कर पाते हैं।'

(कपिल देव)

- 'मुझे प्रसन्नता होगी, अगर मेरी जिन कहानियों (बैल, खून, सफर और फ़र्ज) की चर्चा इस लेख में है, उन्हें विश्लेषित कर लेखक यह बतलाएँ कि इनमें कहीं 'यांत्रिकता', 'भोंडापन' अथवा 'छीजती हुई रचनाशीलता' है।

(विजेन्द्र अनिल)

- 'जहाँ तक संजीव की तुलना में उनकी रचनाओं को देखने का प्रश्न है, यह तुलना जनवादी सोच और विचारधारा को कलात्मक दक्षता और सृजनात्मकता के साथ रचना के संपूर्ण रचाव में, स्वाभाविकता में डालकर प्रस्तुत करने की उन सार्थक, सचेत कोशिशों को ध्यान में रखकर की गयी है, जो मेरी दृष्टि में, विजयकांत, विजेन्द्र अनिल के मुकाबले संजीव की कुछ ताजा कहानियों जैसे 'पिशाच' आदि में देखी जा सकती है-

(कपिल देव)

मरियम्मा की वापसी

'आवारा मसीहा' सी कालजयी कृति के सृष्टा वरिष्ठ कथालेखक विष्णु प्रभाकर की सद्यः प्रकाशित कहानी 'कैसी हो मरियम्मा' प्रेमकथाओं के घोर अकाल के इस दौर में पहली फुहार-सी सुखद लगती है। छद्म क्रांतिकारी तेवरों वाले कुछ दयनीय सोच के शुष्क आलोचक भले ही इसे पढ़कर मन ही मन कुढ़ते रहें परंतु हमारी समझ में यह एक मील का पत्थर है। हिन्दी ही क्या, सभी भारतीय भाषाओं के कथा साहित्य पर शरत् की परम्परा की जो छाप पड़ी है, यह कहानी उसका अधुनातन उत्कृष्ट उदाहरण है इसमें विष्णुजी लक्ष्मण रेखा पार करके बिल्कुल नयी ज़मीन पर खड़े नज़र आते हैं। यहाँ प्रेम देहातिक्रमण कर गया है और वैष्णव मन से परित्यक्ता, एक बच्चे की माँ मरियम्मा, विधुर लेखक सत्येन के बिस्तर पर आकर बैठ जाती है, उसके हाथ से पुस्तक ले लेती है, कहती है, "कुछ बातें करो।" यकीन मानिये सत्येन उसे उपदेशामृत पिलाने के बजाए बाहों में समेट लेता है, "फिर शून्य को लीलकर वे तृप्ति-संतृप्ति के संसार में खो गये। प्रेम में आवाज़ नहीं पुकार होती है।"

क्या मरियम्मा को हम प्रेमकथाओं के नये युग की पुकार मानें ?



राजेन्द्र राव

पुनर्मूल्यांकन

राजेन्द्र राव

चंद्रकांता संतति : एक पुराना दीपस्तंभ

आज से लगभग सौ साल पहले की बात है। बनारस के आसपास के जंगलात के एक मनमौजी ठेकेदार बाबू देवकीनंदन खत्री को यकायक कारोबार से फुरसत मिली, तो उन्होंने अपनी चिरसंचित अभिलाषा पूरी की- वह लिखने लगे, जल्दी ही पहली कृति के रूप में एक निहायत दिलचस्प उपन्यास 'चंद्रकांता' उन्होंने लिख डाला, इसका पहला भाग सन् 1888 में काशी नेपाली खपड़ के हरिप्रकाश यंत्रालय में छप कर प्रकाशित हुआ, तो इसकी धूम मच गयी। बीसवीं सदी की शुरुआत से पहले हिन्दी गद्य के पाठक मुट्टी भर ही थे, मगर चंद्रकांता के चारों भाग निकलते-निकलते इसे ऐसी प्रसिद्धि मिली कि जो लोग हिन्दी नहीं पढ़ पाते थे, उन्होंने इस किताब को पढ़ने के लिए देवनागरी की वर्णमाला सीखी। हिन्दी कथा साहित्य के इतिहास में शायद ही किसी लेखक को अपनी प्रथम कृति पर इतनी सफलता मिली हो। बाबू देवकीनंदन खत्री ने भी फिर मुड़ कर नहीं देखा। चंद्रकांता के बाद चौबीस भाग, छह जिल्दों में चंद्रकांता संतति लिखी, जो कि उनके अपने मुद्रणालय 'लहरी प्रेस' से जिल्दवार प्रकाशित होती रही। खत्री की लेखनी से प्रसूत किस्से को पढ़ने के नशे के लोग आदी हो गये। हिस्सा-दर-हिस्सा प्रकाशित होने वाली 'चंद्रकांता संतति' उनके जीवनकाल में ही एक किंवदंती बन गयी।

कोई 25 बरस बाद दोबारा चंद्रकांता संतति पढ़ना शुरू किया, तो एक बार फिर मैं इसके जादू की लपेट में आ गया। उपन्यास खत्म होने तक एक बार अजीब-सी बेचैनी तबीयत पर छायी रही। इसे पढ़ने से विरत होने को मन नहीं होता था।

आँखों से नींद उड़ गयी। एक सप्ताह तक मैं राजकुमारों और उनके ऐयारों के साथ जंगलों और तिलिस्मों की खाक बड़े शौक से छानता रहा- खूबसूरत राजकुमारियों की तलाश में। महल, बगीचे, सुरंगे, दर्रे, झरने-चश्मे, बावड़ियाँ देखता रहा। लगा कि यह उपन्यास अपने आप में एक गहरा तिलिस्म है। भाषा तथा शिल्प के गहन अन्वेषण ने लेखक को इस तिलिस्म की रचना कर सकने की सामर्थ्य प्रदान की होगी। इसको पढ़ कर दौत तले उँगली दबानी पड़ती है कि आज से सौ साल पहले ऐसी प्रवाहमयी सहज-सुबोध भाषा में हिन्दी गद्य लिखा गया। खत्री की भाषाई सामर्थ्य और धारदार अभिव्यंजना के सामने आज के हिन्दी कथाजगत के दिग्गज और पुरोधा कमजोर, खोखले और दयनीय जान पड़ें, तो कोई ताज्जुब की बात नहीं।

बाबू देवकीनंदन खत्री ने अपने पूर्ववर्ती और समकालीन लेखकों में राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द की उर्दू मिश्रित बोलचालवाली हिन्दी लिखना पसंद किया था। जरा कल्पना करें कि आज हिन्दी में पोंगापंथी आलोचकों की इतनी भरमार है, तो 1900 के आसपास खत्री द्वारा जनसामान्य द्वारा बोली और समझीजाने वाली भाषा की साहित्य में हिमायत, आलोचकों को कितनी नागवार गुजरी होगी, लेखक के रूप में स्थापित होने के आकांक्षी 26 वर्षीय रईस खानदान के युवक को यह निर्णय लेने में जरा भी हिचकिचाहट नहीं महसूस हुई कि, 'साधारण विषयों की भाषा के लिए भी कोशों की खोज करनी पड़े, तो निःसंदेह दोष की बात है। मेरी हिन्दी किस श्रेणी की हिन्दी है इसका निर्धारण मैं नहीं करता परंतु मैं जानता हूँ कि इसके पढ़ने के लिए कोश की तलाश नहीं करनी पड़ती।' खत्री ने अपने आलोचकों की कोई परवाह नहीं की और बराबर अपनी विशिष्ट, बाँकी अदावाली, टकसाली हिन्दी में लिखते रहे। चंद्रकांता से शुरू हुई कथा का समापन चंद्रकांता संतति, भूतनाथ और रोहतासमठ की कुल जमा 15 जिल्दों में हुआ। यह अपने आप में एक कीर्तिमान है, जिसे तोड़ने की हरसंभव कोशिश उपेन्द्रनाथ अशक करते रहे हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रेमचंद को भाषाई विरासत बाबू देवकीनंदन खत्री से मिली। चूँकि धनपत राय (प्रेमचंद) उर्दू से हिन्दी में आये थे, इसलिए उन्हें सितारे हिन्द और खत्री की भाषाई विरासत सँभालने में सुविधा ही महसूस हुई होगी, भाषा और शिल्प ही नहीं किस्सागोई के करिश्मे भी प्रेमचंद

को प्रभावित किये बिना न रह सके। उनका 'कायाकल्प' उपन्यास इसका जीवंत गवाह है। अब सवाल यह उठता है कि आज हमारे जो किस्सागो (शायद) बतौर फ़ैशन प्रेमचंद की विरासत की बात करते हैं क्या भाषा और मुहावरे के मामले में खत्री की विरासत को भूल जाते हैं क्या यह हमारी कृतघ्नता का परिचायक नहीं कि हम आकर्षक हिन्दी गद्य के अभूतपूर्व सर्जक आदिपुरुष का जबरदस्त योगदान इतनी सहजता से भुला दें? हमें याद रखना चाहिए कि खत्री ने अपनी जादू भरी लेखनी से इस शताब्दी के प्रारंभ में ही हिन्दी भाषा के लाखों पाठक बनाये। उन दिनों आज की तरह छापाखानों की भरमार नहीं थी, न ही व्यावसायिक पत्र-पत्रिकाएँ और बड़े प्रकाशक थे। विज्ञापन के माध्यमों से हमारा समाज अच्छी तरह परिचित नहीं हुआ था। ऐसे माहौल में हिन्दी उपन्यासों की खपत के लिए बाजार ढूँढ़ लेना सहज नहीं था। एक तो अंग्रेज़ी राज, ऊपर से लिखने-पढ़ने में उर्दू का बोलबाला! बाबू देवकीनंदन खत्री चूँकि महत्वाकांक्षी थे, चाहते थे कि उनकी कृतियों को ज़्यादा-से-ज्यादा लोग पढ़ें, इसलिए एक चुनौती उनके सामने थी। वह चंद गिने-चुने हिन्दी प्रेमियों के सार सुधानिधि तथा कविवचन सुधा पर मुग्ध हुए रहने का ज़माना था। खत्री ने उपन्यास के उपसंहार में संकेत किया है कि, 'भारतवर्ष में आठ सौ वर्ष तक विदेशी यवनों का राज्य रहा है। इसलिए फारसी-अरबी के शब्द हिन्दू समाज में 'न पठेत यानवी भाषा' की दीवार लांघ कर उसी प्रकार आ घुसे जिस प्रकार हिमालय के उन्नत मस्तक को लौंघकर वे स्वयं यहाँ आ गये, यहाँ तक कि महात्मा तुलसीदास जी जैसे भगवद्भक्त कवियों को भी 'गरीब निवाज' आदि शब्दों का बर्ताव दिल खोल कर करना पड़ा।'

चंद्रकांता संतति में उर्दू-फारसी शब्दों का खुल कर और खूबसूरती से प्रयोग किया गया है। तत्कालीन काशी के रईसों के समाज में प्रचलित भाषा के साथ हमें बाजार में बैठने वाले कुंजड़े की भाषा भी सुनायी देती है। उपन्यास में बाँधे रखने की शक्ति इसी घालमेल से पैदा है। खत्री ने जिन उर्दू-फारसी शब्दों का ज़्यादा प्रयोग किया है, उनकी बानगी इस संक्षिप्त सूची में देखिए- बेशक, तरदुद, ताज्जुब, रंज, तमंचा, हरेब, जफ़ील, लौंडे, रंडी, गुलाममर्दिश, जयाफत का नोता, मुसौविर, बेमुरौवत, इज्जत और हुर्मत, हुज्जत, सुमीता, गुमान, फलानी-ठिमाकी, हारारत, मौकूफ, खानगी, बदौलत, जक, सिड़ी, मुश्कें, कुलफत, बेतसेवारी, लंडूरे, बरकत, इजारा, हलाक आदि। आम बोलचाल के नमूने-

हेसनेस, धूम धड़क्का, ऐंचातनी, बालादबी, हो हल्ला, बतोला देना, भांडा फूटना और लिबड़ी बरताना।

खत्री की चटपटी भाषा का आलम देखते-पढ़ते मन नहीं भरता। दूसरे भाग में सुबह होने का विवरण देखिए, '...लीजिए उन परीजमालों ने भी पलंग का पीछा छोड़ा और उठते ही आईने के मुकाबिल हो बैठीं, जिनके बनाव को चाहने वालों ने रात भर में बिथोर कर रख दिया था। झटपट अपनी संबुली जुल्फों को सुलझा, माहताबी चेहरों को गुलाबजल से साफ कर, अलबेली चाल से अठखेलियाँ करतीं, चंपई दुपट्टा सँभालतीं, रविशों पर घूमने और फूलों के मुकाबले में रुक-रुक कर पूछने लगीं कि 'कहिए आप अच्छे या हम?' जब जवाब नहीं पाया, हाथ बढ़ा तोड़ लिया और बालियों में झुमकी की जगह रख आगे बढ़ीं... हमें तो कुछ उन लोगों की कुलबुलाहट भली मालूम होती है, जो सुबह होने से दो घंटे पहले ही उठ... वहाँ पहुँच स्नान कर, भस्म का चंदन लगा, पटरों पर बैठ कर संध्या करते-करते सुबह के सुहावने समय का आनंद पति पावनी श्री गंगाजी की पापनाशिनी तरंगों से ले रहे हैं। इधर गुप्ती में घुसी उँगलियों ने प्रेमानंद में मग्न मनराज की आज्ञा से गिरिजापति का नाम ले एक दाना पीछे हटाया और उधर तरनतारिये भगवती जान्हवी की लहरें तख्तों से ही छू-छू कर बीस जनम के पाप बहा कर ले गयीं।'

मुहावरेदार एक वाक्य काबिले गौर है, 'इस आखिरी शब्द ने किशोरी के साथ वह काम किया, जो नमक जख्म के साथ, आग फूस झोपड़ी के साथ, तीर कलेजे के साथ, शराब धर्म के साथ, लालच ईमान के साथ और बिजली गिर कर तनोबदन के साथ करती है।' (तीसरा भाग-चौथा बयान)। या, 'अफसोस, रुपया जो चाहे सो करावे। इसकी टंडी आँच को बरदाश्त करना किसी ऐसे वैसे दिल का काम नहीं।' (तेरहवां भाग)। या, 'उसका हुदैव, जो बहुत दिनों तक पारे में चाँदी की तरह छिपा हुआ था एकदम प्रकट हो गया। उसने तुम्हारी माँ को भी अष्टम चंद्रमा की तरह कृपा दृष्टि से देख लिया और साढ़ेसाती के कठिन शनि को भी तुमसे जै गोपाल करने को कहला भेजा है। पर इससे यह न समझना चाहिए कि ज्योतिषियों के बताये हुए दान का फल बन कर मैं तुम्हारी रक्षा के लिए आया हूँ' (बारहवां भाग-चौथा बयान)।

बाबू देवकीनंदन खत्री ने अपने जीवन काल में ही ख्याति का चरमोत्कर्ष भले ही देख लिया हो, हमारे

इतिहासकार और आलोचक उनके उपन्यासों को गंभीरता से नहीं ले सके। उनके कृतित्व को महज किस्सागोई समझ लिया गया। सिंहासन बत्तीसी और बैताल पचीसी की श्रृंखला में ही स्थान मिला चंद्रकांता संतति को, चहार दरवेश अलिफलैला की तरह। लेकिन ऐसा करना न्यायसंगत नहीं हो सकता, क्योंकि चंद्रकांता संतति की अद्भुत कथा में रचा बसा खत्री की कल्पना का एक गौरवशाली समाज साफ-साफ झलकता है। जिन दिनों यह उपन्यास लिखा जा रहा था, यूरोप से आयातित रेल, तार, बिजली के उपकरण आदि अंगरेजों की देन के रूप में भारतीयों को चकित कर रहे थे। गोरी चमड़ी की श्रेष्ठता की धारणा की गहरी नींव रखी जा रही थी। एक गुलाम देश की गुलाम रियाया के दिलोदिमाग में जातीय स्वाभिमान के बीज बोने के लिए उस समय प्रभावशाली राजनीतिक नेतृत्व तो था नहीं, इसलिए यह गुरुतर उत्तरदायित्व साहित्यकारों को उठाना था। खत्री ने किस खूबी से एक काल्पनिक कथा के माध्यम से इतिहास के गौरवशाली युग की छवि पाठक के मन में उकेरने की कोशिश की, उसकी सराहना की जानी चाहिए। उपन्यास के अंत में उन्होंने अपने कथानक में पिरोई गयी कई-कौतूहल जगानेवाली घटनाओं की वैज्ञानिक व्याख्या करने का जो उपक्रम किया है, उससे उनकी अंतर्दृष्टि की झलक मिलती है। खत्री निश्चित रूप से वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने वाले लेखक थे। उन्होंने जिस तरह तत्कालीन समाज में व्याप्त रूढ़ियों, अंधविश्वासों आदि की खिल्ली उड़ायी है और नैतिकता की जबरदस्त वकालत की है, उसे देखते हुए चंद्रकांता संतति को महज किस्सागोई का एक बेहतरीन नमूना नहीं माना जाना चाहिए। इस कथा और उसके साथ जुड़ी हुई तमाम रोचक कथाओं के माध्यम से बार-बार अतीत की भव्यताओं को स्थापित करके देशाभिमान जगाने की सफल चेष्टा की गयी है।'

हँसी-मजाक, छेड़छाड़ से भरे प्रसंग लगभग हर भाग में हैं। बनारस के लोगों की तबीयत में समायी रहने वाली मस्ती पैरा दर पैरा फूटी पड़ती है। अफीम, चरस, गांजा, भांग और शराब के प्रेमी नशेड़ियों से मुलाकात होती चलती है। शिकार और गाना-बजाना होता रहता है। शुरू से ले कर आखीर तक इसके बेमिसाल शिल्प की वजह से कथानक कहीं भी ढीला नहीं पड़ता। अपने समकालीन समाज की बारीक जाँच-परख जिन आँखों ने की हो, उनमें ही ऐसे विशद ज्ञान की आशा की जा सकती है। उन्नीसवें भाग में

एक जगह खत्री मौज़ में आ कर इस तरह सवेरा करते हैं, ' ..स्याह तीतर अपनी मस्त और बंधी हुई आवाज़ से हिन्दू, मुसलमान, कुंजड़े और कस्साब में झगड़ा पैदा कर रहे हैं। मुसलमान कहते हैं कि तीतर साफ आवाज़ में यही कह रहा है कि 'सुब्हान तेरी कुदरत' मगर हिन्दू 'इस बात को स्वीकार नहीं करते और कहते हैं यह स्याह तीतर 'राम-लक्ष्मण-दशरथ' कह कर अपनी भक्ति का परिचय दे रहा है। कुंजड़े इसे भी नहीं मानते और उसकी बोली का मतलब 'मूली-प्याज-अदरक' समझ कर अपना दिल खुश कर रहे हैं, परंतु कस्सोबां को सिवाय इसके और कुछ नहीं सूझता कि यह तीतर 'कर जबह और ढक रख' का उपदेश दे रहा है।'

चंद्रकांता उपन्यास के सौ वर्ष पूरे होते-होते आज इक्कीसवीं सदी हमारा दरवाज़ा खटखटा रही है। इस लंबी अवधि में हिन्दी कथा साहित्य ने एक लंबी यात्रा तय की है। मगर जहाँ तक पाठकों की संख्या और उपन्यासों की बिक्री का सवाल है, यह कड़वी सच्चाई है कि हिन्दी कथा पुस्तकों के प्रसार के लिहाज से इतनी बदतर स्थिति कभी नहीं रही होगी। एक ज़माना बाबू देवकीनंदन खत्री का था कि लोग लहरी प्रेस के बाहर अगली जिल्द की प्रतीक्षा में साँस रोके खड़े रहते थे, उनकी किताब हाथ लगने के बाद खाना-पीना-सोना भूल जाते थे और आज मुट्ठी भर साहित्य के तथाकथित दिग्गजों के अलावा किसी की किताब छपती नहीं या छप गयी तो, दस-बारह बरस तक 1100 का संस्करण बिकता नहीं। आज आम हिन्दी पाठक उपन्यास या कथा संग्रह नहीं पढ़ सकता, क्योंकि 150-200 पृष्ठ की किताब का मूल्य 35-40 रुपये तक होता है। बड़े उपन्यास तो 75-100 रुपये से कम कीमत पर उपलब्ध नहीं। दरअसल, यह मुद्रित मूल्य सरकारी खरीद के लिहाज से बढ़ा कर रखा जाता है, क्योंकि उसमें जायज-नाजायज कई तरह का कमीशन देना पड़ता है।

प्रकाशक जानते हैं कि हिन्दी का श्रेष्ठ लेखक पाठकों की रत्ती भर परवाह नहीं करता, न ही उसकी रुचि अरुचि का ध्यान रख कर लिखता है। बड़े लेखक जानते हैं कि किताब का आम आदमी तक पहुँचना उतना ज़रूरी नहीं जितना कि उसका विश्वविद्यालयी पाठ्यक्रमों में लग जाना। ज़्यादातर मूर्धन्य कथालेखक अपनी उल-जलूल धारणाओं और खप्तों के दायरे में रह कर व्यक्तिवादी दर्शन को रचनाओं के माध्यम से स्थापित करने के चक्कर में पड़े रहते हैं। सबसे ज्यादा

पाठकों की छुट्टी तथाकथित मार्क्सवादी, प्रगतिशील और जनवादी लेखक के निर्देशक सिद्धांतों ने की। हिन्दी करोड़ों लोगों द्वारा बोली- समझी-पढ़ी जानेवाली भाषा है, मगर यह एक दयनीय स्थिति है कि अक्सर साहित्यिक कृतियों के संस्करण 1100 प्रतियों के छपते हैं। यह नहीं कि आत्मावलोकन, विश्लेषण आदि नहीं किये गए, हिन्दी कहानी बीसियों आंदोलनों से गुजरने के बावजूद तेज़ी से अपने पाठक खोती जा रही है। कहानी पत्रिकाएँ बंद होती जा रही हैं, जो बची हैं, उनकी दशा यह है कि गूज़ल, लतीफ़े और खूबसूरत रचनाधर्मियों के चित्रों के सहारे पत्रिका को धकेला जा रहा है। वह ज़माना गया जब उपन्यास धारावाहिक रूप से बरसों प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में छपते रहते थे और लाखों पाठकों तक पहुँचते थे। शीर्षस्थ पत्रिकाओं में पृष्ठसंख्या पर अन्य विषयों से संबंधित सामग्री का दबाव बढ़ रहा है क्योंकि पाठक राजनीति, फ़िल्म और क्रिकेट की गॉसिप पढ़ना चाहते हैं, उन्हें बेतरह उबाऊ सांचे में ढली मुरदा कहानियों में दिलचस्पी नहीं रह गयी है।

हिन्दी में मौलिक उपन्यासों के मुकाबले अनूदित उपन्यास ज़्यादा बिकते हैं, मिसाल के तौर पर विमल मित्र के हर साल दो उपन्यास अनूदित हो कर छपते, बिकते हैं। धारावाहिक रूप से अलग प्रकाशित होते हैं।

क्या आज किसी उपन्यासकार में इतना साहस और उत्साह है कि बाबू देवकीनंदन खत्री की तरह अपना खुद का प्रेस लगवाये और धड़ाधड़ लिखता, छपता और पढ़ा जाता रहे? हमारे लेखकों की रचनाओं के लाखों प्रतियों के संस्करण कब किस युग में निकाले जा सकेंगे?

चंद्रकांता संतति एक पुराना कीर्तिस्तंभ है। इसके अनगिनत संस्करण हुए। अब एक बार फिर पुनः प्रकाशन हुआ है। यदि हिन्दी के कथाकार इस अवसर पर अपनी मसीहाई, लंबरदारी और लमतारानियाँ हाँकने की आदत को बलायेताक रख कर एक बार फिर ध्यान से इस रोचक महागाथा को पढ़ें, तो शायद उन्हें इस बात का एहसास हो सके कि वे पाठकों के साथ कैसा सलूक कर रहे हैं।

पाठक की वापसी होनी ही चाहिए। अगर 1888 में एक 26 वर्षीय युवा, बिल्कुल नया उपन्यासकार हज़ारों लाखों को चुंबक की तरह अपनी ओर खींच कर पढ़ने के आनंद का आदी बना सकता है, तो 1986 में हमारे लेखकों को ऐसा करने से कौन रोक सकता है?



राष्ट्रकवि सोहनलाल द्विवेदी पर टेलीफिल्म बनाने उनके गृहनगर बिंदकी में राजेन्द्रराव



राजेन्द्र यादव और सृजय के साथ एक कथा सम्मेलन में



जीवनसंगिनी के साथ



कथाकार प्रियंवद को कहानी सुनाते हुए



टेलीफ़िल्म की शूटिंग में

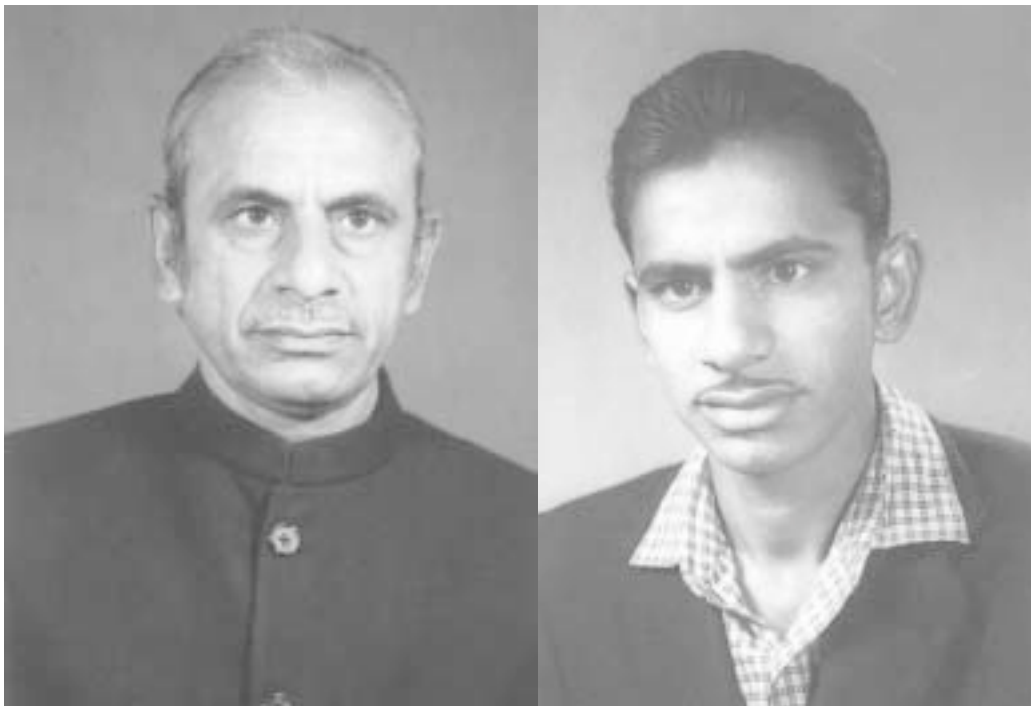


टेलीफ़िल्म 'सूली ऊपर सेज पिया की' का एक दृश्य



काका हाथरसी के साथ

कृष्ण बिहारी के साथ



राजेन्द्र राव

इण्टरव्यू

हमारी सबसे बड़ी पूँजी हमारी आज़ादी है

राजेन्द्र राव से अमरीक सिंह 'दीप' और गोविन्द उपाध्याय की बातचीत

अक्टूबर महीने का एक छुट्टी वाला फुर्सती दिन। धूप में गुनगुनी हरारत है। कानपुर शहर के जाजमऊ मोहल्ले की जे.के. रेयन मिल्स कई दशक पहले बन्द हो चुकी है पर फिर भी हवा में रेशमी सरसराहट है। वजह जे.के. रेयन मिल्स के गेट के ठीक सामने वाली सड़क पर जीवन के रेशमी एहसासों के बुनकर का आवास है।

मैं और गोविन्द इस बुनकर की प्रतीक्षा में उसके आवास के ड्राइंगरूम में सिमटे-सिमटे, सक्कुचाये से बैठे हैं। ड्राइंगरूम हमें ठण्डी बेहिस्स नज़रों से घूर रहा है वह खासा जहीन और कलात्मक है और उसमें बुद्धिजीवियों सा ठसका है। ड्राइंगरूम के प्रवेशद्वार के बगल की दीवार में एक बड़ी खिड़की है, जिसके पास दीवान पड़ा है। उत्तरी दीवार की ओर लम्बी गद्देदार सैटी व दक्षिणी दीवार से सटा बेंत का सोफा। मध्य में बेंत की ही सेन्टर टेबल। ढेर सारी साहित्यिक पत्रिकाओं से समृद्ध। खिड़की के ठीक सामने वाली दीवार से लगा काफ़ी कलर का लगभग सात-आठ फिट ऊँचा बड़े-बड़े चारखाने वाला प्लाईवुड का शोकेस जिसके अलग-अलग खानों में सजे हैं वाग्देवी की व्हाइट व ब्लैक मेटल की मूर्तियाँ, मोमेण्टो, हिन्दी-अंग्रेज़ी की पुस्तकें, टी.वी., और म्यूजिक सिस्टम। इस शोकेस के दायें पार्श्व में शीशे के पल्लों वाली किताबों वाली स्टील की अलमारी

खड़ी है। शीशे के घूँघट से झाँक रही पुस्तकों की आँखों में एक मौन निमंत्रण है जो हमें किसी करवट चैन नहीं लेने दे रहा।

हमारे बेचैन वजूद ने राहत की साँस तब ली जब रेशमी एहसासों के बुनकर प्रसिद्ध कथाशिल्पी राजेन्द्र राव ने ड्राइंगरूम में पदार्पण किया। उम्र की आँख बचा कर सहेजी गई ऊँची छरहरी काया। धूमिल से नीले रंग के सफ़ारी सूट से लैस। जहांदीदा सुते हुए गन्दुमी चेहरे पर रजनीगंधा के फूलों की खुशबू सी भीनी-भीनी स्मित। गहरी बौद्धिक चमक से भरी मध्याकार आँखें। आवाज़ बादलों सी गहन गंभीर। राजेन्द्र राव ने सन 1970 में लिखना शुरू किया था। पहली कहानी 'शिफ़्ट' 'कहानी' पत्रिका में सन 1971 में प्रकाशित हुई। इस कहानी के प्रकाशित होने के अगले ही माह 'सुनहरी मछली को किसने मारा' कहानी प्रकाशित हो गई। उसके बाद कहानियों के प्रकाशित होने का अबाध सिलसिला चल निकला। राव जी के 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' पत्रिका में प्रकाशित होने वाले धारावाहिक 'सूली ऊपर सेज पिया की' व 'कोयला भई न राख' ने उन्हें अपने दौर का सुपर स्टार लेखक बना दिया।

हमें चाय पिलाते व हमसे आत्मीय संवाद करते देख ड्राइंगरूम का ठण्डा अजनबीपन खत्म हो गया। वह तवज्जो भरी नज़रों से हमें देखने और ध्यान से हमारी बातें सुनने लगा।



राजेन्द्र राव

गोविन्द उपाध्याय ने अपना प्रश्न-पुलिन्दा अभी खोलना ही शुरू किया था कि राव जी ने अपने न लिखने के कारण का खुलासा करना प्रारंभ कर दिया- 'सन 1971 में जब मेरी कहानियाँ छपनी शुरू हुईं तब मध्यम वर्ग में अंग्रेजी के प्रति आज जैसा दीवानापन नहीं था। तब हिन्दी भाषा के साथ वह गहराई से जुड़ा हुआ था। उन दिनों किसी भी मध्यवर्गीय परिवार के घर चले जाने पर उसकी बैठक की मेज़ पर अवश्य ही कोई हिन्दी की पत्रिका रखी मिल जाती थी। अगर किसी की बैठक की मेज़ पर 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' या 'धर्मयुग' पड़ी होती थी तो उस परिवार को अर्द्ध बौद्धिक मान लिया जाता था। जिस बैठक की मेज़ पर 'सारिका' दिखाई पड़ जाती थी वह परिवार पूर्ण बौद्धिक समझा जाता था। 'धर्मयुग' में कहानी छप जाने पर लेखक रातोंरात स्टार बन जाता था। ये सारी पत्रिकाएँ लाखों की संख्या में छपती थीं और पूरे देश में बिकती थीं। मुझे अब भी एक घटना याद है.. एक दिन आर.टी.ओ. आफिस में स्कूटर का लाइसेंस बनवाने की खातिर लाइन में खड़ा था। तब दलाल संस्कृति अभी इतनी प्रबल नहीं हुई थी। कतार में मेरा नम्बर आते-आते लंच टाइम हो गया था। सीट से उठने जा रहा बाबू मेरा चेहरा देख कर ठिठक गया था 'आप राजेन्द्र राव हैं?' मेरे 'हाँ' में सिर हिलाते ही वह खुशी से खिल गया था 'मैं आपकी कहानियाँ पढ़ता रहता हूँ। मैं ही नहीं मेरा पूरा परिवार आपकी कहानियाँ पढ़ता है। आप पीछे से अन्दर आ जाइये।' अन्दर उसके कक्ष में जाने पर उसने मुझे

राजेन्द्र राव : कुछ कहानियाँ ऐसी होती हैं जो सीधे-सीधे अपने रचना-काल से और तात्कालिक परिवेश से जुड़ी होती हैं। जैसे साठ के दशक में लिखी गई कहानियों के परिवेश में टाइपराइटर, कार्बन कापी, ब्लैक एण्ड व्हाइट फ़ोटो और रेडियो चित्रित होंगे पर कम्प्यूटर, रंगीन टेलीविजन या मोबाइल नहीं होंगे। इसी तरह सत्तर के दशक की कहानियों में काले चोंगे वाला टेलीफ़ोन बजता सुनाई पड़ेगा। तात्कालिक परिवेश से कहानी की प्रासंगिकता समाप्त नहीं होती। बदलाव दिखाई नहीं देता। इसके अलावा कोई भी कहानी या उपन्यास जिस कालावधि को चित्रित करता है पाठक उसे उसी परिवेश में देखता है जैसा कि ऐतिहासिक कहानियों व उपन्यासों को।

गोविन्द: एक बार मैं फिर आपकी दो कहानियों की चर्चा करना चाहूँगा... 'कवि कथा' कहानी का पाखी और 'दूध के

चाय तो पिलवायी ही थी, अपने सारे साथियों से मेरा परिचय भी करवाया था और तत्काल मेरा लाइसेंस भी बना दिया था।

आज हालत यह है कि हिन्दी के कथालेखक को उसका पड़ोसी तक नहीं जानता। मुझे यह कहने में रत्ती भर भी संकोच नहीं है कि हिन्दी में कुल 780 पाठक बचे हैं, जो गंभीरता से साहित्य पढ़ते हैं। उनमें लिखने वाले भी शामिल हैं। जब खुद ही लिख कर खुद ही पढ़ना हो तो क्या ज़रूरत है लिखने की?'

मैं और गोविन्द दोनों ही कुछ देर तक गहरे सन्नाटे में घिरे रहे। अपना लिखना हमें बेफ़िजूल और बेमानी लगने लगा। पता नहीं कैसे गोविन्द ने अपने भरभरा कर धराशायी हो गए लेखक को उठाया और उसके कपड़े झाड़े 'आपकी कुछ कहानियों के नाम लेना चाहूँगा- असत्य के प्रयोग, यशोधरा ही ठीक है, दीक्षा, एक और चीफ़ की दावत, इन कहानियों के पात्र आज भी उतने जीवंत हैं या यूँ कहें तमाम बदलावों के बाद भी ये पात्र आज भी हमारे समाज में मौजूद हैं। लेकिन 'सागर और मीना' तथा 'बाँध' जैसी कहानियों के पात्र क्या आज भी आपको प्रासंगिक लगते हैं?'

विशेष तौर पर 'बाँध' मेरी पसंदीदा कहानियों में है। अब जबकि 'लिव-इन' रिश्तों को मान्यता देने की बात चल रही है तो फिर संकोच क्यों?'

दाँत' कहानी का हर्षवर्धन। ये कहानियाँ साहित्य के उस वर्जित क्षेत्र में प्रवेश करती हैं जहाँ लेखक जल्दी जाने से घबराते हैं और उस सत्य को भी उजागर करता है जो प्रशंसनीय कदापि नहीं है। पाखी कवि सम्मेलन आयोजित करने के चक्कर में बरबाद है, जबकि जयंत हर्षवर्धन युवा लेखक है। उसके अपने स्वप्न हैं पर वह पक्षपात का शिकार है। क्या आप आज भी ऐसा महसूस करते हैं या इसमें कुछ बदलाव आया है?'

राजेन्द्र राव : नहीं, कोई बदलाव नहीं आया है बल्कि स्थितियाँ और भी भयावह हो गई हैं। हर्षवर्धन कम से कम बड़े लेखकों के साथ बैठ कर बार में बातचीत तो करता था। इतनी तो दखल थी। और रही कवि सम्मेलनों की बात तो उनमें पैसा और ज़्यादा हो गया है। इनका कारोबार और बढ़ता जा रहा है।

गोविन्द : तमाम पत्रिकाएँ विगत कुछ वर्षों से 'युवा लेखन' और 'नव लेखन' पर पृथक अंक निकाल रही हैं। नया ज्ञानोदय, कथाक्रम, परिकथा, वागर्थ... आदि के ये अंक काफ़ी चर्चित भी हुए हैं। इनके प्रकाशन की प्रासंगिकता पर आप कुछ कहना चाहेंगे ?

राजेन्द्र राव : नवलेखन अंक चाहे किसी भी पत्रिका के हों आज की परिस्थिति में अत्यंत प्रासंगिक हैं। मैं ऐसे अंकों की तुलना फूल के पौधों की ऐसी नर्सरी से करना चाहूँगा जिसके उत्पाद भविष्य में न जाने कितने बाग-बगीचों और उद्यानों की शोभा बढ़ायेंगे। एकदम नई प्रतिभाओं को प्रकाश में लाने का यह काम अगर दो दशक पहले शुरू कर दिया जाता तो आज साहित्यिक परिदृश्य कुछ और होता। विशेषतः हिन्दी कहानी इतनी दीन हीन दशा में न होती।

अमरीक सिंह दीप : युवा पीढ़ी के लेखन में कौन सी ऐसी नई बात है जो पिछली पीढ़ी के लेखकों में नहीं थी ?

राजेन्द्र राव : उनके बयान में पारदर्शिता कहीं अधिक है। उन्हें जो कहना होता है बेहिचक और दो-टूक कह रहे हैं या लिख रहे हैं। उनके तितान्त अपने स्वप्न और अनछुई आकांक्षाएँ हैं जिसका पिछली पीढ़ियों में अकाल है।

अमरीक सिंह दीप : क्या आपको नहीं लगता कि मौजूदा समय में अधिकांश साहित्य पद, प्रतिष्ठा और पुरस्कारों के मद्देनज़र रख कर लिखा जा रहा है? युवा लेखक अपने करियर को ही ध्यान में रख कर लेखन के क्षेत्र में उतर रहे हैं। उनका लक्ष्य लेखन द्वारा मनुष्य का मानसिक विकास करना नहीं रह गया है, लेखन द्वारा किसी बड़े पद पर पहुँचना भर रह गया है ?

राजेन्द्र राव : अगर लेखन से पद, प्रतिष्ठा व समृद्धि प्राप्त हो सकती है तो इसमें हर्ज़ ही क्या है, मगर लेखक का उद्देश्य अगर यहीं तक सीमित हो जाए तो व्यक्ति, भाषा और समाज तीनों के लिए नुकसान का पौधा है। क्योंकि इससे हमारे साहित्य का तेज़ी से अवमूल्यन होगा और समाज के नैतिक

मूल्यों के ध्वस्त होने का ख़तरा मड़राने लगेगा क्योंकि साहित्य ही समाज की आत्मा है।

अमरीक सिंह दीप : क्या वर्तमान साहित्य समाजोन्मुखी है? इसमें देश की अंधकारपूर्ण स्थितियों से जूझने, उन्हें बदलने और क्रान्ति की पूर्व पीठिका बनाने की क्षमता है ?

राजेन्द्र राव : जब तक हम अपने चारों ओर के परिदृश्य को या समाज को बदलने के लिए अत्यधिक उत्सुक न हो जाएँ सृजन की प्रेरणा मिलना मुश्किल लगता है। हम कविता लिखें या कहानी हमेशा व्यक्तियों और परिस्थितियों को बदलने की आकांक्षा को लेकर ही साहित्य रचते हैं। यह बात और है कि कोई लेखक किस प्रकार का बदलाव चाहता है। इसमें सबके सुर अलग-अलग पड़ जाते हैं और कोई समवेत स्वर नहीं बना पाता। इसलिए किसी क्रान्तिकारी बदलाव की या बड़े उलटफेर की भूमिका बनती नहीं दिखाई देती। हर एक की अपनी-अपनी ढपली, अपना-अपना राग। कोई साम्यवाद, तो कोई गाँधीवाद अथवा राष्ट्रवाद का राग अलाप रहा है। हम यदुवंश की तरह आपस में मूसल लेकर लड़ रहे हैं।

अमरीक सिंह दीप: हमने जिस तरह से अपनी आज़ादी का बुरा हाल किया है, जिस तरह से हर आदमी मनमानेपन को ही आज़ादी मान बैठा है, इससे यह नहीं लगता कि हम लोग आज़ादी के योग्य ही नहीं हैं? या हमें आज़ादी के लिए प्रशिक्षित ही नहीं किया गया है ?

राजेन्द्र राव : एक लेखक के तौर पर मैं यह कहना चाहूँगा कि हमारी सबसे बड़ी पूँजी, धरोहर या विरासत हमारी आज़ादी है। हम कितने भी विपन्न, असहाय और हताश क्यों न हों हमें सोचने, बोलने और लिखने की आज़ादी हासिल तो है। यदि कुछ लोग या बहुत सारे लोग इसका दुरुपयोग कर रहे हैं तो इससे क्या फ़र्क पड़ता है।

गोविन्द : साहित्य में प्रतिबद्धता का सवाल बार-बार आता है। हम विचारधारा की भी बात करते हैं। क्या यह लेखक की सृजनशीलता को बाड़े में बन्द करने जैसा नहीं लगता ?

राजेन्द्र राव : लेखक किससे प्रतिबद्ध हो और कितना प्रतिबद्ध हो इसका निर्णय वह स्वयं करता है अर्थात् वह एकाकी रहे या किसी संघ विशेष में रहे, बाड़े में रहे या स्वतंत्र रहे यह पूरी तरह से उसका चुनाव है। विचार से प्रभावित होना एक बात है और विचार से बंध जाना दूसरी बात। कोई भी विचारधारा अपरिवर्तनीय और जड़ नहीं होती। समय के साथ-साथ उसमें परिवर्तन होना चाहिए। इसीलिए वैचारिक कट्टरता और वैचारिक लेखन दोनों में विरोधाभास है।

गोविन्द: जगदम्बा प्रसाद दीक्षित का उपन्यास 'मुर्दाघर', ब्लादामीर नाबाकोव की 'लोलिता', इस्मत चुगताई की कहानी 'लिहाफ' या फिर मण्टो की 'ठण्डा गोश्त' और आपकी कहानी 'कीर्तन', इन सबको कभी अश्लील माना गया था। इनमें से कुछ पर अदालतों में मुकदमों भी चले, मगर आज ये सब क्लासिक का दर्जा रखती हैं। किस स्थिति में कोई रचना अश्लील हो जाती है?

राजेन्द्र राव : किसी भी रचना के बारे में किसी भी क्रिस्म की नैतिक अवधारणा पाठक के निजी नैतिक मूल्यों पर निर्भर करती है। इस मामले में आप देखेंगे कि अलग-अलग लोगों के अलग-अलग पैमाने हैं। समाज में उदार और अनुदार दोनों ही तरह के पाठक होते हैं, परन्तु अपने अनुभव से एक बात मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि जिन रचनाओं को अश्लीलता का तमगा दे दिया जाता है लोग उन्हें सप्रयत्न ढूँढ़ कर बड़े चाव से पढ़ते हैं।

गोविन्द: हिन्दी साहित्य से रोटी चलाना हमेशा से मुश्किल रहा है और आज भी मुश्किल है। लेखक की समस्त ऊर्जा तो रोटी और रोज़मर्रा की ज़रूरतों को जुटाने में ग़र्क हो जाती है।

राजेन्द्र राव: मेरा शुरू से यह मानना है कि यदि आपको हिन्दी में लेखन करना है और स्वाभिमान बनाए रखना है तो जीविका-साधन पहले अन्यत्र खोज लेना होगा, तभी आप चैन से बैठ कर लिख सकेंगे। हिन्दी में मात्र साहित्यिक लेखन से दाल रोटी जुटा लेना अभी टेढ़ी खीर है।

अमरीक सिंह दीप: क्या हिन्दी साहित्य शूतुरमुर्ग की तरह

रेत में सिर गाड़ने की प्रवृत्ति का शिकार हो गया है?

राजेन्द्र राव : आज के साहित्य के असली या नकली वैचारिक और आक्रोशमय या अवसादमय तेवरों को देखकर तो ऐसा नहीं कहा जा सकता। आज भी बहुत से ऊर्जावान लेखक हवा में लकड़ी की तलवारें भाँज रहे हैं। इसे आप भले ही नौटंकी मान लें पर शूतुरमुर्ग तो ये कत्तई नहीं हैं, क्योंकि शूतुरमुर्ग में लज्जा का दुर्लभ भाव होता है जो इनमें कत्तई नहीं है।

अमरीक सिंह दीप: इधर साहित्य में उच्च सरकारी अधिकारियों व पूँजीपतियों का वर्चस्व बढ़ा है। क्या इससे हिन्दी साहित्य का भला हो रहा है? क्या व्यवस्था से जुड़ा व्यक्ति व्यवस्था को बदलने की क्षमता रखता है? क्या जिस पूँजीवाद के विरुद्ध साहित्य हमेशा से संघर्षरत रहा है, उसी पूँजीवाद से जुड़े लेखक पूँजीवाद को समाप्त करने की क्षमता रखते हैं?

राजेन्द्र राव : हिन्दी साहित्य में पाठकों का जो अकाल है उसकी वजह से पत्रिकाओं को बिकने के लिए, लेखकों को पढ़े जाने के लिए या पुरस्कृत होने के लिए पहले दर्जे की मार्केटिंग का सहारा लेना पड़ रहा है। यानी सिर्फ रचनाकर्म ही पर्याप्त नहीं है। उस लेखन को खपाने, पढ़वाने, प्रशंसित करवाने तथा कालजयी बनाने के लिए आज की तारीख में जिन औजारों का प्रयोग हो रहा है वह सीधे-सीधे पूँजीवाद से जुड़े हैं। एक आई.ए.एस. अधिकारी सरकारी या अर्द्धसरकारी अकादमी या संस्थान का चीफ़ बन सकता है और पूँजीपति का तो कहना ही क्या।

अमरीक सिंह दीप: क्या अधिकतर लघु पत्रिकाएँ कुछ चुके हुए लेखकों की साहित्यिक व आर्थिक महत्वाकांक्षाओं व मठाधीशता हासिल करने का जरिया नहीं हो कर रह गयीं?

राजेन्द्र राव : अगर ऐसा होता भी तो बुरा क्या है?

अमरीक सिंह दीप: हिन्दी साहित्य की लघु पत्रिकाओं को यह मुगालता है कि वे बड़े पूँजीपति घरानों की बन्द हो गई पत्रिकाओं (धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, सारिका इत्यादि)

के स्पेस को भर रही हैं। जबकि बड़े घरानों की पत्रिकाएँ घर-घर पहुँचती थीं लेकिन वर्तमान लघु पत्रिकाएँ घर-घर तो क्या हर शहर तक भी नहीं पहुँच रही हैं। इस कारण खाली हुआ स्पेस क्या वास्तव में भरा है ?

राजेन्द्र राव : वर्तमान स्थिति में लघु पत्रिकाओं का कोई विकल्प नहीं है। ये भले ही पूरा स्पेस न भर पायें या वृहत्तर हिन्दी भाषा समाज तक न पहुँच पायें परन्तु इस समय रचनात्मकता को प्रश्रय देने का काम यही कर रही हैं। जैसे कि हंस, नया ज्ञानोदय, तद्भव, पहल, वागर्थ, वर्तमान साहित्य व साहित्य अमृत आदि। चूँकि हिन्दी में व्यावसायिक स्तर की पत्रिकाएँ अब उपलब्ध नहीं हैं अतः लघु पत्रिकाओं का महत्व, प्रसार और समर्थन बढ़ता जा रहा है। दिल्ली सरकार की हाल में शुरू की गई आर्थिक सहायता की योजना इसका प्रमाण है।

अमरीक सिंह दीप : राम तत्व और रावण तत्व दोनों ही लेखक के भीतर मौजूद रहते हैं। लेखक के अभ्यंतर में निरन्तर राम-रावण युद्ध चलता रहता है। इसी युद्ध के चलते रामायण जैसी कालजयी रचना का जन्म हुआ। आत्मकथा लिखते समय इन दोनों तत्वों को लेखक को पाठकों के सामने प्रस्तुत करना चाहिए पर ज़्यादातर लेखक/ लेखिकाएँ अपने अन्दर के रावण तत्व को छुपा जाते हैं। ऐसा क्यों है ?

राजेन्द्र राव: संभवतः इसका कारण यह हो कि साहित्य के रूप में किसी की भी जीवन कहानी शाश्वत रूप से लोगों के सामने पूरी किताब की तरह आ जाती है तो लेखक के मन में अपने व्यक्तित्व के मलिन और अंधकारमय पक्ष को चित्रित करने का साहस नहीं जुट पाता। यह और बात है कि इस साहस के अभाव में रचना एक बड़ी कृति बनने से वंचित रह जाती है।

अमरीक सिंह दीप : ज़्यादातर लेखिकाओं ने अपनी आत्मकथाओं में पुरुषों द्वारा अपने पर ढाए गए जुल्मोंसितम का दिल दहलाऊ चित्रण किया है, पर अपने द्वारा पुरुषों पर ढाए जुल्मों का कहीं ज़िक्र तक नहीं किया। क्या सारी लेखिकाएँ देवियाँ हैं और उनके सम्पर्क में आने वाले पुरुष लेखक दानव ?

राजेन्द्र राव: दरअसल हमारे कथा साहित्य में एकांगी चित्रण की बड़ी सुदृढ़ परम्परा है और जो कभी-कभी अतिवाद तक पहुँच जाती है। जो बात आप लेखिकाओं की आत्मकथाओं के सन्दर्भ में उठा रहे हैं वह हू-ब-हू दलित लेखकों की आत्मकथाओं पर भी लागू होती है। यहाँ हम स्थिति पर समग्रतापूर्वक विचार करें तो इसमें संदेह नहीं है कि हमारे समाज में एक युग से दलित और स्त्रियाँ शोषण और उत्पीड़न के शिकार रहे हैं। इसके अपवाद भी हो सकते हैं। यह संभव है कि कुछ स्त्रियों ने पुरुषों का शोषण या उत्पीड़न किया हो या कर रही हों। इसका चित्रण भी साहित्य में होता आया है। खास तौर से उर्दू शायरी तो इन हसीनों के ढाए गए बेपनाह जुल्मोसितम से लबरेज़ है। क्या आप ऐसी ही स्थिति हिन्दी कथा साहित्य में भी चाहते हैं ?

अमरीक सिंह दीप : आपने प्रेमकथाओं पर कई धारावाहिक रचनाएँ दी हैं। ज़ाहिर है प्रेम भी किए ही होंगे। आपकी आत्मकथा बहुत विस्फोटक होगी। कब पाठकों को सौंप रहे हैं इसे ?

राजेन्द्र राव : इस रचनात्मक सुझाव के लिए मैं आपका आभारी हूँ परन्तु फ़िलवक्त मेरा ऐसा कोई इरादा नहीं है। इसका कारण मुझमें पर्याप्त साहस का अभाव हो सकता है।

अमरीक सिंह दीप : क्या हिन्दी कथा साहित्य में पुराने जड़ियल आलोचकों की जयमाला में हमेशा चार-पाँच मनके ही बने रहेंगे ? क्या बाक़ी के सारे हिन्दी कथा लेखक हिन्दी साहित्य में घास खोदने के लिए आए हैं ?

राजेन्द्र राव: हिन्दी में आलोचना की कोई स्वस्थ और विकसित परम्परा नहीं रही है। इसके मूल में यह अवधारणा है कि आलोचना दायम दर्जे का रचनात्मक कर्म है। हिन्दी साहित्य में आलोचकों की भूमिका को अभी वह महत्व और सम्मान नहीं दिया गया जिसके अधिकारी वे स्वयं को समझते हैं। यहाँ तक कि चौर्य कर्म का दर्जा दिया गया। उन्हें हमेशा निन्दक कह कर गरियाया गया, तो बताइये आलोचक इसका बदला लेखक से क्यों न लें ? आप नामवर सिंह जी का उदाहरण ले सकते हैं जिनका हिन्दी जगत में एक अत्यंत

विशिष्ट स्थान है फिर भी उन्हें गाहे-बगाहे अप्रिय विशेषणों से नवाजा जाता है। मौके-बेमौके उनका उपहास उड़ाया जाता रहा है। उनके बारे में बीसियों लतीफ़े सुने जाते रहे हैं। इतनी दीर्घ साहित्य साधना के बाद ऐसा प्रतिफल मिलता है तो आलोचकों से क्या उम्मीद कर सकते हैं आप ?

अमरीक सिंह दीप: क्या हिन्दी साहित्य में भी तस्करों की तर्ज पर लेखकों के माफ़िया गिरोह बनते जा रहे हैं ?

राजेन्द्र राव: जहाँ तक मेरी जानकारी है, गुट और गिरोह हिन्दी साहित्य में आदिकाल से ही रहे हैं और रहेंगे।

गोविन्द : कानपुर आपकी कर्मस्थली रही है। एक लेखक के तौर पर इस शहर के बारे में आप क्या सोचते हैं ? सृजन के लिए यह शहर कितना उर्वर है ?

राजेन्द्र राव : जहाँ तक लेखन और सृजन का प्रश्न है, मेरी दृष्टि में कानपुर एक आदर्श नगर है। यहाँ जीवन के न जाने कितने रूप अपने-अपने अन्तर्विरोधों के साथ स्पष्ट दिखाई देते हैं। यहाँ की संस्कृति में एक विशेष प्रकार की अल्हड़ता और मौज-मस्ती है। भाषा में तीखे तेवर हैं। कहते हैं, कानपुर का पानी कड़ा है। मगर जो इसको हज़म कर जाये, उसे दुनिया का कोई भी शहर अपनी ओर खींच नहीं पाता। महानगर होते हुए भी यहाँ एक दुर्लभ क्रिस्म का सुकून है, शान्ति है

और ठहराव है। कोई भी हारा-थका इंसान इस पेड़ की छांव तले आराम कर सकता है।

गोविन्द: आज आप 'दैनिक जागरण' समाचार-पत्र के साहित्यिक पृष्ठ 'पुनर्नवा' व इसी समूह की इसी नाम की पत्रिका के सम्पादक हैं। एक सम्पादक के रूप में आप अपने लेखकों से क्या अपेक्षा करते हैं ?

राजेन्द्र राव: चूँकि 'दैनिक जागरण' हिन्दी का सबसे बड़ा अखबार है जिसके बाहर राज्यों में सैंतीस संस्करण प्रकाशित होते हैं, इसलिए एक विशाल पाठक वर्ग तक साहित्य पहुँचाने और उनमें रचनात्मकता के प्रति उत्सुकता जागृत करने में 'पुनर्नवा' एक महती भूमिका का निर्वाह कर रहा है। हम लेखकों से यह अपेक्षा करते हैं कि वे रचनाओं में पठनीयता, खासतौर से प्रवाहमयी भाषा का ध्यान दें और हिन्दीभाषी समाज की प्रमुख चिन्ताओं और ज्वलंत समस्याओं पर रचनाओं को केन्द्रित करें जिससे इनका पाठकों से सीधा जुड़ाव हो सके और राष्ट्रीय स्तर पर एक लेखक के रूप में उनकी पहचान बने।

गोविन्द उपाध्याय
जी1 टी/257 अरमापुर इस्टेट,
कानपुर .9
फ़ोन : 0512 2215911

अमरीक सिंह दीप
प्लैट न. 101, गोल्डी अपार्टमेंट,
119/372 बी. दर्शनपुरम
कानपुर 208012

शीघ्र प्रकाश्य
'रचना समय'
के
दो महत्त्वपूर्ण विशेषांक

कविता विशेषांक
अतिथि संपादक : नरेश सक्सेना

कहानी विशेषांक
अतिथि संपादक : परमानंद श्रीवास्तव